Hindi Translation of H. G. Wells' 'A Short History of the World'.

एच० जी० वैल्स-कृत

संसार का संक्षिप्त इतिहास

द्वितीय भाग

जीसस के उपदेश से लेकर संसार के पुनर्निर्माण तक

अनुवादक

मदनगोपाल

बी० ए०, एल्-एल० बी०

संपादक

श्रीनारायण चतुर्वेदी

इलाहाबाद

इंडियन प्रेस लिमिटेड

१९४१

मूल्य ३)

Published by
K. Mittra
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

जो अत्यंत वात्सल्य से 'आदि इतिहास' के अमृतबिंदुओं

को मेरे शैशव-काल ही में हृदयंगम कराकर

देवलोकगामिनी हुईं

उन्हीं

प्रातःस्मरणीया पूज्य माता श्री ६ गोदावरी बाई

की

पुण्य स्मृति

में

यह क्षुद्र कृति अत्यंत श्रद्धापूर्वक अर्पित है

मदनगोपाल

संपादक का निवेदन

इस पुस्तक का प्रथम भाग प्रकाशित हुए कई साल हो गये। उसके अनुवाद में मेरा हाथ था। किंतु समयाभाव से मैं दूसरे भाग में अपने मित्र श्री मदनगोपालजी की कोई विशेष सहायता नहीं कर सका। यह कुल अनुवाद उन्हीं का किया हुआ है और उसका उत्तरदायित्व भी उन्हीं का है। मुझे हर्ष है कि यह अनुवाद इतना सुन्दर हुआ है और इस भाग के साथ श्री जी० एच० वेल्स की यह विश्व-विख्यात पुस्तक हिन्दी पाठकों को अपनी मातृभाषा में सुलभ हो गई है। इस पुस्तक में मैं अपना कथन प्रथम भाग की भूमिका में कह चुका हूँ।

श्रीनारायण चतुर्वेदी

प्राक्कथन

ईस्वी सन् १९३५ में इस पुस्तक का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। आज दूसरा भाग पाठकों की सेवा में उपस्थित है, और इसके साथ ही लगभग १२ वर्ष पूर्व सुसलिला भागीरथी के तट पर मागावती में प्रारम्भ किया हुआ सत्र समाप्त होता है।

प्रकाशित होने के लगभग ५ वर्ष बाद श्री एच० जी० वैल्स-कृत इस पुस्तक की अँगरेज़ी प्रति सन् १९२७ में स्थानीय म्युनिसिपल लाइब्रेरी में मँगाई गई। उसी समय मैंने इसको पढ़ा। वैल्स महोदय संसार के ख्यातनामा लेखक हैं और साहित्य-जगत् में वैज्ञानिक लेखक के नाते उनका विशेष स्थान है। उनकी यह पुस्तक यूरोप और अमेरिका में मान की दृष्टि से देखी जाती है और इसके अनेकों संस्करण भी छप चुके हैं।

इतिहास भी एक विज्ञान है और इसका विषय—मानव-समाज—अत्यन्त दुरूह है। पृथ्वी के निर्माण-काल से लेकर आज तक किस प्रकार स्थावर-जङ्गम सृष्टि का विकास एवं उन्नति हुई और किस प्रकार मानव-जाति ने धर्म, संस्कृति एवं विज्ञान में क्रमशः उन्नति कर वर्तमान अवस्था प्राप्त की, इसका ऐसी छोटी सी पुस्तक में अत्यन्त स्पष्ट रूप से वर्णन करना वैल्स-सरीखे साहित्यिक कलाकारों का ही काम है। एक तो अँगरेज़ी न जाननेवाले हिन्दी-भाषा-भाषी मूल-काव्येतिहास के रसास्वादन से वञ्चित हैं; दूसरे हिन्दी में इतिहास-ग्रन्थों की बड़ी कमी है। पिछले कुछ वर्षों में इस विषय पर कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें अवश्य लिखी गई हैं, परन्तु वह अँगुलियों पर गिनी जा सकती हैं। और वह भी केवल भारत-सम्बन्धी ही हैं। विदेश के सम्बन्ध में हमारी भाषा का एत-द्विषयक भण्डार ख़ाली है। इन्हीं कतिपय कारणों से प्रेरित होकर मैंने इसके अनुवाद का प्रयत्न किया था।

अनुवाद-कार्य सरल नहीं है। अपनी शैली को निभाते हुए विदेशीय भावों को स्वकीय भाषा में प्रतिबिम्बित करना कष्ट-साध्य है; फिर परिमार्जित, सरल-पदयुक्त, ओज-स्विनी और क्षण-क्षण में विलक्षण अर्थ उत्पन्न करनेवाली वैल्स महोदय की रहस्यमयी काव्य-भाषा का अनुवाद करना अत्यन्त ही दुःसाध्य प्रतीत हुआ। यहाँ हमारा ध्येय यह रहा है कि पाठान्तर शुद्ध हो; भाषा बामुहाविरा हो; और मूल पुस्तक का ओज यथासंभव सुरक्षित रहे। मार्ग में अड़चनें भी थोड़ी न थीं। कार्य की गुरुता, समय और उचित वातावरण का अभाव और हिन्दी में वैज्ञानिक कोष की कमी, प्रधान बाधाएँ थीं।

सौभाग्य से हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने अपना अमूल्य समय देकर अत्यन्त परिश्रम-पूर्वक अपरिमित संशोधन कर ग्रंथ का मानो काया-पलट ही कर दिया और जिसका फल प्रथम भाग के रूप में पाठकों के सामने कई वर्षों से है। उन्हीं के अनुग्रह एवं प्रयत्न से यह अनुवाद-ग्रंथ उत्तरीय भारत के सर्वोत्तम प्रेस से छपकर प्रकाशित हो सका। मित्रवर पं० रघुनाथ चिन्तामणि चतुर्वेदी बी० एस-सी०, एल्-एल० बी० महोदय ने इस भाग की आद्यन्त पाठान्तर-शुद्धि में अथक परिश्रम किया है अतः मैं उनका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। चतुर्वेदी-युगल के इस अनासक्ति-योग के कारण ही यह अनुवाद अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर सका है। बन्धुवर श्री कुञ्जविहारीलाल सेठ, आई० सी० एस०, रेवेन्यू सेक्रेटरी, सी० पी० गवर्नमेन्ट के अदम्य उद्योग के फलस्वरूप महान् लेखक ने भाषान्तर करने की आज्ञा बड़ी उदारता के साथ दी। सुदूर मदरास की तामिल भाषा को छोड़कर किसी अन्य भारतीय भाषा में इसके अनुवाद की आज्ञा अब तक नहीं मिली है। पुस्तक के प्रारम्भ में दिया हुआ श्री वैल्स का चित्र भी श्री सेठजी की कृपा से प्राप्त हुआ है। अपना अमूल्य समय देकर वह इतने प्रयत्नशील न होते तो यह अनुवाद शायद सन्दूक में ही बन्द रहता। मातृ-भाषा इस प्रयत्न के लिए उनको सदा आशीष देगी।

मुरादाबाद (गुजराती मुहल्ला),
श्रावण शुक्ला, द्वितीया,
संवत् १९९६।

मदनगोपाल

विषय-सूची

जीसस के उपदेश

ऑगस्टस सीज़र नामक प्रथम सम्राट् जिस समय रोम में शासन कर रहा था उसी समय क्रिश्चियन-धर्म के मसीहा (त्राता) जीसस ने जूडिया में जन्म लिया। इस पुरुष के नाम से ऐसे महान् धर्म का अभ्युदय हुआ जो कालान्तर में समस्त रोमन साम्राज्य का राजधर्म हो गया।

इतिहास और धर्म को एक दूसरे से पृथक् रखने में प्रायः विशेष सुविधा होती है। बहुसंख्यक ईसाई-जगत् की यह धारणा है कि प्राचीन यहूदी-समाज जिस जगत्पति की उपासना करता था जीसस उसी के अवतार हैं। इतिहास-लेखक (यदि अपना धर्म सम्यक् रूप से पालन करना चाहे तो) इस व्याख्या को न तो स्वीकार ही कर सकता है और न अस्वीकार। मानवरूप से आविर्भूत होने के कारण, जीसस को मनुष्यत्व के दृष्टिकोण से देखना ही इतिहासकार के लिए अधिक उचित है।

टाइबीरियस सीज़र के राज-काल में वे जूडिया में प्रकट हुए। वे पैग़म्बर या ईश्वरीय दूत थे और अपने पूर्वज यहूदी पैग़म्बरों की भाँति धर्मोपदेश देते थे। उस समय उनकी अवस्था लगभग तीस वर्ष की होगी। हमको इस बात की कुछ भी जानकारी नहीं है कि इससे पहिले उन्होंने किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत किया था।

जीसस के जीवन तथा उपदेशों से परिचय प्राप्त करने के प्रधान साधन इस समय केवल चार सुसमाचार हैं, और चारों एक ही भाँति से व्यक्ति-विशेष के चित्र को चित्रित करते हैं। इसी से विवश होकर कहना पड़ता है कि यही वह व्यक्ति थे और इनका मनुष्य की कल्पनामात्र होना असम्भव है। अथवा यह मनुष्य की कल्पना नहीं हो सकते।

जिस प्रकार पश्चात्-कालीन बौद्ध-अनुयायियों ने ध्यानासीन बुद्धदेव की सुन्दर परन्तु अनैसर्गिक और मिथ्या मूर्त्ति बना बुद्ध के व्यक्तित्व को सत्य से कितनी दूर ले जाकर लुका-छिपा-सा दिया है ठीक उसी प्रकार आधुनिक क्रिश्चियन-कला ने भी आधार-

सैन पॉलपादों और मिथ्या भावुकों ने नष्ट तो कीं परन्तु उदारशील जीसस की देह के साथ घोर अन्याय किया है। शिक्षक जीसस के पास तो एक पैसा भी न था; प्रचण्ड मार्तण्ड के ताप से तापित धूल भरे जूडिया प्रदेश में वे पैदल यात्रा करते थे और याचना किये बिना ही यत्किञ्चित् भिक्षा से उनकी उदर-पूर्ति होती थी। तो भी न मालूम लोग किस कारण उनको चित्रों में साफ़-सुथरे, केशपाश-युक्त, स्वच्छ वस्त्राच्छादित, उज्जल तथा कोमल देहधारी के रूप में प्रदर्शित करते हैं। इन चित्रों में उनकी ऐसी स्थिर मंजा निदर्शित की जाती है कि मानों वह पृथ्वी पर न चलकर वायुमण्डल ही में उड़ते रहे हों। इन्हीं हेतुओं से सत्य कथा को निर्बुद्धि भक्तों के अलंकारयुक्त एवं मूर्खतापूर्ण क्षेपकों से पृथक् न कर सकने के कारण, बहुत से पुरुष न तो उनके अस्तित्व को मानते हैं और न उन पर विश्वास करते हैं।

दुरूह-क्षेपकों के व्यवधान को पृथक् कर देने पर हमारे सम्मुख एक ऐसे अत्यन्त दयावान्, कर्मशील, क्रोध-शून्य और भावुक व्यक्ति की मूर्त्ति रह जाती है जो नवीन एवं गम्भीर सिद्धान्त का—समस्त ब्रह्माण्ड के परमपिता परमेश्वर के प्रेममय होने और धरातल पर भविष्य में स्वर्गीय राज्य की स्थापना के सन्देश का—सरल उपदेश देता था। स्पष्टतया इस पुरुष में चित्तों को अपनी ओर खींचने की (साधारण पुरुषों की व्यवहृत भाषानुसार) अत्यन्त तीव्र वैयक्तिक आकर्षण-शक्ति थी। अनुयायी समुदाय इनकी ओर आकृष्ट होकर प्रेम तथा उत्साह से पूरित हो जाता था। निर्बल तथा पीड़ित इनकी उपस्थिति से उत्साहित होते और आरोग्य लाभ करते थे। परन्तु इनका शरीर, सम्भवतया सुकुमार था, अन्यथा क्रूस (शूली) के कष्टों से इनका इतना शीघ्र प्राणान्त न हो जाता। एक दन्त-कथा तो यह है कि तत्कालीन प्रथानुसार* वधस्थल तक क्रूस वहनभार के कारण ही वे मूर्च्छित हो गये थे। तीन वर्ष पर्यन्त समस्त देश में भ्रमण द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के पश्चात् जब वे जेरुसलेम में आये तो उन पर जूडिया में अद्भुत राज्य-स्थापन के प्रयत्न का दोषारोपण किया गया। इसी आरोप पर उनके विरुद्ध अभियोग चला और अन्य दो दस्युओं के साथ उनको †क्रूस पर चढ़ा दिया गया। परन्तु उन दो पुरुषों के प्राणान्त होने से बहुत पूर्व ही यीशू के दुःखों का अन्त हो गया था।

---

* यह प्रथा शायद प्राचीन भारत में थी। मृच्छकटिक नाटक में चारुदत्त का इसी प्रकार शूली ले जाना वर्णित है। यह नाटक ई० पू० प्रथम शताब्दी में लिखा बताया जाता है।

† '†' इस रूप की बनी टिकठी पर व्यक्ति के हाथ-पैर में कीलें ठोक कर टाँगने को क्रूस पर चढ़ाना कहते हैं। '†' इस रूप की टिकठी का नाम क्रूस या Cross था।

स्वर्गीय राज्य-विषयक—जीसस का प्रधान उपदेश मानवीय विचार जगत में अभूतपूर्व परिवर्तन करनेवाला एक अत्यन्त ही क्रान्तिकारी सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में तत्कालीन संसार इस (सिद्धान्त) के आशय को भली भांति न समझने के कारण निराश एवं आशंकित हो इस भय से कि इसके द्वारा परम्परागत मानवीय संस्थाओं, रूढ़ियों और आचारों को भयानक ठेस पहुँचेगी, संकुचित हो सहम गया तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है, कारण यह (और हमको ऐसा प्रतीत भी होता है) कि जीसस ने जिस



शीशे पर बना हुआ यीशू-मसीह का प्रारम्भिक चित्र

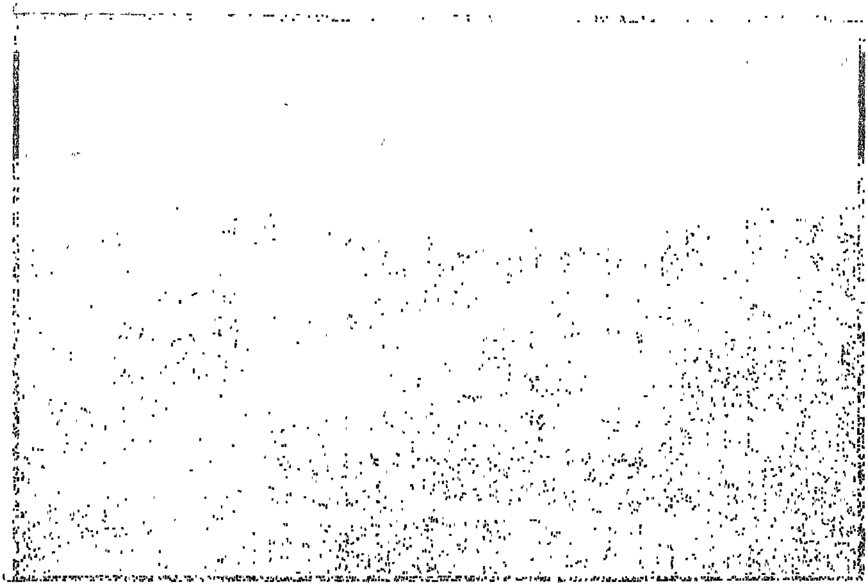
स्वर्गीय राज्य का उपदेश दिया था वह कोरा सन्देश न था, वरन् दुःखित मनुष्य-जाति के जीवन की सर्वथा शुद्धि और बाह्यान्तर की नितान्त निर्मलता के समर्थन में घोर क्रांतिकारक गम्भीर शब्दमय युद्धाह्वान था। (तुमुल युद्धारम्भ का रणभेरी वादन था)। उस महान् एवं गम्भीर उपदेशाऽवशेष के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए पाठकों को 'गौस्पल' (सुसमाचार) की शरण लेनी चाहिए।

यहूदियों का विश्वास था कि जगदीश्वर समस्त संसार का एक नियन्ता-न्यायकारी (देवता) है परन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने उसको व्यापारी अथवा दूकानदार भी समझ

रक्खा था। उनकी धारणा थी कि हमारे पूर्वज पैगंबर (इब्राहीम) के साथ उस (ईश) का ठहराव हो गया है ऐसा कि उसके द्वारा उन्हीं लोगों का हित-साधन होता था। इस समझौते के अनुसार संसार में तज्जातीय पुरुषों ही को महत्ता प्राप्त होती थी। अपने इन विशेषाधिकारों पर जीसस द्वारा प्रहार होते देख उनके हृदय निराशा और क्रोध से भर गये। जीसस ने समझाया कि परमेश्वर सौदा-समझौता नहीं करता; स्वर्गीय राज्य में न तो कोई चहेती जाति है और न किसी को कोई विशेषाधिकार प्राप्त हैं। सूर्य की भाँति परमात्मा भी किसी व्यक्ति-विशेष पर अनुग्रह नहीं करते। उनको समस्त जीवों से एक-सा ही स्नेह है। संसार के समस्त मनुष्य स्वर्गीय पिता के प्यारे और एक दूसरे के भाई हैं, पुण्यात्मा हों या पापात्मा। स्वजातियों का यश-गायन तथा अन्य धर्मावलम्बियों को सदाचारी होने पर भी हेय या तुच्छ समझना मनुष्यों का नैसर्गिक स्वभाव है, परन्तु अच्छे सैमेरिटन की दृष्टान्त-कथा में जीसस ने इसकी घोर निन्दा की है और श्रमिकों की दृष्टान्त-कथा में यहूदियों के इस दावे की धज्जियाँ उड़ाई हैं कि उनके ही समाज का परमात्मा पर विशेषाधिकार है। उन्होंने समझाया कि स्वर्गीय राज्य में प्रवेश करने पर परमात्मा प्रत्येक पुरुष की समान-रूप से रक्षा करता है उसके बर्त्ताव में भेद-भाव नहीं है क्योंकि उसकी उदारता अनन्त एवं अपरिमित है। इसके अतिरिक्त जैसा कि गड़े हुए तोड़े की कथा में हमको प्रत्यक्ष दीखता है और 'विधवा की तुच्छ भेंट' इत्यादि कथाएँ हमको मानने के लिए विवश करती हैं, वे प्रत्येक व्यक्ति से यथाशक्य सम्पूर्ण त्याग की जिज्ञासा करते थे। स्वर्गीय राज्य में न तो विशेषाधिकार हैं, न रियायत की जाती है और न बहाने चलते हैं।

यहूदियों के घोर वर्गीय पक्षपात की जीसस ने केवल निन्दा ही नहीं की वरन् उन्होंने तो कुटुम्ब के प्रति अनन्य-भक्ति प्रदर्शित करनेवाली उस जाति के संकीर्ण एवं परिमित कौटुम्बिक मिथ्या गौरव को उखाड़कर स्वकीय ईश्वर-प्रेम की बहिया में बहा दिया। उनके अनुयायियों के लिए समस्त स्वर्गीय राज्य ही कुटुम्ब होना चाहिए था। हमको बताया गया है कि एक समय वे लोगों को उपदेश दे रहे थे कि उनके माता और भाई उनसे वार्त्तालाप करने की इच्छा से बाहर आ खड़े हो गये। इतने में किसी ने उनसे कहा कि आपकी माता और आपके भाई आप से बात करने की नीयत से बाहर खड़े हैं परन्तु उन्होंने संवाद-दाता से यह प्रश्न किया कि मेरी माता कौन है? और मेरा भाई कौन है? और स्वयं ही अपने शिष्यों की ओर हाथ फैलाकर उत्तर दिया कि देखो, मेरी माता को और मेरे भाइयों को; क्योंकि जो कोई मेरे स्वर्गीय पिता की आज्ञा का पालन करेगा वही मेरा भाई है, वही मेरी बहिन है और वही मेरी माता है।

ईश्वर ही विश्व का विधाता है और सब मनुष्य एक दूसरे के भाई हैं, इन उपदेशों के द्वारा जीसस ने न केवल देश-प्रेम तथा कौटुम्बिक बन्धनों ही की जड़ पर प्रहार किया, अपितु आर्थिक अवस्था-जनित श्रेणि-विभाग, समस्त-वैयक्तिक-सम्पत्ति और विशेषाधिकारों को भी अपने स्पष्ट उपदेशों द्वारा खूब ही धिक्कारा था। समस्त मानव-समाज उक्त राज्य की प्रजा है, उसकी सम्पदा राज्य की मिलकियत है और सम्पूर्ण तन, मन, धन में ईश्वर के आज्ञा-पालन का नाम ही सदाचारमय, जीवन शुद्ध-जीवन है। वैयक्तिक सम्पदा और सञ्चय तथा विशेषाधिकारों की तो उन्होंने बारम्बार निन्दा की है।



नज़ारेथ से तिबरियास की सड़क

एक बार वे कहीं जा रहे थे कि राह में उनको कोई मिल गया और वन्दना कर पूछने लगा कि "अच्छे शिक्षक यह तो बताओ कि मैं किस कार्य से अमर हो सकता हूँ ?" इस पर उन्होंने कहा कि तुम मुझको अच्छा क्यों कहते हो ? अच्छा तो केवल एक ईश्वर ही है। पर-नारी में आसक्ति न करो, वध न करो, चोरी मत करो, मिथ्या साक्षी मत दो, धोखा न दो, और अपने माता-पिता का सम्मान करो। इन उपदेशों को क्या तुम जानते हो ? उसने जब उन्हें यह उत्तर दिया कि मैं युवावस्था से ही इन सबका पूर्णतया पालन

कर रहा हूँ तो जीसस ने उसकी ओर प्रेममयी दृष्टि से देखकर कहा कि तुम में अभी एक न्यूनता और शेष रह गई है। जाओ, अपना सर्वस्व बेचकर निर्धनों को बाँट दो, तुमको स्वर्गीय निधि मिलेगी। 'आओ क्रूस धारणकर मेरे अनुयायी हो जाओ'; यह सुनकर वह दुःखित हो वहाँ से चल दिया क्योंकि उसके पास बहुत अधिक सम्पदा थी।

"और जीसस ने चारों ओर देखकर अपने शिष्यों से कहा; "जिनके पास सम्पदा है उन पुरुषों को ईश्वर के राज्य में पदार्पण करते समय कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।" उनकी यह बात सुनकर शिष्य-समुदाय अचम्भे में आ गया। परन्तु जीसस ने उनको फिर समझा कर यों कहा—"बालको! सम्पदा में विश्वास करनेवाले पुरुषों का ईश्वर के राज्य में प्रवेश होना बड़ा कठिन है"। "एक ऊँट का सूई के नकुए में प्रवेश होना, धनिकों के ईश्वर-राज्य में प्रवेश करने से कहीं अधिक सुगम है*।"



डेविड का टावर और जेरुसलेम की दीवार

इसके अतिरिक्त इस राज्य-विषयक अद्भुत भविष्य-वाणी करते समय जो सम्पूर्ण मानव-समाज को समान रूप से ईश्वर से मिलानेवाला था, जीसस कर्मकाण्डीय धर्म सदाचार को जो न्याय और सत्य को सौदे की वस्तु समझता था बहुत ही अधीर हो गये थे। उनके उपदेशों का अधिक भाग जो लेख-बद्ध है, पवित्र जीवन-विधान के अन्ध अनुसरण के विरोध में था। तब फैरीसीज़ (यहूदियों का कर्मकाण्डी पन्थ) और धर्माचार्यों (स्क्राइब) ने उनसे पूछा—आपका शिष्य-समुदाय प्राचीन परिपाटी पर क्यों नहीं चलता? वरन् बिना हाथ धोये ही रोटी खाता है। इसका उन्होंने (उनको) यह उत्तर दिया—तुम पाखण्डियों के लिए एसाइयास ने ठीक ही भविष्यवाणी की है, क्योंकि वे लिख गये हैं कि:—

* मार्क १० (१७—२५)।

"यह लोग मुख से मेरी प्रशंसा करते हैं।
परन्तु इनका हृदय मुझसे बहुत दूर है।"
"फिर यह मेरी पूजा भी वृथा करते हैं।
मेरे सिद्धान्तों के स्थान में मनुष्यों के आदेशों का पालन करते हैं"।

ईश्वरीय आदेशों को एक ओर धर कर पुरुषों की चलाई हुई परम्परा पर चलना तुम लोग ठीक समझते हो और प्याले धोने से बर्तन साफ़ करने आदि ऐसे ही (निरर्थक) कार्यों में सदा लगे रहते हो और उन्होंने उनसे यह भी कहा—तुम अपनी परम्परा प्रचलित रखने की नीयत से ईश्वरीय आदेशों का त्याग करते हो*।"

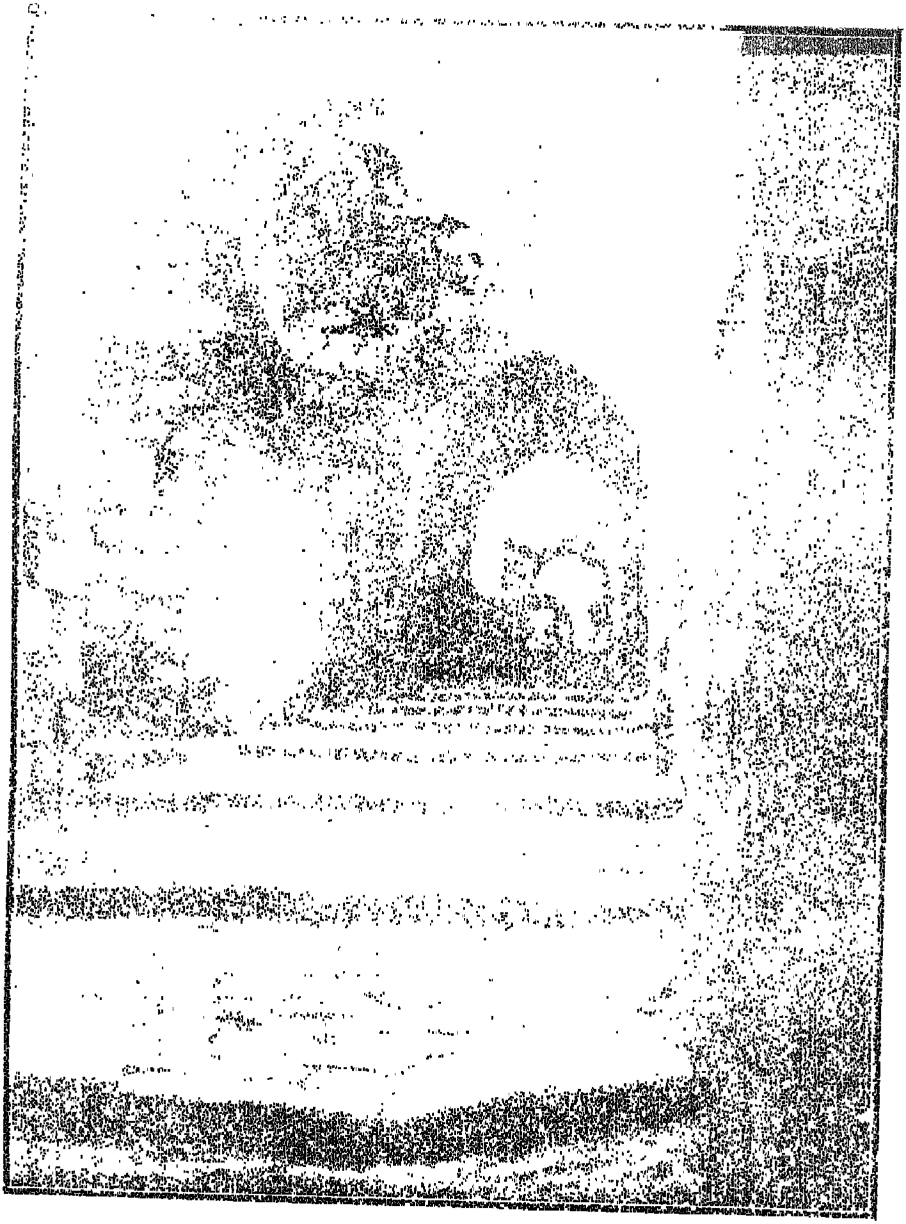
जीसस ने केवल सामाजिक और नैतिक-क्रान्ति ही की घोषणा नहीं की अपितु उनके उपदेश में अत्यन्त स्पष्ट राजनैतिक झुकाव भी दृष्टिगोचर होता है। इस कथन की पुष्टि में बीसियों अवतरण, उनकी शिक्षा ही से दिये जा सकते हैं। यह ठीक है कि वे अपना राज्य-इहलौकिक न बताते थे और कहते थे कि वह राज-सिंहासनासीन न होकर मनुष्यों के अन्त-स्तल में है। परन्तु इससे यह बात भले प्रकार सिद्ध हो जाती है कि जहाँ जहाँ और जितनी अधिकता से मनुष्य-हृदयों में उनके राज्य की स्थापना होगी, उसी परिमाण में बाह्य संसार में भी क्रान्ति होगी और नूतनत्व आयेगा।

बहुत सम्भव है कि श्रोताओं ने अपनी बधिरता तथा अन्धेपन के कारण उनके उपदेशों के अन्य भाग न सुने हों, परन्तु संसार में क्रान्ति उत्पन्न करनेवाला दृढ़-निश्चय तो उनके हृदयङ्गम हुए बिना न रहा होगा। उनके विरोधियों की सम्पूर्ण गति और अभियोग चलाने तथा प्राण-दण्ड देने के तरीक़े ही से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सम-सामयिक भी यह समझते थे कि वह वास्तव में समस्त संकुचित मानव-जीवन को गला और परिवर्तित कर एक बृहत् एवं विशद जीवन स्थापित किया चाहते थे।

जीसस के इस प्रकार स्पष्टतया कहने पर यदि समस्त धनाढ्य और समृद्धि-शालियों के हृदयों में अद्भुत भय के भावों का सञ्चार हो गया और उनको अपना संसार हाथ से निकलता हुआ देख पड़ा तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? लोगों के सामाजिक-सेवा विषयक क्षुद्र संरक्षणों को वे बलपूर्वक छीनकर, सार्वलौकिक धर्म के प्रकाश में लाकर रख रहे थे। वे एक भयंकर धार्मिक शिकारी की भाँति मनुष्य जाति को (उनके) परम्परागत बिलों से जिसमें वह आज पर्यन्त सुख से रहती चली आई थी, निकाल बाहर कर रहे थे। उनके राज्य की प्रवेश शुल्क में प्रेम के अतिरिक्त कोई दूसरा न थी

---

* मार्क ७ (५—९)।



जेरुसलेम की एक सड़क

कोई विशेषाधिकार न थे। न दर्प था, न असमानता थी, न कोई हेतु वा प्रयोजन था और न कोई पुरस्कार। फिर यदि मानव-समाज इन उपदेशों की ज्योति से चौंधियाकर अन्धा हो उनके विरुद्ध हो गया तो आश्चर्य क्या है? शिष्यों को क्षमा न कर जब वह इस प्रकाश में खींचते थे तो वह भी इस ज्योति से घबराकर चिल्ला उठते थे (फिर औरों की तो कथा ही क्या है)।

फिर पुरोहितों को अपने और जीसस के विरोध में यह प्रतीत होने लगा कि अब हमारी पुरोहिताई और इस पुरुष के झगड़े में एक का नाश अवश्य होगा, दोनों जीवित नहीं रह सकते तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है? फिर यदि रोमन सैनिकों ने ज्ञानातीत, अद्भुत एवं अपनी सामाजिक-व्यवस्था को अव्यवस्थित करनेवाले उपदेशों को सुनकर जङ्गलियों की भाँति अट्टहास कर अपने चित्त को ढाढस दी और उनको लाल कपड़े पहिना उनके शिर पर काँटों का ताज रखकर सीज़र का स्वाँग भरा तो अचरज की कौन बात है? जीसस के उपदेशों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से तो अद्भुत एवं भयङ्कर रीति से जीवन बिताना पड़ता, पुराने स्वभाव को छोड़ना होता, इन्द्रियों तथा मन को वश में करने की आवश्यकता होती और अनन्त सुख तथा ऐश्वर्य तक को तिलाञ्जलि देनी पड़ती . ...।

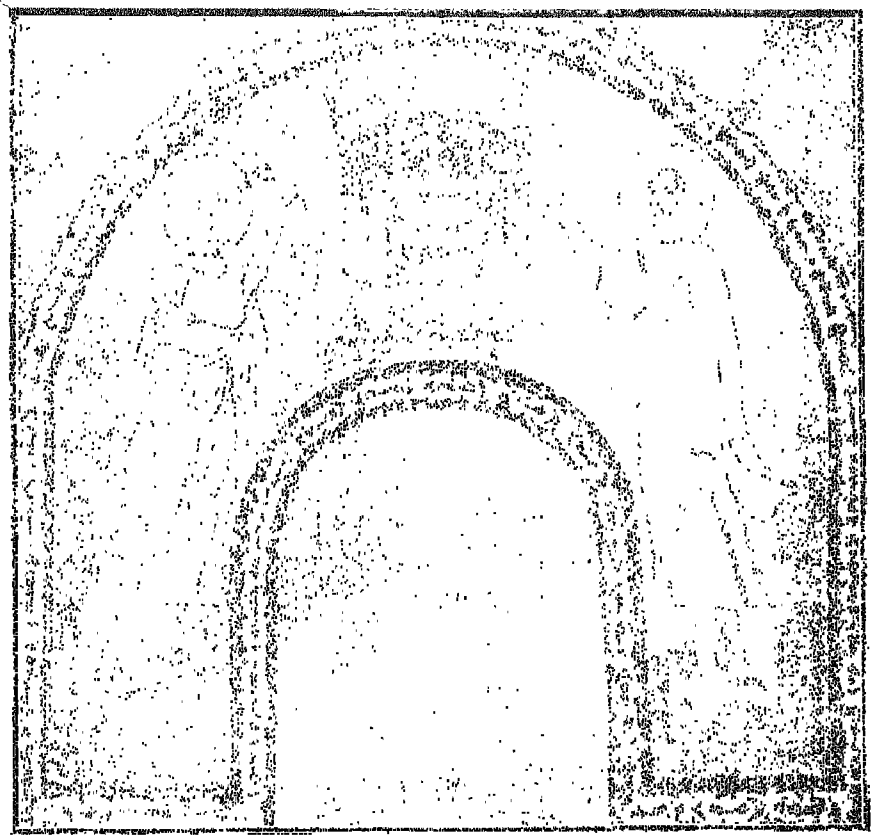
ईसाई-धर्म के सिद्धान्तों का विकास

चारों गॉस्पल्स (सुसमाचारों) में जीसस का वृत्तान्त और उपदेश लिखे हुए हैं। ईसाई-धर्म के नियमों की चर्चा उनमें बहुत ही कम है—नहीं के बराबर है। ऐपिसिल्स (क्रिश्चियन धर्म के लेख) नामक पुस्तकों में जिनको जीसस के तत्कालीन अनुयायियों ने लिखा है क्रिश्चियन-धर्म के नियम विशद रूप में दिये हुए मिलते हैं।

क्रिश्चियन-धर्मीय सिद्धान्तों के प्रणेताओं में सेंटपॉल मुख्य था। उसने न तो जीसस को देखा था और न उनका उपदेश सुना था। पॉल का नाम पहिले सॉल था। उसने, उस समय (अर्थात्) जीसस के क्रूस पर चढ़ाये जाने के उपरान्त, उनके अल्प शिष्य-समुदाय के प्रति अत्यन्त क्रूरता का व्यवहार करने में ख़ूब प्रसिद्धि प्राप्त की थी। तत्पश्चात् सहसा क्रिश्चियन-धर्म में दीक्षा ले उसने अपना नाम बदल कर पॉल रख लिया। वह बड़ा कुशाग्र बुद्धि था और तत्कालीन मत-मतान्तरों में बड़ी गहरी दिलचस्पी लेता था। यहूदी-धर्म, मिस्र-धर्म और एलेक्ज़ेंड्रिया के धर्म का प्रकाण्ड पंडित होने के कारण उसने तद्धर्मीय अनेक विचार एवं व्यवहृत-शब्दावली तक क्रिश्चियन-धर्म में मिला दी है। जीसस के वास्तविक उपदेश को स्वर्गीय राज्य के सन्देश को तो उसने तनिक सा भी विस्तृत नहीं किया, कुछ भी विशद नहीं बनाया—परन्तु लोगों को यह शिक्षा दी कि जीसस न केवल प्रतिज्ञित मसीहा, यहूदियों के प्रतिज्ञित नेता थे वरन उनकी मृत्यु भी आदिम-सभ्यता के पुराण-कालीन पशुबलि की भाँति मनुष्य मात्र के उद्धार के निमित्त थी।

अनेक धर्म जब एक ही समय प्रचलित होते हैं तो एक के धार्मिक कृत्य तथा बाह्य विशेषताएँ बहुधा दूसरे के कर्मकाण्डों में मिल जाती हैं। उदाहरणार्थ चीन ही को देखिये, वहाँ पर वर्तमान-कालीन बौद्ध-मन्दिर पुजारी और तद्धर्मीय कृत्य ला-ओ-त्सि की शिक्षा माननेवाले 'ता-ओ' धर्म के समान हैं; परन्तु प्राचीनकाल में इन दोनों धर्मों की मूल-शिक्षा एक दूसरे से सर्वथा प्रतिकूल प्रायः थी। तब फिर एलेक्ज़ेंड्रिया के धर्म और मिस्र-पन्थ के,

न केवल घुटे शिर वाले पुजारी और भक्तों की भेंट, सिंहासन और मोमबत्ती स्तुति और प्रतिमा, प्रत्युत भक्तिमय पदावली, (सूक्त) और दार्शनिक विचार भी, यदि क्रिश्चियन धर्म में खपकर उसका अंग बन गये तो हमारे (क्रिश्चियन) धर्म के मूल तत्त्वों की, इन सबके



सेंट पिटर और सेंट पाल की पच्चीकारी की सुनहली मूर्ति। ये दोनों एक सिंहासन की ओर इशारा कर रहे हैं।

इस प्रकार संमिश्रण से कुछ भी हीनता प्रकट नहीं होती! और न किसी सन्देह की गुंजाइश है। इन धर्मों के अतिरिक्त और भी बहुत से छोटे छोटे पन्थ उस समय प्रचलित थे, और

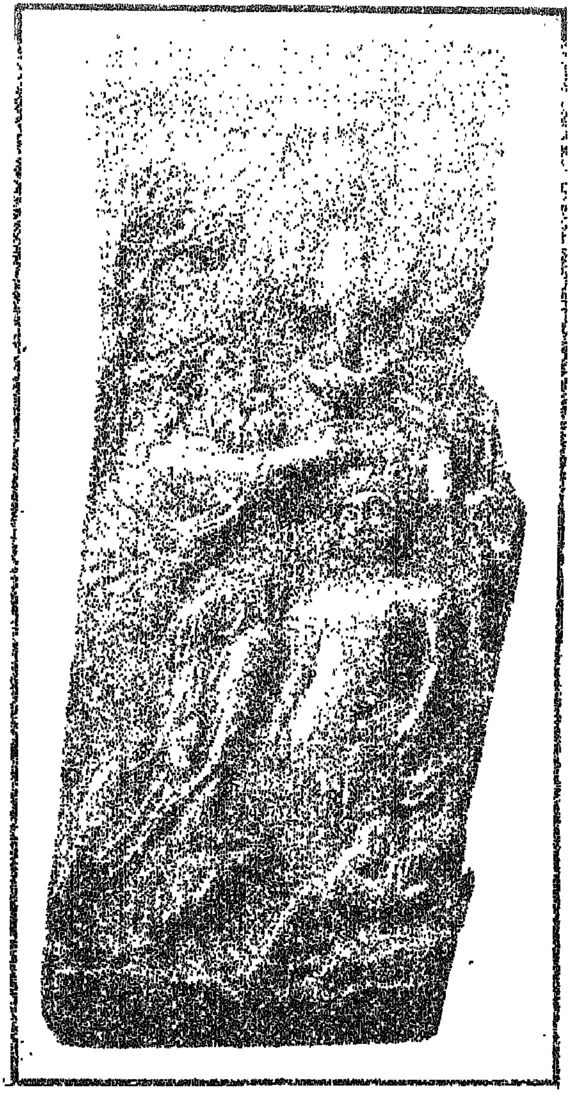
प्रत्येक अपने ही अनुयायियों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करता था। लोग उस समय अवश्य ही बड़ी शीघ्रता से धर्म परिवर्त्तन करते होंगे; गवर्नमेण्ट भी कभी किसी धर्म को अच्छा समझती होगी और कभी किसी को। क्रिश्चियन धर्म अपने अन्य विरोधी धर्मों की अपेक्षा कहीं अधिक सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था क्योंकि यहूदियों की भाँति, क्रिश्चियन धर्मानुयायी ईश्वर-रूप सीज़र की पूजा करना अस्वीकार करते थे।

जीसस के क्रान्तिकारी उपदेशों के अतिरिक्त, उपरोक्त हेतु से भी यह धर्म राजद्रोहात्मक समझा जाता था।

सन्त पाल ने अपने शिष्यों में यह विचार प्रचलित कर दिया था कि देव, ओसाइरिस की भाँति, जीसस भी मृत्यूपरान्त पुनः उठकर मनुष्यों को अमरत्व प्रदान करेंगे। फिर फूलते फलते क्रिश्चियन धर्म की सांघिक शक्ति प्रभु जीसस, और मानवीय जगत्पिता परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध निर्णयात्मक, दुरूह धार्मिक शास्त्रार्थों के कारण छिन्न-भिन्न होने लगी। एरियन (नामक पन्थ) की यह शिक्षा थी कि जीसस ईश्वरीय अंश तो था परन्तु वह परम पिता से पृथक् था और उससे न्यून था।

सैबिलियन (नामक पन्थ) का यह उपदेश था कि जीसस (परम) पिता का एक रूप था। जैसे कोई पुरुष 'पिता' होकर भी कारीगर हो सकता है उसी प्रकार ईश्वर एक ही समय में मसीहा और जगत्पिता है। त्रि-मूर्तिवादी इससे भी क्लिष्ट सिद्धान्त का उपदेश देते थे। उनके अनुसार ईश्वर एक होकर भी, पिता, पुत्र और पवित्रात्मा के रूप में त्रयात्मक है। कुछ समय तक तो ऐसा ज्ञात होता था कि एरियन के सिद्धान्त बिरोधियों पर विजयी होते रहेंगे; परन्तु बहुत झगड़े-टण्टे तथा युद्धों के उपरान्त त्रिमूर्तिवादियों के सिद्धान्त समस्त क्रिश्चियन-संसार में सर्वसम्मति से माननीय ठहराये गये। यह सिद्धान्त पूर्णतया बिकसित रूप में ऐथनेसियन पन्थ में विद्यमान हैं।

यहाँ पर हमारा तात्पर्य इन वाद-विवादों की विवेचना करने का नहीं है। यह वाद-बिवाद जीसस के उपदेशों के समान, संसार के इतिहास की गति को शासित न कर सके। जीसस के वैयक्तिक उपदेशों के कारण हमारी जाति के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में एक नवीन जीवन का आरम्भ हो गया। इस धर्म का दृढ़तापूर्वक यह कहना कि ईश्वर जगत्पिता है और सब मनुष्य निर्विवाद रूप से एक दूसरे के भाई हैं; और इस दृढ़ोक्ति का कि प्रत्येक मनुष्य का शरीर परम पवित्र है और जीते-जागते ईश्वरीय मन्दिर के समान है, मानव-जाति के भावी सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा था। क्रिश्चियन धर्म एवं जीसस की शिक्षा का प्रचार होने पर, संसार के मनुष्यों में एक दूसरे के प्रति नवीन प्रकार से सम्मान भाव जाग्रत होने लगा।



ईशुमसीह की ईसाई मत की दीक्षा

कुछ विरोधी समालोचकों का यह आक्षेप है कि सन्त पाल ने दासों को स्वामिभक्त होने और आज्ञा पालन करने का उपदेश दिया है, बहुत सम्भव है कि यह सत्य हो परन्तु हमको यह कदापि न भूलना चाहिए कि गॉस्पल्स (सुसमाचारों) में सुरक्षित जीसस के उपदेश इस बात का घोर विरोध करते हैं कि एक मनुष्य दूसरे को अपने अधीन बनाये रखे। और रंगमंच पर 'ग्लेडियेटर' (योद्धाओं के) द्वंद्व युद्ध करने, मनुष्य नामों को कलंकित करने तथा मर्य्यादा-भंग करनेवाले इसी प्रकार के अन्य कार्यों का तो क्रिश्चियन पन्थ अत्यन्त स्पष्टतया विरोधी था।

रोम साम्राज्य में ईसा के जन्मोपरान्त दो शताब्दी पर्यन्त क्रिश्चियनपन्थ निरन्तर फैलता रहा। नव धर्म में दीक्षित होनेवाला यह जन-समुदाय बालचन्द्रवत् वृद्धि पाकर नवीन संकल्प तथा दृढ़ विचारोंवाली एक नवीन जाति का निर्माण कर रहा था। सम्राट्गण, कभी इस धर्म के विरोधी हो जाते थे, कभी सहिष्णुता का वर्ताव करने लगते थे। ईसा की दूसरी तथा तीसरी शताब्दी में इस नवीन धर्म को कुचल डालने के लिए कई बार प्रयत्न भी किये गये और डायो-क्रीटियन नामक सम्राट् के राज-काल में तो (सन् ३०३ में और उसके पश्चात्) ईसाइयों के साथ बड़ी नृशंसता के व्यवहार तथा अत्याचार भी किये गये थे; यहाँ तक कि ईसाई धर्म-मन्दिरों की जायदाद ज़ब्त कर ली गई, बाइबिल तथा अन्य धार्मिक पुस्तकें ज़ब्त कर जला दी गईं, ईसाइयों के लिए न्यायालय तथा न्यायालयों के द्वार बन्द कर उनको ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दिया गया और बहुतों को मृत्यु दण्ड तक दिया गया था। पुस्तकों का नाश विशेषतया ध्यान देने योग्य है। इससे यह पता चलता है कि राज्याधिकारियों को यह बात भली भाँति विदित थी कि लिखित शब्दों में नये धर्म के संगठित करने का अपूर्व बल था। क्रिश्चियन तथा यहूदी दोनों ही धर्म, पुस्तक-धर्म थे। और दोनों ही शिक्षा का प्रचार करते थे। इन दोनों धर्मों का अस्तित्व अधिकतया इसी पर निर्भर था कि इनके अनुयायी अपने धार्मिक सिद्धान्तों को पढ़ कर समझ सकते थे, इनके पहिले के धर्म मानव-बुद्धि को प्रमाण नहीं मानते थे। इस बर्बरता के युग में—पश्चिमीय यूरोप में आनेवाले इस गड़बड़ी के ज़माने में, पठन-पाठन की परम्परा को जारी रखने का नैमित्तिक कारण क्रिश्चि-यन धर्म ही था।

डायोक्लेटियन-द्वारा इस प्रकार पीड़ित किये जाने पर भी क्रिश्चियन धर्मानुयायी बढ़ने से न रुके। और बहुत से प्रान्तों में बहुसंख्यक जन-संख्या तथा अधिकारी-वर्गों के ईसाई होने के कारण उसका कुछ प्रभाव ही न हुआ। फिर गैलेरियस नामक सम्राट् के सह-योग से ई० सन् ३१७ में सहिष्णुता का आदेश जारी कर दिया गया; और सन् ३२४ में तो ईसाइयों का मित्र महान् कान्स्टेंटाइन नामक सम्राट् समस्त रोम-संसार का एकछत्र

शासक हो गया था, इसने मृत्यु-शय्या पर ईसाई-धर्म में दीक्षा ले प्राण त्यागे थे और अपने जीवन-काल ही में अपने को ईश्वर का अंश न बना कर सैन्य-ध्वज तथा ढालों पर ईसाई-धर्म के चिह्न अंकित करा दिये थे।

फिर कुछ वर्ष के अनन्तर, ईसाई-धर्म, स्थायी रूप से राज-धर्म हो गया। और अन्य विरोधी दलों का या तो बड़ी शीघ्रता से लोप हो गया या वे भी इसके विराट् उदर में समा गये; और अन्त में महान् थियोडोसियस ने एलेक्ज़ेन्ड्रिया नगरस्थ ज्यूपिटर सैरापिस की महान् प्रतिमा भी ३६० ईस्वी में तुड़वा डाली। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ से रोम-साम्राज्य में केवल ईसाइयों ही के धर्म-मन्दिर और पुजारी शेष रह गये।

(३९)

बर्बरों के आक्रमण द्वारा साम्राज्य का पूर्वीय तथा पश्चिमीय भागों में विभाग

ईसा की समस्त तृतीय शताब्दी में सामाजिक तथा नैतिक ह्रास होते रहने पर भी, रोम-साम्राज्य बर्बर जातियों से लोहा लेता रहा। उस समय वहाँ के सम्राट् स्वेच्छाचारी एवं युद्धप्रिय सैनिक थे और राजधानी रणनीति के अनुसार बदलती रहती थी। सम्राट् कभी उत्तरीय इटली के मिलन नामक नगर में जा डटते थे तो कभी आधुनिक सर्विया के सरमियमवानिश नामक नगर में। यहाँ तक कि सुदूर एशिया माइनर का निकोमीडिया नामक स्थान भी कभी कभी राजधानी हो जाता था। इटली का मध्य देशीय नगर रोम अर्थ-साधनों के केन्द्र से दूर होने के कारण सम्राट् के लिए उपयुक्त वासस्थान न था। साम्राज्य के अधिक भागों में **इस काल में** भी शांति थी और मनुष्य बिना अस्त्र-शस्त्र लिये ही घूम सकते थे। सेनाएँ इस समय तक शक्ति का एक मात्र भंडार थीं और उन्हीं के बल-बूते पर सम्राट् दिन-प्रतिदिन शेष साम्राज्य तथा राष्ट्र के प्रति, पार्सीक आदि अन्य पूर्वीय नरेशों की भाँति अधिकाधिक उच्छृङ्खल होते जाते थे और डायोक्लेटियन ने तो (स्वर्ण) मुकुट तथा पूर्वीय (नरेशों के से) वस्त्र तक धारण करने प्रारम्भ कर दिये थे।

इसी समय, राइन नदी से लेकर डैन्यूब नदी पर्यन्त समस्त साम्राज्य सीमा पर शत्रु-समूह भीतर घुसने की चेष्टा कर रहा था। फ्रैंकूस आदि अन्य जर्मन-जातियाँ राइन नदी तक आ गई थीं। वैंडेलस (नामक बर्बर जाति-विशेष) उत्तरीय हंगेरी में घुस पड़ी थी और पश्चिमीय गौथ्स या विसगौथ्स (बर्बर जाति-भेद) तत्कालीन डेसिया में जिसको अब रूमानियाँ कहते हैं डटे पड़े थे। इनके पीछे दक्षिणीय रूस में ऑस्ट्रोगौथ्स या पूर्वीय गॉथ्स नामक अन्य बर्बर जातियाँ उपस्थित थीं और उनसे परे वालगा नदी के निकटस्थ भागों में एलबस नामक बर्बर जाति थी।

इन जातियों के अतिरिक्त मंगोलियन लोग भी यूरोप की ओर बलपूर्वक बढ़ रहे थे। हूणों ने तो राजस्व ले ऐलेंस तथा आस्ट्रोगौथ्स नामक उपरोक्त बर्बर जातियों को अभी से पश्चिम की ओर खदेड़ना प्रारम्भ कर दिया था।

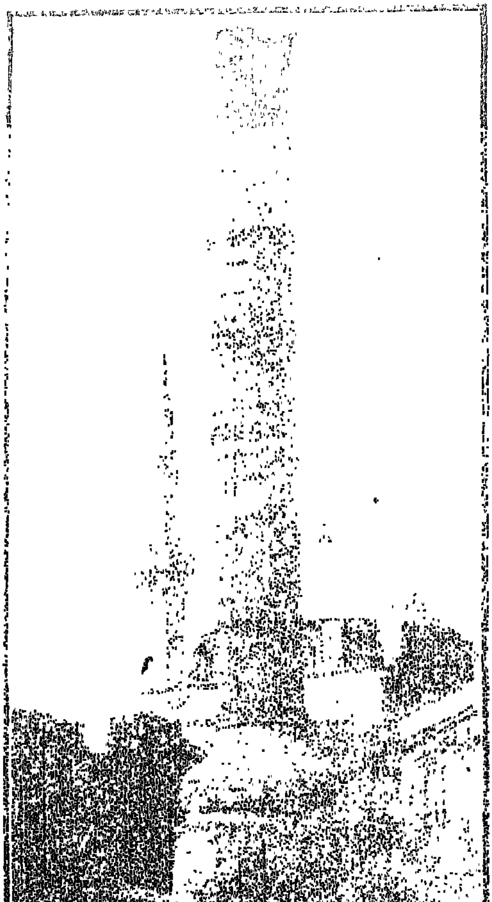
पार्सीक (फ़ारस) देश में जाग्रति होने के कारण रोम साम्राज्य की एशिया महाद्वीपस्थ सीमा अब पीछे की ओर खिसकने लगी थी। यह नवीन देश अर्थात् शासनीय तृर्भात कालीन फ़ारिस, आगे चलकर तीन शताब्दी पर्यन्त रोम-साम्राज्य का एशिया में अत्यन्त प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बना रहा।

यूरोप के मानचित्र की ओर केवल एक बार दृष्टिपात करने से रोम-साम्राज्य की स्वाभाविक निर्बलता पाठकों की बुद्धि में क्षणमात्र में आ जायगी। आधुनिक सर्बिया और बोसीनिया के भूभागों में डैन्यूब नदी का एड्रियाटिक समुद्र से केवल २०० मील का अन्तर रह जाता है। इस स्थान पर यह नदी वर्गाकार पुनर्युक्त कोण बनाती है। रोमन-जाति अपने सामुद्रिक मार्ग को कभी सुव्यवस्थित न रख सकी अतएव अपने बृहत् साम्राज्य के लैटिन भाषी पश्चिमीय भाग से यूनानी बोलनेवाले पूर्वीय भाग में जाने के लिए उनको इसी दो सौ मील के क्षुद्र भूभाग में होकर यात्रा करनी पड़ती थी और डैन्यूब नदी के इस वर्गाकार कोण पर ही बर्बर-जाति का सबसे अधिक ज़ोर था। उन्होंने जब इस स्थान पर आक्रमण कर दिया तो साम्राज्य का विभाजित होना अवश्यम्भावी हो गया।

कोई और अधिक प्रबल साम्राज्य आक्रमण करके दोबारा डेसिया को जीत लेता; परन्तु रोम-साम्राज्य में अब ऐसा पौरुष कहाँ था। यह ठीक है कि महान् कॉंस्टेण्टाइन बड़ा कुशाग्रबुद्धि और दत्तचित्त हो कार्य करनेवाला सम्राट् था; उसने साम्राज्य के जीवन-मरण-निर्णायक बालकन नामक भू-भागों पर होनेवाले गौथ्स् जाति के आक्रमणों को रोका और उनको पीछे हटा दिया। परन्तु उसके पास डैन्यूब नदी के पार जा सीमा लाँघ शत्रुओं पर आक्रमण करने का उपयुक्त सैन्य-बल न था। साम्राज्य की भीतरी कमज़ोरी के मिटाने से ही उसको फ़ुरसत न थी। क्रिश्चियन धर्म की नैतिक एवं सांघिक शक्ति-द्वारा उसने ह्रास होते हुए साम्राज्य को पुनर्जीवित किया और हैल्स पौण्ट के बैज़ैण्टियम नामक स्थान पर स्थायीरूप से नयी राजधानी निर्माण करने का दृढ़ संकल्प भी किया था। परन्तु यह नई राजधानी—बैज़ैण्टियम जिसका नाम सम्राट् के सम्मानार्थ बदलकर कॉंस्टेंण्टिनोपिल धर दिया गया, अभी बन ही रही थी कि सम्राट् का देहावसान हो गया।

उसके शासन के अन्तिम दिनों में एक विशेष उल्लेखनीय घटना हो गई। (अर्थात्) गौथस्-जाति द्वारा दबाये जाने पर वैंडल्स नामक बर्बर जाति ने रोम-साम्राज्य में बसने की आज्ञा चाही; इस पर उनको आधुनिक हंगेरी के डैन्यूब नदी से पश्चिम ओर के भाग में, जो उस समय पैन्नोनिया कहाता था धरती दे दी गई और तज्जातीय सैन्योचित पुरुषों की कहने को एक रोमन-सेना भी बना दी गई। रोमन नामधारी यह सैन्य-दल वास्तव में बर्बर-जातीय नायकों ही के नेतृत्व में रहते थे। इनको अपने में पूर्णतया मिलाने अथवा अंगीकरण करने में रोम सर्वथा अशक्य रहा।

कॉंस्टेण्टाइन अभी साम्राज्य को सुव्यवस्थित ही कर रहा था कि उसका प्राणान्त हो गया। उसके मरते ही साम्राज्य की सीमा टूटने लगी और विसी गौथ्स प्रायः कान्स्टेण्टिनोपिल तक चढ़ आये। उन्होंने वैलिंस नामक सम्राट् को एड्रियानोपिल में हरा दिया और



कॉन्स्टेंटाइन का खम्भा (कुस्तुनतुनिया)

तत्पश्चात् वे आधुनिक बल्गेरिया में उसी भाँति बस गये, जिस भाँति उनसे पहिले, वैंण्डल्स नामक बर्बर जाति पैन्नोनिया में बस गई थी। कहने को तो वे सम्राट् की प्रजा थे परंतु वास्तविक बात यह है कि वे विजेता थे।

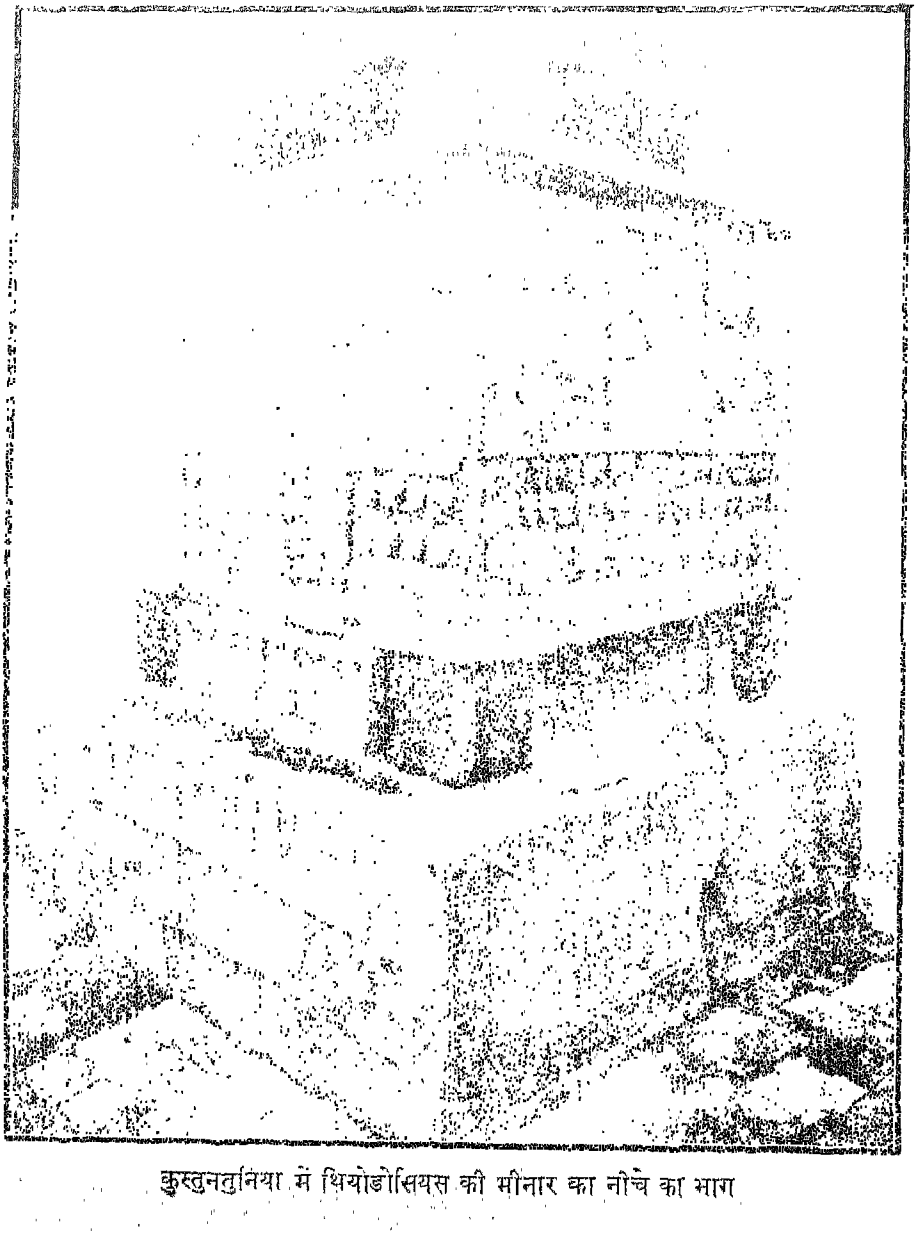
महान सम्राट् थियोडोसियस ने ई० सन ३७९—३९५ तक शासन किया। उस समय तक भी साम्राज्य कम से कम विभाजित नहीं हुआ था। इटैली और पैन्नोनिया के सैन्य-दल, तब स्टिलीको नामक बर्बर जातीय सेनानायक के अधीन थे और बालकन प्रायद्वीप की सेनाओं का ऐलेरिक नामक गॉथ जातीय बर्बर नायक माना जाता था। चतुर्थ शताब्दी के अन्त में थियोडोसियस का देहान्त हो गया। उसने दो लड़के छोड़े। कान्स्टेन्टिनोपिल में एलेरिक ने एरकेडियस नामक पुत्र का समर्थन किया और इटैली में स्टिलीको ने ऑनोरियस नामक पुत्र की हिमायत ली। दूसरे शब्दों में ऐलेरिक और स्टिलीको ही वास्तव में साम्राज्य पाने के लिए एक दूसरे से युद्ध कर रहे थे। दोनों राजपुत्र तो उनके हाथ में कठपुतलियों के समान थे। युद्ध करते करते

एलेरिक इटली पर चढ़ आया और थोड़े ही समय तक घेरा डालकर उसने रोम को हस्तगत कर लिया (ई० स० ४१०) ।

ईसा की पंचम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समस्त यूरोपीय रोम साम्राज्य बर्बर जातीय (दस्यु) सेनाओं के आक्रमणों का शिकार बना रहा । तत्कालीन संसार-दशा का अब इस ज़माने में आँखों के आगे चित्र खींचना बड़ा कठिन है । फ्रांस, स्पेन, इटली और बालकन प्रायद्वीप में उस समय भी पुराने नगर, प्राचीन रोम साम्राज्य के समृद्धिशाली नगर मौजूद थे---उनका अस्तित्व चला जाता था । परन्तु लुप्तश्री हो जाने के कारण, तथा जन-संख्यादि घट जाने से इनका दिन-प्रतिदिन ह्रास हो रहा था । मानव-जीवन भी इन नगरों में अब संदिग्ध, ओछा और घृणित हो गया था, स्थानीय अधिकारीवर्ग अपनी मनमानी चलाते थे । दूरस्थ और दुर्लभ दर्शन सम्राट् के नाम से उनके यह प्रतिनिधि, जो जी में आता था, कर डालते थे । धर्म-मंदिरों की भी यही कथा थी । उनका केवल अस्तित्व क़ायम था । वहाँ के पुजारी बहुधा निरक्षर होते थे, पढ़ना-लिखना बहुत कम हो गया था और मानविक तथा आधिदैविक भय का निर्द्वंद्व राज्य था । इतना होने पर भी लुटेरों के दुष्ट हाथों से बची हुई, पुस्तकें, चित्र, तथा मूर्ति आदि अन्य ललित-कला विषयक वस्तुएँ—कला में उन्नति होने के कारण, अब भी जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर हो जाती थीं ।

देहाती जीवन का भी ह्रास हो रहा था । रोम साम्राज्य में सर्वत्र ही—पहिले से कहीं अधिक घास उग आई थी । पुरानी स्वच्छता या सफ़ाई का लोप हो गया था । कोई कोई भूभाग तो युद्धों तथा महामारी के कारण वीरान तक हो गये थे । जङ्गल और राजपथ, डाकुओं के घर से बन गये थे । ऐसे स्थानो पर, बर्बर जातियों ने बिना किसी के विरोध के बहुत ही सुगमता से क़ब्ज़ा कर, अपने नायकों को रोमन उपाधि से विभूषित कर शासक बना दिया । अर्द्ध सभ्य बर्बर जातियाँ, नगरों को हस्तगत करने के पश्चात् अधीनस्थ प्रजाओं के साथ असहनीय वर्ताव न कर उनसे सहवास तथा विवाह सम्बन्ध भी कर लेती थीं । और लैटनीय भाषा अपने लहज़े में बोला करती थीं । रोम-साम्राज्य के ब्रिटेन नामक प्रान्त को अधीन करनेवाली ज्यूट एङ्गिल्स और सैक्सन जातियाँ किसान का काम करती थीं । उनके लिए नगरों का अस्तित्व व्यर्थ था । दक्षिणीय ब्रिटेन से उन्होंने रोमन भाषा निकाल बाहर की और उसके स्थान में अपनी टयूटौनिक बोली का प्रचार कर दिया । यही बोली अन्त में जाकर अँग्रेज़ी भाषा हो गई ।

विविध जर्मन तथा स्लाव जातियों ने इस अव्यवस्थित साम्राज्य में किस प्रकार लूट मार कर सुखदायक स्थानों को अधिगत किया यह, हमारे लिए इस छोटी सी पुस्तक में बताना असम्भव है । यहाँ पर केवल वैंडल्स नामक बर्बर जाति ही का वृत्त दिया जाता



कुस्तुनतुनिया में थियोडोसियस की मीनार का नीचे का भाग

है। पाठक इसी से और जातियों का भी कुछ अन्दाज़ा लगा लेंगे। पूर्वीय जर्मनी में आने के समय से ही इस जाति का इतिहास प्रारम्भ होता है। हम बता चुके हैं कि पैन्नोनिया में यह किस प्रकार बसे थे। वहाँ से यह लोग ४२५ ई० के लगभग मध्यस्थ देशों को पारकर स्पेन चले गये। वहाँ इन्होंने दक्षिणीय रूम के विसगोथ तथा अन्य जर्मन जातियों के बहुत से ड्यूक तथा राजाओं के राज्य देखे। गैनसेरिक के नेतृत्व में वैंडलस यहाँ से समुद्र की राह उत्तरीय अफ्रीका को चले गये (४२९) और वहाँ जाकर उन्होंने कार्थेज विजय कर (४३९) जहाज़ी बेड़ा तैयार किया। संपूर्ण समुद्र पर विजय पाकर इस जाति ने ई० ४५५ में रोम को हस्तगत कर ख़ूब ही लूटा। ५० वर्ष पूर्व एलेरिक ने भी इस नगर को बेहद लूटा था। उस क्षति को यह नगर अभी तक पूरा न कर पाया था कि दूसरी विपत्ति ने आ घेरा। रोम की लूट के पश्चात् यह जाति सिसली, कार्सिका, सार्डिनिया और पश्चिमीय मैडिट्रेनियन के अन्य बहुत से द्वीपों की अधिपति बन बैठी। इन लोगों का सामुद्रिक राज्य-विस्तार आदि वास्तव में लगभग सात सौ वर्ष पहिले के कार्थेज-राज्य ही के समान था। ई० सन् ४७७ में यह जाति उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गई। इन मुट्ठी भर विजेताओं ने यद्यपि समस्त देशों पर अपना आधिपत्य जमा लिया था तथापि, अगली शताब्दी ही में यह सब स्थान, जस्टिनियन प्रथम के राज्यत्व-काल में कांस्टेंटिनोपिल के साम्राज्य की क्षणिक ज्योति में सहसा विलीन हो गये।

अन्य बर्बर-जातियों की जीवन-संग्राम-कथा भी वैंडलस ही के समान है। परन्तु अब यूरोपीय-संसार में मंगोल, हूण या तातार नामक सर्वथा विभिन्न जाति का पदार्पण हो रहा था जो इन सब आततायियों से कहीं अधिक बलिष्ठ थी। इस पीत वर्ण जाति के समान किसी अन्य फ़ुर्तीली और कुशल जाति से पश्चिमीय संसार को इससे प्रथम कभी मुक़ाबिला करना न पड़ा था।

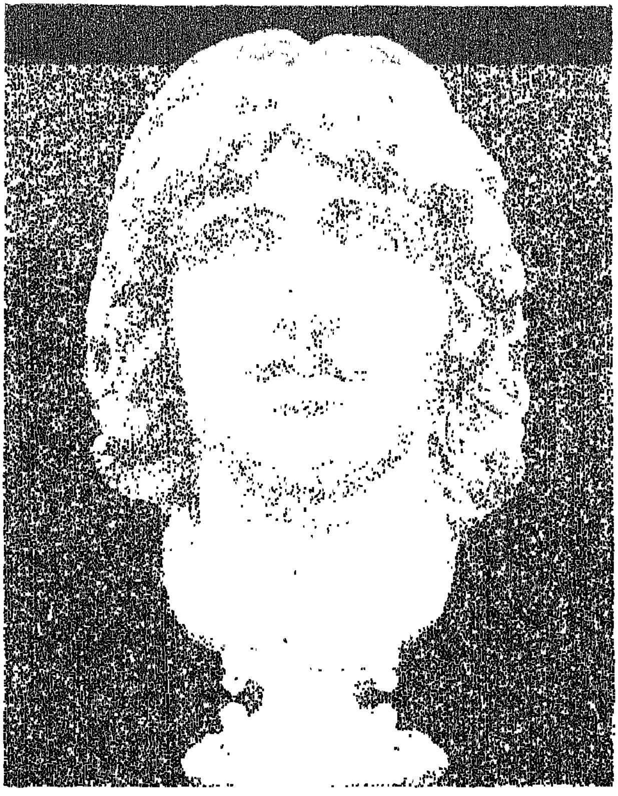
हूण और पश्चिमीय साम्राज्य का अन्त

विजयी मंगोलों ने जिस समय यूरोप में पदार्पण किया, तब से मानव-इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ समझना चाहिए। ईसवी सन् से पूर्व की अन्तिम शताब्दी तक नॉर्डि और मंगोल जातियों में घनिष्ठ सम्पर्क नहीं हुआ था। यह ठीक है कि मंगोलियन जाति की लैप्स नामक एक शाखा उत्तरीय वनों के परे, लापलैंड के हिमाच्छादित भू-भागों में जाकर बस गई थी, परन्तु उन्होंने हमारे इतिहास के मुख्य प्रवाह में कोई प्रभाव-जनक भाग नहीं लिया। पश्चिमीय संसार के रंग-मंच पर, आर्य, सैमेटिक, तथा अन्य आदिम श्याम (Brunet) जातियों के सहस्रों वर्ष तक अभिनय होते रहे और इनमें सुदूर पूर्व की रहनेवाली मंगोलियन जाति अथवा दक्षिणीय कृष्ण जातियों ने कभी कोई भाग नहीं लिया। हबशी अथवा यूथोपियन जाति द्वारा मिश्र-विजय तो इस नियम का अपवाद मात्र था।

संभवतया दो प्रधान हेतुओं के कारण ही जंगली मंगोल जाति पश्चिम की ओर अग्रसर हुई थी। एक कारण तो चीन-साम्राज्य की सुव्यवस्था, उसकी उत्तरीय सीमावृद्धि और हानवंशीय समृद्धिशाली शासनकाल में तद्देशीय जन-संख्या की अभिवृद्धि था और दूसरा कारण जल-वायु का क्रमिक परिवर्त्तन था अर्थात् कम वर्षा के कारण अनूप भूमि और शायद जंगलों का भी अभाव हो गया था या अधिक वर्षा के कारण शून्य पठारों (Steppes) पर भी पशुओं के चराने योग्य घास उग आई थी और सम्भवतया यह दोनों-जल तथा वायु सम्बन्धी क्रमिक परिवर्तन भिन्न भिन्न देशों में होने पर भी, इस जाति को पश्चिम की ओर अग्रसर होने में किसी प्रकार से इनके कारण सुविधा हो गई। इन दो कारणों के अतिरिक्त, रोम-साम्राज्य की आर्थिक हीनता, आन्तरिक ह्रास और जन-संख्या का उत्तरोत्तर कम होना भी इस जाति के आगमन में अत्यन्त सुविधा उत्पन्न करनेवाला तीसरा सहायकारी कारण था। पश्चात्-कालीन रोम-प्रजातंत्र के धनाढ्यों और तदनन्तर सैनिक-सम्राटों के कर वसूल करनेवाले अधिकारी दोनों ही ने जनता का जीवन-रस चूस डाला था। उपर्युक्त

कारणों से शत्रुओं को साम्राज्य में बलपूर्वक घुसने का अवसर हाथ आ गया। पूर्व की ओर से खदेड़ हो रही थी, पश्चिम में ह्रास हो रहा था और रास्ता खुला हुआ था। बस, फिर घुसने के लिए अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता ही क्या थी।

हूण लोग, यूरोपीय रूस की पूर्वीय सीमा पर ईसा की प्रथम शताब्दी में ही जा पहुँचे थे, परन्तु वहाँ के पठारों (Steppes) में इन अश्वारोहियों का प्राबल्य ईसा की चौथी अथवा पाँचवीं शताब्दी से पूर्व नहीं हुआ। पाँचवीं शताब्दी में हूणों का बोलबाला रहा। हूणों का इटली में प्रथम पदार्पण सम्राट् ओनोरियस के अधिपति 'स्टिलीको' नामक बर्बर नेता के वेतन-भोगी सैनिकों के रूप में हुआ था। फिर उन्होंने वैंडल्स जातीय बर्बरों के रिक्त स्थान—समूचे पैन्नो-निया—पर शीघ्र ही अपना कब्ज़ा जमा लिया।



बर्बर जाति के सरदार का मस्तक (ब्रिटिश म्यूज़ियम में)

हूण जाति का 'एटिल्ला' नामक एक महान् सेना-नायक पाँचवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में हुआ था जिसकी शक्ति का हमको अस्पष्ट एवं आशावर्द्धक आभास-मात्र है। इसका शासन हूणों तक ही परिमित न था; वरन् एक राशिवत् करद जर्मन-जातियाँ भी इसके आधिपत्य में थीं। इसका साम्राज्य-विस्तार राइन नदी से लेकर मध्य एशिया के

सम्बन्ध रहा था। चीन-साम्राज्य से इसके राजदूतों (प्रतिनिधियों) का अदल-बदल होता था। इसका प्रधान कैम्प (पड़ाव) डैन्यूब नदी से पूर्व की ओर के हंगरी के मैदान में था। कांस्टेंटिनोपिल का राजदूत, प्रिसकस इसी स्थान पर इससे मिला था। इस दूत-द्वारा वर्णित इस राज्य-सम्बन्धी वृत्त अब भी उपलब्ध है। (और इनसे पता चलता है कि) इस मंगोलियन जाति की रहन-सहन विधि अपनी पूर्वज आर्य-जाति से—जिसकी कि यह स्थानापन्न थी—बहुत कुछ मिलती थी। जनसाधारण झोपड़ों या डेरों ही में रहते थे परन्तु दल-पतियों के वासस्थान, गड़े लट्ठों के हाल (बड़े कमरे) होते थे। सहभोज, मदिरापान तथा चारणों के गायन का इस (जाति) में यथेष्ट प्रचार था। परन्तु एटिला की यह कैम्परूपी राजधानी न केवल होमर गाथाओं के वीरों प्रत्युत एलेक्ज़ेंडर के साथी मैसिडोनिया निवासियों को भी तत्कालीन कांस्टेंटिनोपिल के शासक एरकेडियस के पुत्र थिओडो-सियस द्वितीय के सभ्य परन्तु क्षीण दरबारों की अपेक्षा कहीं अधिक सुखकर तथा गृह-समान प्रतीत होती।

कुछ काल तक तो यही प्रतीत होता रहा कि जैसा व्यवहार अतीत काल में बर्बर यूनानी जाति ने एजियन सभ्यता के साथ किया था वैसा ही ये पर्यटक लोग भी हूणों तथा एटिला की अध्यक्षता में भूमध्यसागर-तटस्थ—यूनान तथा रोम की मिश्रित—सभ्यता से बरतेंगे। उस समय, इतिहास की बड़े पैमाने पर पुनरावृत्ति होती हुई मालूम होती होगी। परन्तु प्राचीन यूनानियों की अपेक्षा हूण जाति कहीं अधिक पर्यटक (घूम फिर कर जीवन बितानेवाली) थी। यूनानियों को तो वास्तव में बर्बर कहने की अपेक्षा—ढोर चराने के लिए स्थान स्थान पर—घूमने फिरनेवाले गोपालक कहना ही अधिक ठीक होगा। हूण आक्रमण द्वारा लूटते तो थे परन्तु किसी स्थान-विशेष पर बसते न थे।

कुछ वर्ष तक तो एटिला थियोडोसियस को मनमानी धमकियाँ देता रहा और उसके सैन्य-दल ने भी. कुस्तुनतुनिया की दीवारों तक लूट-मारकर देश उजाड़ डाला। इतिहास-कार गिब्बन कहता है कि बाल्कन प्रायद्वीप में उसने सत्तर से कम नगर न उजाड़े होंगे और थिओडोसियस ने कर देकर उसे राज़ी किया था (नहीं तो वह उस पर भी हाथ साफ़ करता) और गुप्तचरों द्वारा वध करा कर उसको सदा के लिए संसार से बिदा करना भी चाहा। ४५१ ईस्वी में साम्राज्य के पश्चिमार्द्ध अर्थात् लैटिन भाषा-भाषी भग्नावशेष की ओर ध्यान आकर्षित होते ही एटिला ने गॉल विजय कर डाला। इस प्रान्त के उत्तरीय भाग का एक एक नगर लूट लिया गया था। अन्त में फ्रैंक, विसगौथ और साम्राज्य-सैन्य ने सम्मिलित हो उसको ट्रॉयेस (Troyes) के निकट युद्ध में पराजित किया। इस महान् विस्तृत युद्ध में १५०००० — २००००० आदमी खेत रहे। इस प्रकार पराजित होने

पर वह गॉल प्रदेश में तो और आगे न बढ़ सका परन्तु उसके प्रचुर सैनिक-बल में तनिक भी बल न पड़ा। अगले ही वर्ष उसने वेनेशिया की राह इटली में घुस एक्विलेइया और पाडुआ नामक नगर जला दिये और मिलन को लूटा।

उत्तरीय इटली के नगरों से (जिनमें पाडुआ का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है) भागकर लोग एड्रियाटिक के छोर पर समुद्र-जल से सम्बन्ध रखनेवाली 'लैगून' नामक विशेष कीलों में बने हुए द्वीपों की ओर चले गये। और वहाँ जाकर उन्होंने वेनिस के नागरिक राज्य की नींव डाली, जिसकी मध्ययुग में संसार के सबसे बड़े व्यापारिक केन्द्रों में गणना की जाती थी।

ईसवी सन् ४५३ में, महान् एक भोज के उपरान्त, जो एक नव-यौवना के साथ विवाह हो जाने के उपलक्ष में दिया गया था, एटिला का सहसा देहान्त हो गया। और उसकी मृत्यु के साथ ही साथ उसके लुटेरों का संघ भी छिन्न-भिन्न हो गया। और आर्य भाषा-भाषी बहुसंख्यक जन-समाज में, जो उनको घेरे हुए था निमग्न हो जाने के कारण वास्तविक हूणों का इतिहास से सदा के लिए लोप हो गया। परन्तु इन महान् हूण-आक्रमणों ने लैटिनीय रोम-साम्राज्य को तो मिटा ही दिया। एटिला की मृत्यु के उपरान्त अगले बीस वर्षों के, वैंडल्स जातीय बर्बर और वैतनिक सेना द्वारा सिंहासनासीन दस भिन्न भिन्न सम्राटों ने रोम का शासन किया। ई० स० ४५५ में कार्थेज के वैंडल्स् जातीय बर्बरों ने अधिकृत कर रोम नगर को ख़ूब ही लूटा। और अन्त में ई० सन् ४७६ में तो ओडोएसर नामक बर्बर सेनाध्यक्ष ने-रोम्युलस-ऑगस्टुलस नामक प्रभावोत्पादक—सम्राट्-पदवी धारण करनेवाले पैन्नोनिया निवासी को कुचल कर कुस्तुन्तुनियाँ की राज्य-सभा में सूचना दे दी थी कि पश्चिमीय साम्राज्य में कोई सम्राट् ही नहीं है। इस प्रकार, इतनी अप्रतिष्ठा के साथ साम्राज्य के लैटिनीय भाग का अन्त हुआ। ४९३ ईस्वी में 'गौथ' जातीय थियोडोरिक (नामक एक पुरुष) रोम का राजा बन बैठा।

इस समय समस्त पश्चिमीय एवं मध्य यूरोप में बर्बर जातीय दलपति ही राजा, ड्यूक और जागीरदार इत्यादि बनकर शासन कर रहे थे। कहने को तो यह लोग सम्राट् के अधीन थे, परन्तु वास्तव में इन पर किसी का भी दबाव न था। व्यावहारिक रूप में स्वतन्त्र यह शासक सैकड़ों और हज़ारों की संख्या में थे। इस समय तक, गॉल, स्पेन, इटली और डेसिया में लैटिन भाषा ही स्थानीय विकृतियों के साथ बोली जाती थी; परन्तु ब्रिटेन और राइन नदी के पूर्वीय प्रदेशों में साधारणतया जर्मन वर्गीय बोलियाँ प्रचलित थीं। बोहिमिया ही एक ऐसा प्रदेश था जहाँ स्लाव जाति की चैक नामक बोली का प्रचार था। लैटिन भाषा का लिखना-पढ़ना तो केवल बड़े बड़े पादरी और कुछ अन्य विद्वानों ही तक

सीमित था। उस समय मानव जीवन सर्वत्र ही संकटमय हो रहा था और के निज बाहुबल द्वारा वैयक्तिक सम्पदा की रक्षा होती थी। स्थान स्थान पर गढ़ बनने ः और सड़कें खराब होने लगीं। छठीं शताब्दी के अभ्युदय के समय समस्त पश्चिम संसार में पारस्परिक विभाग और बौद्धिक अंधकार का एकछत्र राज्य हो रहा था। ां समय, यदि ईसाई साधु और पादरी न होते तो लैटिन भाषा का अस्तित्व ही संसार से स के लिए लोप हो जाता।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि रोम-साम्राज्य की उन्नति का कारण क्या था अं क्यों उसका इस प्रकार सर्वथा विनाश हुआ? उन्नति का कारण था नागरिकता का भ कि जिससे समस्त जनता एक ही भाव-सूत्र में गुँथी रहती थी। प्रजातन्त्र के समस्त उन्न काल में और साम्राज्य के प्रथम दिनों में रोमन नागरिकता का सजग भाव रखनेवाले ां पुरुषों की संख्या पर्याप्त थी जो रोम की नागरिकता को अधिकारवत् (अमूल्य) औ धर्मवत् (पवित्र कर्त्तव्य) समझतदे शीय क़ानून में अपनी अधिकार-विषयक गहरी आस्‍ रखने के कारण रोम के नाम पर सब कुछ निछावर करने को तैयार थे। न्याय दे अक्षरशः मानने और मनवाने के कारण न्याय-परक और महान् शक्तिशाली साम्राज के रूप में रोम की प्रतिष्ठा सीमान्त-प्रदेशों में दूर दूर तक फैल गई थी। परन्तु ऐश्व तथा दास-प्रथा की उन्नति एवं वृद्धि के कारण प्यूनिक-युद्धारंभ के समय से ही इ नागरिक भाव की जड़ भीतर ही भीतर पोली होनी प्रारंभ हो गई। पश्चात् काल ः नागरिकता' तो फैली परन्तु नागरिकता के भावों का सर्वथा लोप हो गया था।

रोम-साम्राज्य फिर भी एक प्राथमिक संस्थामात्र ही था। दिन-प्रतिदिन बढ़ने वाले नागरिकों को शिक्षा देना, उनको समझाना और अपने निश्चयों में उनका सहयोग प्राप्त करना उसने कभी अपना कर्त्तव्य न समझा। जनता की बुद्धि एक समान करने के लिए उस समय (आज कल की भाँति) न तो स्कूलों के जाल थे और न सांघिक (सामूहिक) शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए समाचारों को इधर-उधर फैलाने का ही प्रबन्ध था। मैरियस और सुल्ला के समय और उनके पश्चात् शक्ति एवं बल की प्राप्ति के लिए उद्योग करनेवाले व्यक्ति के चित्त में साम्राज्य-समस्याओं पर जन-साधारण की सम्मति लेने के विचार तक कभी उदय न हुए। 'नागरिकता' के भाव तो बेचारे योंही भूखों मर गये और मरते समय भी किसी ने उनकी ओर तक न देखा। साम्राज्य, राष्ट्र और मानव-समाज की समस्त संस्थाओं का अंतिम आधार है समय और इच्छाशक्ति। रोम-साम्राज्य की यह इच्छाशक्ति जब संसार में न रही, तो उसका (साम्राज्य का) भी अन्त हो गया।

लैटिनीय साम्राज्य का पाँचवीं शताब्दी में अन्त हो जाने पर भी उसमें एक ऐसी नवीन तथा सर्वथा भिन्न वस्तु उत्पन्न हो गई थी जिसने उसके (अर्थात् साम्राज्य के) गौरव तथा प्राचीन परम्परा से खूब ही लाभ उठाया और यह था कैथोलिक चर्च का लैटिन-भाषी अर्द्ध भाग। साम्राज्य का तो अन्त तक हो गया परन्तु यह पदार्थ (कैथोलिक चर्च) जीवित रहा, कारण यह कि लोगों की इच्छा-शक्ति एवं मन में इसके द्वारा प्रभाव उत्पन्न होता था। इसमें पुस्तकों, शिक्षकों और धर्म-प्रचारकों की पूरी व्यवस्था थी जो न्याय एवं सैन्यबल से भी कहीं अधिक दृढ़ थी। समस्त चतुर्थ एवं पञ्चम शताब्दी में जहाँ एक ओर साम्राज्य का ह्रास हो रहा था वहाँ दूसरी ओर क्रिश्चियन धर्म, सम्पूर्ण यूरोप में सार्वभौमिक आधिपत्य जमाता जाता था। साम्राज्य के बर्बर विजेताओं पर भी, इस धर्म ने विजय प्राप्त की थी। रोम पर चढ़ाई करने का जब एटिल्ला ने विचार किया तो वहाँ के पैट्रियार्क (प्रधान पादरी) ने अपने नैतिक तथा मानसिक बल से उसको ऐसा पीछे हटाया कि सैन्यबल द्वारा भी वैसा होना सम्भव न था।

रोम का प्रधान पादरी, जिसको अब पोप कहते थे, अपने को समस्त क्रिश्चियन धर्म का परमाचार्य कहने लगा था। सम्राटों का अब अन्त हो जाने के कारण, उसने उनकी राजकीय उपाधि धारण कर समस्त अधिकार भी हथिया लिये। सम्राट् की पौंटिफ़िक्स मैक्सिमस-(रोम-राज्य का परम-यज्ञाचार्य)-नामक अत्यन्त प्राचीन-उपाधि भी उसने अब धारण कर ली।

बैज़न्टाइन और शाशानीय साम्राज्य

रोम-साम्राज्य के यूनानी भाषा-भाषी प्राच्यार्द्ध ने प्रतीच्यार्द्ध से कहीं अधिक राजनैतिक धारणाशक्ति प्रदर्शित की थी। प्राथमिक रोमन बल ईसा की पाँचवीं शताब्दी के जिन दैव-दुर्विपाकों और कठिनाइयों के कारण संपूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट हो मिट्टी में मिल गया, उनको इस भाग ने भले प्रकार सहन कर लिया। यह ठीक है कि एटिल्ला ने सम्राट् थियोडोसियस 'द्वितीय' को ख़ूब धमकाया, कष्ट दिये और कुस्तुन्तुनिया की दीवारों तक लूटकर देश की छाई कर डाली थी, परन्तु इतने पर भी यह नगर पूर्णतया सुरक्षित रहा। इसी प्रकार न्यूबियन जाति ने भी, नील नदी की राह आकर, केवल उत्तरीय मिस्र को ही ख़ूब लूटा और मिस्र का निचला भाग और एलेक्ज़ेंड्रिया पूर्ववत् समृद्धिशाली बने रहे। इसके अतिरिक्त एशिया माइनर का अधिकांश भी साम्राज्य का अंश बना रहा और शाशानीय पार्सीक पुनः पुनः आक्रमण करने पर भी उसको हस्तगत न कर सके।

ईसा की छठी शताब्दी में, जो पश्चिमीय जगत् के लिए सम्पूर्णतया अंधकार युग था, यूनानी शक्ति का वास्तव में कहीं अधिक पुनरुत्थान हुआ। यहाँ के सम्राट् जस्टिनियन 'प्रथम' (५२७-५६५) एक तो वैसे ही स्वयं अत्यन्त शक्तिशाली एवं महती आकांक्षा और अभिलाषा रखनेवाले पुरुष थे, उस पर अपनी अनुरूप सम्राज्ञी थियोडोरा से (उनका) पाणि-ग्रहण हो जाने पर तो मानों सुवर्ण में सुहागा मिल गया। नटी के रूप में जीवन प्रारम्भ करनेवाली यह ललना-ललाम योग्यता में अपने पतिदेव के समकक्ष थी। जस्टिनियन ने न केवल वैंडल्स तथा गौथ्स जातीय बर्बरों से उत्तरीय अफ्रीका तथा इटली का अधिक भू-भाग छीना प्रत्युत दक्षिणीय स्पेन भी अपने हस्तगत कर लिया था। जल एवं स्थल सम्बन्धी युद्धों तक ही उसकी शक्ति परिमित न थी, वरन उसने विश्वविद्यालय भी स्थापित किये, कांस्टेंटिनोपिल में सेंट सोफ़िया का महान् गिरजाघर भी निर्माण कराया, और धारायुक्त रोम-न्याय-विधान की रचना की। परन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि अपने विश्वविद्यालय के प्रतिस्पर्धी का नाम-निशान तक मिटाने के लिए सम्राट् ने प्रसिद्ध दार्शनिक

प्लेटो के समय में स्थापित, लगभग सहस्र वर्ष प्राचीन ऐथेंस के दार्शनिक विद्यालय को भी क़तई बन्द कर दिया।

ईसा की तृतीय शताब्दी से फ़ारिस-साम्राज्य, बैज़ण्टाइन साम्राज्य का निरन्तर प्रतिद्वंद्वी रहा। यही दोनों एशिया माइनर (आधुनिक एशियाई टर्की), सीरिया और मिस्र की अशान्ति और ह्रास के कारण थे। इन भू-भागों की सभ्यता, ईसा की प्रथम शताब्दी में कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी थी। धन-धान्य तथा जन-संख्या किसी बात में भी यह घटे हुए न थे; परन्तु निरन्तर सैन्यचालन, क़त्ले आम, लूट तथा



सोफ़िया; कुस्तुन्तुनिया का गिरजा (अब मस्जिद)

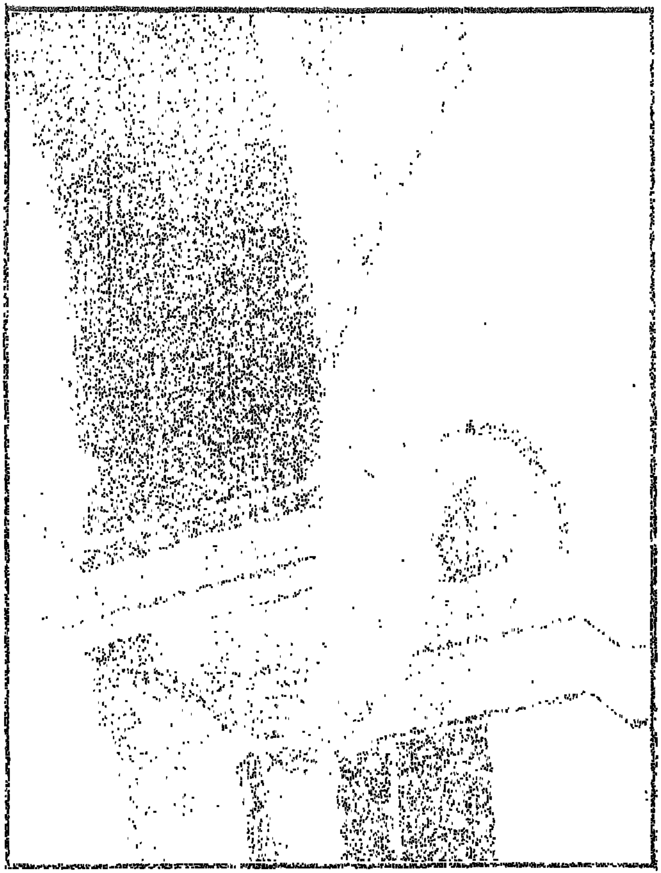
युद्ध के कर के कारण यह कब तक न थकते, अन्त में उजाड़ नगरों तथा इधर-उधर देहात में बसे हुए किसानों के अतिरिक्त इन देशों में कुछ भी शेष न रहा। परन्तु ऐसी शोचनीय स्थिति, अवनति एवं अराजकता का राज्य होने पर भी—शेष जगत् की अपेक्षा मिस्र देश के निचले भाग की हानि कुछ न्यून ही हुई। कांस्टेण्टिनोपिल की

भाँति एलैक्ज़ेंड्रिया में भी पूर्वीय तथा पश्चिमीय संसार के मध्य उत्तरोत्तर क्षीण होनेवाले व्यापार का सिलसिला कुछ न कुछ बना ही रहा।

दिन पर दिन ह्रास होनेवाले इन दोनों साम्राज्यों में विज्ञान तथा राजनैतिक दर्शन तो पारस्परिक युद्धों के कारण अब मानों मृतप्राय हो गये थे। असीम श्रद्धा एवं भक्ति के साथ एथेंस के दार्शनिकों ने अतीत के महान् साहित्य को, जब तक उसका दमन न हुआ, अवश्य सुरक्षित रखा परन्तु इन ग्रन्थों में दिये हुए वाक्यानुसार गवेषणा तथा स्पष्टोक्ति करनेवाली मनुष्य-श्रेणी—अनियंत्रित विचारशैली का अनुसरण करनेवाले साहसी स्वतंत्र भद्रजन, संसार में नहीं रह गये थे। यह ठीक है कि सामाजिक तथा राजनैतिक अराजकता के कारण ही बहुत अंशों में इस श्रेणी के मनुष्यों का अस्तित्व लुप्त हुआ था; परन्तु इसके अतिरिक्त मानवबुद्धि के इस प्रकार असर तथा रोगग्रसित होने का इस युग में एक अन्य कारण भी था। फ़ारिस तथा बैज़ेण्टियन, दोनों ही देशों में इस समय असहिष्णुता का दौर दौरा था; दोनों ही ऐसी नवीन शैली के धार्मिक साम्राज्य थे कि वहाँ मानव मनोवेग का स्वतंत्ररूप में गवेषणा करने में भी अड़चनें होती थीं।

इसमें सन्देह नहीं कि संसार के सब प्राचीन साम्राज्यों का रूप धार्मिक था, और वह देवता अथवा देव-तुल्य राजाओं की पूजा ही पर केन्द्रित थे, इसी नियमानुसार एलेक्ज़ेण्डर, देवताओं की श्रेणी में जा घुसा और इसी तरह सीज़र-राजाओं की भी देव-सम पूजा होने लगी; यहाँ तक कि उनके नाम पर मन्दिर तथा बलिस्थान निर्माण होने लगे। इन मन्दिरों में सीज़र देव के सम्मुख वेदी पर सुगन्धित द्रव्य जलाना ही तक रोमराज्य के प्रति भक्ति प्रदर्शन का एक मात्र तरीका या, कसौटी रह गया था। परन्तु प्राचीन धर्मों का प्रधान धर्म तथा कर्म भी तो यही था—मानव मस्तिष्कों की ओर तब उनका अभिप्रयाण न था अर्थात् विचार नियंत्रण करना उनकी न्यायोचित सीमा के बाहर था। देवताओं की वन्दना करने तथा बलि देने के उपरांत प्रत्येक मनुष्य न केवल विचार करने प्रत्युत तत्सम्बन्धी चर्चा करने में पूरा स्वतंत्र था। परन्तु इन नव धर्मों की और उनमें भी विशेषतया क्रिश्चियन पन्थ की गति अंतःकरण की ओर थी; बाह्याचरण के अतिरिक्त यह धर्म अन्तरात्मक वृत्ति की भी आवश्यकता समझते थे। इन बातों का नैसर्गिक-तया यह फल हुआ कि अज्ञेय पदार्थों के तथ्यार्थ के सम्बन्ध मेंघोर वाद-विवाद उत्पन्न हो गये। इन नवीन धर्मों का आधार था विश्वास। कुछ बातों पर विश्वास करना इनके अनुयायियों के लिए अत्यन्त आवश्यक था। ऐसी कट्टर धर्मपरायणता का अभ्युदय जगत् में इसी समय हुआ, जो न केवल अपने अनुयायियों के कार्यों का प्रत्युत उनके कथन तथा विश्वासों को भी धार्मिक नियम-विशेष के भीतर कठोरता से नियन्त्रित करती थी।

धर्म-विरुद्ध विचारों को न केवल दूसरों पर प्रकट करना वरन् अपने मन में रखना भी अब बौद्धिक न्यूनता न समझा जाकर नैतिक पाप समझा जाने लगा कि जिसके हृदयङ्गम करने से आत्मा का सदा के लिए अधःपतन था।



सोफ़िया का बहुत ही भव्य छात का काम

ईसा की तृतीय शताब्दी में शाशानीय वंश की स्थापना करनेवाले अरदेशियर 'प्रथम', और चतुर्थ शताब्दी में रोम-साम्राज्य का पुनर्निर्माण करनेवाले महान् कॉस्टेंटाइन

दोनों महान् नृपतियों ने सहायता प्राप्त करने की नीयत से इन्हीं धार्मिक संस्थाओं की ओर अपनी दृष्टि फेरी; क्योंकि उन्हें ऐसा लगा कि यही ऐसे नवीन साधन थे कि जिनके द्वारा मनुष्य की इच्छावृत्तियों का नियंत्रण करके उनको उपयोगी बनाया जा सकता है और चतुर्थ शताब्दी के समाप्त होने से पूर्व ही दोनों साम्राज्यों में स्पष्टवादिता एवं धार्मिक नियमों में नवीनता उत्पन्न करना दंडनीय था। अरदेशियर ने फ़ारस के पुरोहित तथा मंदिर संपन्न प्राचीनधर्म को, जिसमें वेदी पर पवित्र अग्नि जलाई जाती थी, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अधिक उपयुक्त देख राजधर्म बना डाला और 'जरथुपुत्र' के अनुयायी, तृतीय शताब्दी के समाप्त होते न होते, क्रिश्चियन धर्मावलंबियों को भाँति भाँति की पीड़ा भी देने लगे थे। २७७ ई० में तो मानीकियन नामक धर्म के संस्थापक मानी को क्रूस पर चढ़ाकर उसकी खाल में भूसा भरवा दिया गया था। उधर कांस्टेंटिनोपिल में भी परधर्माश्रयी क्रिश्चियनों को पीड़ित किया जा रहा था। एक ओर मानीकियन (manichaen) सम्प्रदाय के विचार क्रिश्चियन धर्म को दूषित कर रहे थे और उनको दूर करने का घोरतम प्रयत्न किया जा रहा था और दूसरी ओर जरथुष्ट्रीय-धार्मिक पवित्र विचारों में क्रिश्चियन धर्म का समावेश हो रहा था। समस्त विचार संदेहात्मक हो गये थे। (इस प्रकार) इस समय जब कि ऐसी असहिष्णुता का दृष्टिकोण था—विज्ञान-सूर्य का, जिसमें शान्त-चित्त द्वारा अप्रतिहत रूप से विचार करने की सर्वोपरि आवश्यकता होती है, सम्पूर्ण-ग्रहण सा लग गया था।

उन दिनों बैज़ण्टाइन के जन-साधारण का जीवन युद्ध, कट्टर-अध्यात्मवाद और साधारण मानवीय दुराचारों ही से परिपूर्ण था। देखने में तो वह सुन्दर एवं अद्भुत प्रतीत होता था परन्तु माधुर्य प्रकाश का वहाँ नितान्त अभाव था। उत्तरीय बर्बर जातियों के आक्रमणों से छुटकारा पाने पर बैज़ण्टाइन और पारसीक साम्राज्य आपस के शुष्क विचार एवं नाशकारी युद्धों द्वारा एशिया माइनर तथा सीरिया के भू-भागों का सत्यानाश किया करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि बर्बर जातियाँ भी इतनी प्रबल थीं कि इन दोनों साम्राज्यों की सामूहिक शक्ति भी उनको कठिनता से हरा श्रीलाभ कर सकती थी। तुर्क अथवा तातार इतिहास के रंग-मंच पर कभी एक ओर कभी दूसरे राज्य के मित्र के रूप में सर्वप्रथम इसी समय प्रकट हुए। छठी शताब्दी में जस्टिनियन और ख़ुसरो 'प्रथम' एक दूसरे के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी थे और सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजाधिराज हेराक्लियस को 'ख़ुसरो द्वितीय' का ५८० ई० में सामना करना पड़ा था।

आदि में हेराक्लियस के सिंहासनारूढ़ होने तक (६१० ई०) ख़ुसरो नदी की बढ़िया की भाँति सब कुछ ही बहाकर ले गया—किसी के भी पैर उसके सामने न टिके;

एण्टिओक, दमिश्क और जेरूसलम को जीत उसकी सेनाएँ कान्स्टेण्टिनोपिल के सम्मुख एशिया माइनर के सर्वोच्च भाग में स्थित चेलसिड्डोन नामक स्थान में जा पहुँचीं, और ६१९ में उसने मिस्र देश को भी हस्तगत कर लिया। इसके पश्चात् हेराक्लियस ने जो लौटकर धावा बोला है तो चेलसिड्डोन में फ़ारस की फ़ौज होते हुए भी 'निनेव' नामक स्थान में ख़ुसरो की सेना के पैर बुरी तरह से उखड़ गये (६२७)। फिर अगले ही वर्ष ६२८ ई० में कैक़ुबाद नामक पुत्र ने सिंहासन-च्युत कर ख़ुसरो (द्वितीय) का वध कर डाला और अन्त में दोनों साम्राज्यों ने थककर आपस में एक अस्थायी सन्धि भी कर ली।

बैज़ण्टाइन और फ़ारस का अन्तिम युद्ध हो जाने पर भी इन निरर्थक परन्तु दीर्घ-कालीन कलहों का सदा के लिए अन्त करनेवाले निकटस्थ मरु-भूमि के उठते हुए तत्कालीन तूफ़ान का उस समय शायद किसी ने स्वप्न में भी विचार न किया होगा।

सम्राट् हेराक्लियस अभी सीरिया प्रदेश में शान्ति स्थापित कर ही रहे थे कि सीमा-स्थित दमिश्क के दक्षिणीय पार्श्व के बोस्तरा नामक स्थान में एक सँदेसा भेजा गया। वह अरबी में लिखा हुआ था जो मरु-स्थली की एक दुर्बोध सैमेटिक भाषा है। यदि वह सम्राट् के पास वास्तव में पहुँच गया था तो दुभाषिये ने उसका आशय उनको अवश्य ही समझाया होगा। उस पत्र को एक व्यक्ति ने भेजा था जो अपने को ईश्वरीय दूत मुहम्मद कहते थे। इस पत्र में सम्राट् को एक ही सच्चे परमेश्वर को स्वीकार करने और उसकी सेवा करने का आदेश था। सम्राट् ने उसका क्या उत्तर दिया इसका कोई उल्लेख नहीं है।

टेसीफ़ोन नामक नगर में इसी प्रकार का एक सन्देश सम्राट् कैक़ुबाद के पास भी भेजा गया था परन्तु उन्होंने झुँझलाकर उस पत्र के टूक-टूक कर दूत को निकाल दिया।

उस समय ऐसा प्रतीत हुआ था कि यह मुहम्मद बद्दुओं के सर्दार थे और मरु-स्थली के मदीना नामक छोटे और अप्रसिद्ध नगर में उनका प्रधानावास था। यह एक नवीन धर्म का उपदेश देते थे जिसमें केवल एक सत्य परमेश्वर पर विश्वास करने का उपदेश दिया जाता था।

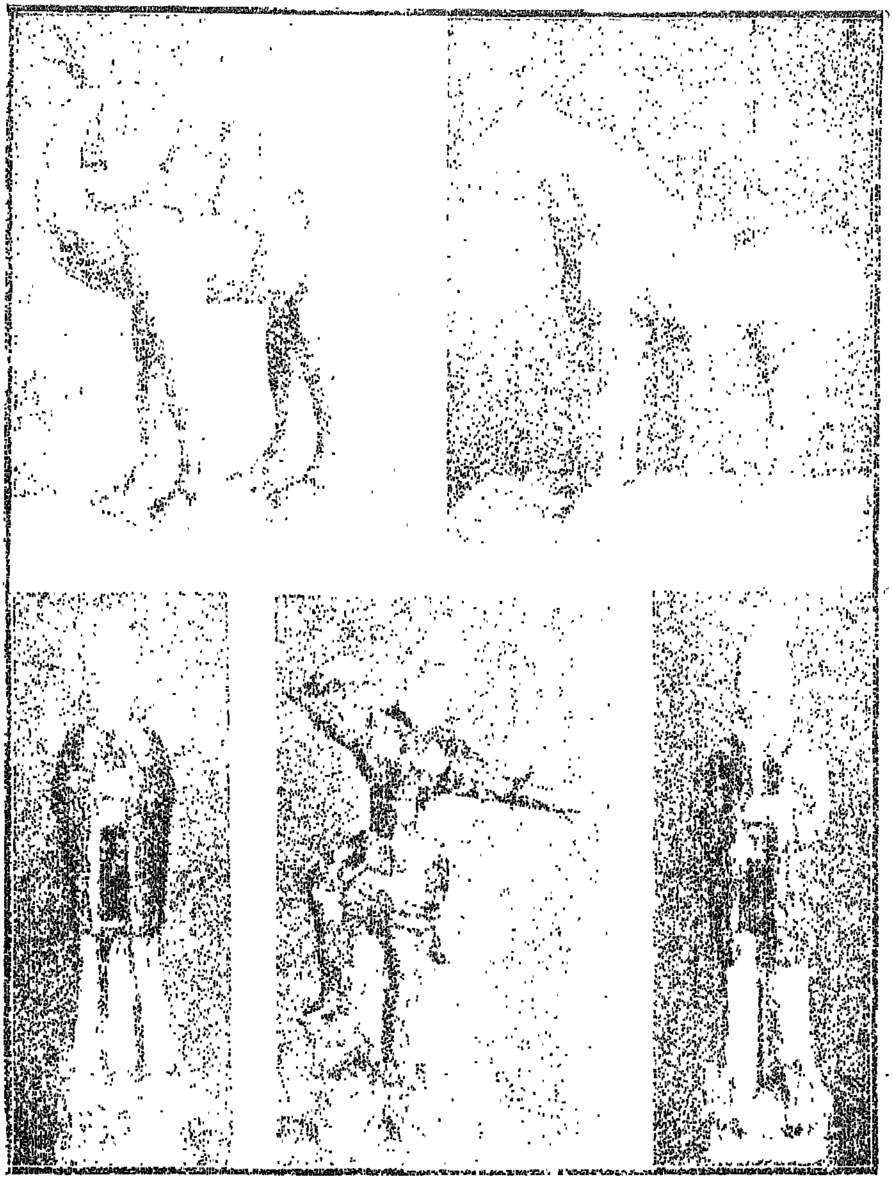
(पारसीक साम्राज्य से अपने दूत के लौटाये जाने पर) उन्होंने कहा "हे प्रभु! कैक़ुबाद से छीनकर उसके राज्य के भी इसी प्रकार टुकड़े-टुकड़े कर डाल।"

चीन देश के सुई और तङ्ग वंश

पाँचवीं और छठी, सातवीं और आठवीं शताब्दियों में, मंगोल जाति का निरन्तर प्रवाह पश्चिम की ही ओर रहा। एटिल्ला के हूण-समुदाय इस मंगोल अभिगमन के पूर्व चिह्न थे। इस प्रवाह के कारण मंगोलों के दल के दल फ़िनलैण्ड, इस्थोनिया और हंगेरी प्रदेशों में आकर बस गये और तुर्की भाषा से मिलती-जुलती भाषा बोलनेवाली इनकी सन्तान वहाँ आज तक बसी हुई है। वैसे तो बल्गेरिया-निवासी भी तुर्क हैं परन्तु उन्होंने आर्य-भाषा को अपना लिया है। आर्य जाति ने अनेक शताब्दी पूर्व जो व्यवहार ईजियन तथा सेमेटिक सभ्यता के साथ किया था वैसा ही मंगोल जाति अब यूरोप फ़ारिस तथा भारतवर्ष में आर्य-सभ्यता के साथ कर रही थी।

तुर्क (लोग) मध्य-एशिया में—जहाँ अब पश्चिमीय तुर्किस्तान है—डटकर जा बसे थे और फ़ारस ने भी इस जाति के ऊँचे पदों और अच्छे वेतन पर सैनिकों को पर्याप्त संख्या में रख छोड़ा था। वहाँ की जनता में ख़ूब घुल-मिल जाने के कारण प्राचीन पार्थ (Parthian) नामक जाति का तो इतिहास में उस समय नाम तक न मिलता था। मध्यएशिया के इतिहास में भी घूमने-फिरनेवाली आर्य जाति का नाम तक शेष न रहा था और उनका स्थान भी अब मंगोलों ने ले लिया था। कहना न होगा कि तुर्क ही इस समय कास्पियन समुद्र से लेकर चीन-पर्य्यन्त समस्त एशिया महाद्वीप के स्वामी हो गये थे।

जिस महामारी के कारण, ईसा की द्वितीय शताब्दी के अन्त में, रोम-साम्राज्य चकनाचूर हो गया था उसी ने चीन के 'हान'-वंश को भी जीवित न रहने दिया। विध्वंस करके ही उसका पीछा छोड़ा। इसके पश्चात् विच्छेद तथा हूण जाति के आक्रमणों का समय आया जिससे चीन देश, यूरोप की अपेक्षा कहीं अधिक शीघ्रता और



चीन के तंग-वंश के युग की मिट्टी की मूर्तियाँ

दृढ़ता में विश्रान्त होकर उठ बैठा। छठी शताब्दी के समाप्त होने से प्रथम ही समस्त चीन देश सुई-वंश की अधीनता में पुनः सुसंगठित हो गया था और हेराक्लियस के समय तक वहाँ पर उस वंश के स्थान में अधिकाधिक ऋद्धि-सिद्धि का युग स्थापित करनेवाले ऐश्वर्यशाली तंग-वंश की छत्र-छाया हो गई थी।

ईसा की सातवीं, आठवीं तथा नवीं शताब्दियों में चीन संसार का सबसे अधिक सुरक्षित एवं सभ्य देश था। उसकी उत्तरीय सीमा तो हान-वंश ने पहिले ही विस्तृत कर दी थी। अब सुई और तंग-वंशीय सम्राटों ने दक्षिण की ओर भी एतद्देशीय सभ्यता का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया; इस प्रकार चीन ने अपना आधुनिक विस्तृत रूप इस समय प्राप्त किया। मध्यएशिया में इस देश का विस्तार और भी अधिक हो गया था। वहाँ की राजस्व देनेवाली तुर्क जातियों को सम्मिलित कर लेने पर तो अन्त में इसकी सीमा बढ़कर फ़ारस तथा कास्पियन समुद्र तक जा पहुँची थी।

इस प्रकार जाग्रत् होनेवाला 'नवीन चीन' हान-वंशीय सम्राटों के 'प्राचीन चीन' से कहीं अधिक भिन्न था। देश में एक नवीन एवं अधिक शक्तिशाली साहित्य का प्रादुर्भाव हो गया था—अर्थात् कविता के महत् पुनरुत्थान के साथ ही साथ बौद्ध-धर्म के कारण धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों में क्रान्ति उत्पन्न हो गई थी। कला-कौशल, हस्त-नैपुण्य तथा जीवन-सम्बन्धी सुविधाओं में भी अब पहिले से कहीं अधिक उन्नति हो चली थी। चाय पीना इसी समय प्रारम्भ हुआ। काग़ज़ और लकड़ी के छापेख़ाने भी इसी समय आविष्कृत किये गये। जिन शताब्दियों में यूरोप तथा पश्चिमीय एशिया की दुर्बल प्रजा मिट्टी के घरोंदों, छोटे छोटे क़सबों और डाकुओं की गढ़ियों में जीवन काट रही थी उस समय इस देश की लाखों आत्माएँ शान्ति के साथ सुचारु रूप से अपना जीवन निर्वाह कर रही थीं। मस्तिष्क पर धार्मिक द्वेष का भूत सवार होने के कारण पाश्चात्यों के हृदय जब कलुषित हो रहे थे तब चीन के लोग राग-द्वेष छोड़, सहिष्णुता से उदार-हृदय हो, शान्तिपूर्वक इन्हीं प्रश्नों पर गूढ़ चिन्तन कर रहे थे।

हेराक्लियस ने निनेव नामक स्थान पर जिस वर्ष विजय प्राप्त की थी उसी वर्ष, अर्थात् ६२७ ई० में, तंग-वंशीय प्राथमिक शासकों में से एक ताइत्संग नामक नृपति चीन के राज-सिंहासन पर बैठा। फ़ारस के पार्श्वभाग में भी मैत्री के इच्छुक होने के कारण यवनराज हेराक्लियस ने इन चीनी नरनाथ के दरबार में अपना एक दूत भेजा। और ई० स० ६३५ में स्वयं फ़ारस देश से क्रिश्चियन-धर्म-प्रचारकों का एक समूह भी इनकी सेवा में आ उपस्थित हुआ। सम्राट् ताइत्संग ने उनके धार्मिक अभिभाषणों को ध्यानपूर्वक सुना और तत्पश्चात् उनके धार्मिक ग्रंथ बाइबिल के चीनी अनुवाद की

परीक्षा कर, इस नवीन धर्म को हृदयगम्य समझ (उनके) गिरजाघर तथा मठ दोनों ही के निर्माण करने की आज्ञा दे दी।

मुहम्मद (पैग़म्बर) के दूत भी ई० स० ६२८ में इनकी सेवा में आये थे। यह दूत-समाज सुदूर अरब देश से चलकर भारत के तट पर होता हुआ चीन के कैण्टन नामक नगर में व्यापारी-पोत द्वारा उतरा था। परन्तु हेराक्लियस और के़कुवाद की भाँति वर्ताव न कर नृपति ताइत्संग ने इनसे बड़ी शिष्टता का व्यवहार किया और न केवल इनके धार्मिक सिद्धान्तों को ही रुचिपूर्वक सुना वरन कैण्टन नगर में एक मसजिद निर्माण करने में भी इनको सहायता दी। यह मसजिद इस समय भी मौजूद है और दुनिया में सबसे पुरानी गिनी जाती है।

मुहम्मद और इसलाम

सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में संसार का सिंहावलोकन कर कोई भी ऐतिहासिक विद्यार्थी यदि यह कहता कि कुछ ही शताब्दियों के पश्चात् समस्त यूरोप और एशिया में मंगोल जाति की विजय-पताका फहराने लगेगी तो उसका यह कथन न्याय्य समझा जाता। उस समय पश्चिमीय यूरोप में न तो शान्ति थी और न परस्पर की प्रीति ही। बैज़ण्टाइन और पारसीक साम्राज्य प्रकाश्य रूप से एक दूसरे के विनाश पर तुले हुए थे; रहा भारत सो उसका भी आपस की फूट के कारण ह्रास हो गया था। चीन ही एक ऐसा देश था जहाँ उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी। वहाँ की जन-संख्या भी शायद उस समय समस्त यूरोप से अधिक होगी और उस पर तुर्रा यह था कि दिन पर दिन अधिक बल प्राप्त करनेवाली मध्य-एशिया की तुर्की जातियाँ भी चीन ही के इशारे पर नाचती थीं। यह भविष्यवाणी सम्पूर्णतया असंगत तो फिर भी न होती क्योंकि तेरहवीं शताब्दी में एक ऐसा समय अवश्य आनेवाला था कि जब डेन्यूब नद से लेकर प्रशान्त समुद्र पर्य्यन्त समस्त अन्तर्गत प्रदेशों पर एक ही मंगोल शासक का एकछत्र शासन हो गया था। बैज़ण्टाइन, फ़ारस, मिस्र और भारत के अधिक भूभागों पर शासन करना तुर्कों के भाग्य में वैसे ही बदा हुआ सा था।

पश्चिम यूरोपीय लैटिन-भाषी अंश के पुनः बल प्राप्त करने की सामर्थ्य का हमारे भविष्यवक्ता महाशय कुछ न्यून ही सा अंदाज़ा लगाते; और अरबदेशीय मरुभूमि की प्रतिच्छिन्न शक्तियों को नगण्य मानने की भूल भी अवश्य करते। वह (अरब) देश तो उनको इधर-उधर घूमने-फिरने और आपस में युद्ध करनेवाली छोटी छोटी जातियों का आश्रय-स्थान सा —जैसा वह सदा से था— दिखाई पड़ता था। इसके अतिरिक्त एक सहस्र से अधिक वर्ष बीत जाने पर भी सैमेटिक जाति ने अभी तक किसी नवीन साम्राज्य की नींव नहीं डाल पाई थी।

इसी बद्दू जाति का प्रकाश अब एक शताब्दी सरीखे अल्प काल के लिए सहसा प्रज्वलित हो उठा। स्पेन से लेकर चीन की सीमा-पर्य्यंत सर्वत्र ही इन लोगों की भाषा और सत्ता फैल गई। इस जाति ने संसार को एक नवीन संस्कृति प्रदान की और इन लोगों में उत्पन्न होनेवाला धर्म आज-पर्य्यंत संसार की अत्यंत जीवन-सम्पन्न शक्तियों में समझा जाता है।

इस अरब ज्वाला को प्रज्वलित करनेवाले व्यक्ति—मुहम्मद—मक्का नामक नगर के एक धनाढ्य पुरुष की विधवा के युवा पति के रूप से इतिहास में सर्वप्रथम पदार्पण करते हैं। चालीस वर्ष की अवस्था तक इन्होंने कोई भी ऐसा कृत्य नहीं किया था जिससे संसार में इनकी प्रसिद्धि होती। परन्तु ऐसा मालूम पड़ता है कि धार्मिक वादानुवाद इनको अत्यन्त रुचिकर लगते थे। मक्का उस समय मूर्त्तिपूजकों का प्रधान अड्डा हो रहा था और काबा नामक काले पत्थर की वहाँ विशेष रूप से पूजा की जाती थी। अरब देश में उसकी अत्यन्त प्रसिद्धि थी और वह धार्मिक यात्राओं का केन्द्र था। देश में यहूदियों की संख्या भी पर्याप्त थी। वास्तव में अरब का दक्षिणीय भू-भाग तो यहूदी-धर्म का ही अनुयायी था और सीरिया (नामक प्रान्त) में ईसाइयों के गिरजाघर भी बने हुए थे।

लगभग चालीस वर्ष की अवस्था हो जाने पर मुहम्मद में भी, बारह सौ वर्ष पूर्ववर्त्ती यहूदी पैग़म्बरों के समान, धीरे धीरे पैग़म्बरी के लक्षण प्रस्फुटित होने लगे। सबसे प्रथम उन्होंने अपनी भार्या को 'एक सत्य परमात्मा का अस्तित्व' बताया और (उनसे) यह कहा कि धर्माधर्म आचरण के फलाफल प्रसाद तथा दंड हैं। कहना न होगा कि उनके विचारों पर यहूदी तथा क्रिश्चियन धर्म की गहरी छाप पड़ी हुई थी। विश्वास लानेवाला एक लघु-संख्यक शिष्य-समुदाय भी अब उनके चारों ओर एकत्रित हो गया और प्रचलित मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध अपने ही नगर में वह फिर धीरे धीरे उपदेश भी देने लगे। नगर-निवासी मुहम्मद साहब के इन उपदेशों से असन्तुष्ट हो उनका घोर विरोध करते थे; क्योंकि मक्का का ऐश्वर्य तो प्रधानतया काबा की धार्मिक यात्रा पर ही निर्भर था। परन्तु वह अब पहिले की अपेक्षा कहीं अधिक साहस एवं स्पष्टता से उपदेश देते थे और कहते थे कि "मैं ही परमेश्वर का प्रिय और अन्तिम दूत (पैग़म्बर) हूँ। धार्मिक त्रुटियों को दूर करने के लिए ही मेरा प्रादुर्भाव हुआ है। ऐब्राहम और यीशू मसीह मेरे पूर्ववर्त्ती ईश्वरीय दूत थे। ईश्वरेच्छा के प्रकटीकरण में जो त्रुटियाँ रह गई थीं उन्हीं को दूर करने और पूर्ण रीति से प्रकट करने के लिए ही परमात्मा ने मुझको चुना है।"

उन्होंने ऐसे पद्य एकत्रित किये जिनको वह कहते थे कि ईश्वरीय दूत (फ़रिश्ता) द्वारा उनको प्राप्त हुए हैं और उन्होंने एक अद्भुत दृश्य भी देखा था जिसमें वह



नमाज़ (मरु-भूमि में)

आकाशमार्ग द्वारा ईश्वर के निकट ले जाये गये थे और वहाँ पर उनको सांसारिक मिशन (ध्येय वा कार्य-क्रम) की सम्पूर्ण शिक्षा मिली थी।

ज्यों ज्यों उपदेश प्रबल होते गये त्यों त्यों उनके नगर-निवासियों का विरोध भी तीव्र होता गया; यहाँ तक कि अन्त में उन्होंने मुहम्मद (साहब) के प्राणापहरण करने का षड्यंत्र भी रच डाला। परन्तु अपने मित्र एवं विश्वासपात्र शिष्य अबू-बकर के साथ मुहम्मद मदीना नामक मित्र नगर में बचकर चले गये। वहाँ के निवासियों ने इनके धार्मिक तत्त्वों को स्वीकार कर लिया था। इस पर मक्का और मदीना के बीच लड़ाई छिड़ गई जिसकी समाप्ति सन्धि द्वारा हुई और (उसकी शर्त्तों के अनुसार) मक्का निवासियों को भी अब 'एक सत्य परमात्मा' की पूजा करना और

मुहम्मद को ईश्वरीय दूत मानना पड़ा। परन्तु प्राचीन मूर्त्ति-पूजकों की भाँति नवीन धर्मानुयायियों के लिए मक्का की धार्मिक यात्रा फिर भी अनिवार्य रक्खी गई। निष्कर्ष यह निकला कि यात्रियों के आवागमन में कमी न करते हुए भी मुहम्मद ने मक्का में एक सत्य परमात्मा की पूजा प्रचलित कर दी। हेराक्लियस, ताईत्संग, केकुबाद आदि संसार के अन्य नरनाथों के निकट अपने दूत भेजने के एक वर्ष पश्चात् ६२९ में मुहम्मद ने स्वामी बनकर मक्का में पुनः प्रवेश किया।

इसके पश्चात् मुहम्मद अपनी मृत्यु-पर्य्यन्त अर्थात् ६३२ तक निरन्तर चार वर्ष पर्य्यन्त बचे हुए अरब प्रदेश में अपना बल बढ़ाते रहे। वृद्धावस्था में उन्होंने अपने कई विवाह भी किये। आधुनिक विचार-दृष्टि से उनका जीवन, अन्ततोगत्वा, प्रशंसा के योग्य नहीं समझा जायगा। इस मनुष्य में दम्भ, लोभ, चातुर्य्य और आत्मछल के मिश्रण के साथ ही साथ वास्तविक धार्मिक उद्वेग भी था*। आदेशों और व्याख्याओं की क़ुरान नामक एक पुस्तक भी इन्होंने लिखवाई थी जिसको ये ईश्वर द्वारा भेजी हुई कहा करते थे। साहित्यिक अथवा दार्शनिक दृष्टि से क़ुरान कदापि ईश्वर-कृत ग्रंथ (जैसा कि कहा जाता है) होने योग्य नहीं है।

मुहम्मद साहब के चरित्र और लेखों की प्रकाश्य त्रुटियों का लिहाज़ करने के बाद भी यह मानना पड़ेगा कि अरब में उनके द्वारा प्रचारित इसलाम में फिर भी अत्यन्त बल और स्फूर्त्ति-प्रदायिनी शक्ति पाई जाती है। इसका एक कारण इस धर्म का कट्टर एकेश्वरवाद और ईश्वरीय पितृत्व एवं शासन में दृढ़ सरल विश्वास तथा कर्मकाण्ड-विषयक जटिलताओं का अभाव है। दूसरा कारण बलिदान करानेवाले पुरोहितों और मंदिरों से धर्मपूर्ण पार्थक्य और स्वातंत्र्य है; पैग़म्बरीय धर्म होने के कारण अनुयायियों के रुधिरमय बलिदान करने की ओर पुनः पतन की सम्भावना शेष नहीं रह जाती। क़ुरान में मक्का की यात्रा-विषयक कर्मकाण्ड इस प्रकार सीमित कर लिखा गया है कि उसके संबंध में कोई वाद-विवाद भविष्य में नहीं हो सकता, यहाँ तक कि मृत्यु के बाद अपनी देवोपम पूजा न होने के विषय में

---

* भाषान्तर होने के कारण हमने ये वाक्य ज्यों के त्यों लिख दिये हैं; परन्तु हम इनसे सहमत नहीं हैं। पैग़म्बर साहब का जीवन कैसा था यह जानने के लिए हिन्दी पाठकों को मलक ग़ुलाम सरवरख़ाँ रचित जनाब मुहम्मद रसूलल्लाह का जीवन-चरित पढ़ना चाहिए। इस पुस्तक में एक विद्वान् और श्रद्धालु मुसलमान के दृष्टिकोण से लिखा हुआ पैग़म्बर साहब का जीवनचरित्र मिलेगा।

भी मुहम्मद साहब ने पूरा विधान कर दिया है, और रंग, स्थिति तथा मूल में पार्थक्य एवं भिन्नता होते हुए भी ईश्वर के समक्ष समस्त इसलाम-धर्मानुयायियों की समानता और सम्पूर्णतया भ्रातृभाव पर आग्रह तीसरा बलदायक कारण है।

इन्हीं कारणों से मानवीय कृत्यों में इसलाम अत्यन्त बलशाली सिद्ध हुआ। कहा जाता है कि मुहम्मद की अपेक्षा उनका मित्र और सहायक अबूबकर ही इसलाम साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था। यदि चलवृत्तियुक्त मुहम्मद का आचरण पूर्वकालीन इसलाम-धर्मरूपी शरीर का मन और विचार-तरंग था, तो अबूबकर को उसकी आत्मा तथा इच्छा-शक्ति मानना पड़ेगा। मुहम्मद का चित्त दोलायमान होने पर अबूबकर ही उनको सान्त्वना देकर दृढ़ करते थे और उनकी मृत्यु के बाद ख़लीफ़ा नियत होते ही अबूबकर ने पर्वतों तक को हिला देनेवाली श्रद्धा के साथ केवल ३०००-४००० अरब सैन्य के बल पर मुहम्मद द्वारा मदीने से ६२८ में पृथ्वी के शासकों के भेजे हुए पत्रों के आधार पर समस्त संसार को अल्लाह के झंडे के नीचे लाने के लिए स्वच्छ हृदय से सरलतापूर्वक योजना प्रारम्भ कर दी।

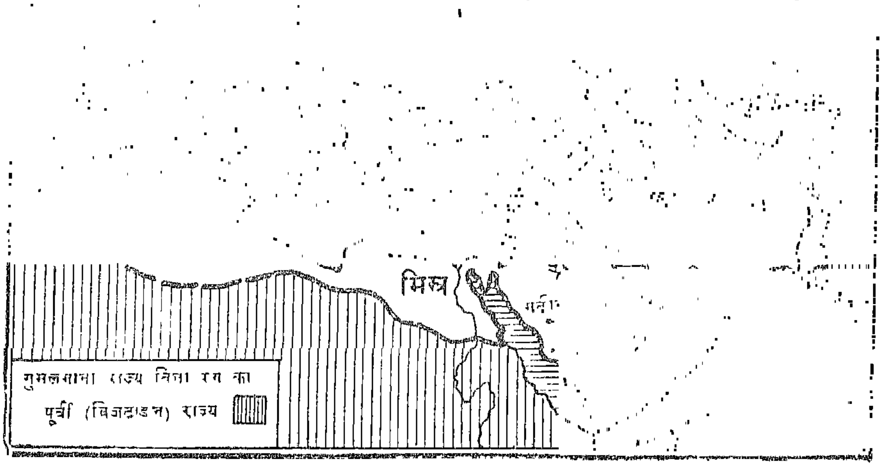
(४४)

अरबों का स्वर्ण-काल

मनुष्य के सारे इतिहास की अब अत्यन्त आश्चर्यदायक विजय-कथा प्रारम्भ होती है। बैज़ण्टाइन राज्य के सैन्यदल का तो ६३४ में यर्मूक (जॉर्डन की सहायक नदी) के युद्ध में विध्वंस कर दिया गया, और राजाधिराज हेराक्लियस फ़ारस के निरन्तर युद्धों तथा जलोदर रोग के कारण इतने शक्तिहीन हो गये थे कि सीरिया, दमिश्क, पालमीरा, एण्टिओक, जेरुसलम आदि उनके अन्य नव-विजित स्थान प्रायः बिना युद्ध किये हुए ही मुसलमानों के हस्तगत हो गये और वहाँ की जनता भी अधिक संख्या में मुहम्मदीय मतावलम्बिनी बन गई। इसके पश्चात् मुसलमानों ने पूर्व की ओर मुख मोड़ा। इस समय फ़ारस में रुस्तम नामक एक अत्यन्त चतुर सेनानायक था; और वहाँ की अतुल सैन्य में हस्तिबल भी पर्याप्त संख्या में था। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी कादेस्मिया नामक स्थान में (६३७) अरबों के साथ तीन दिन युद्ध करने के उपरान्त फ़ारस-सैन्यदल को छिन्न-भिन्न हो मैदान छोड़कर भागते ही बन पड़ा।

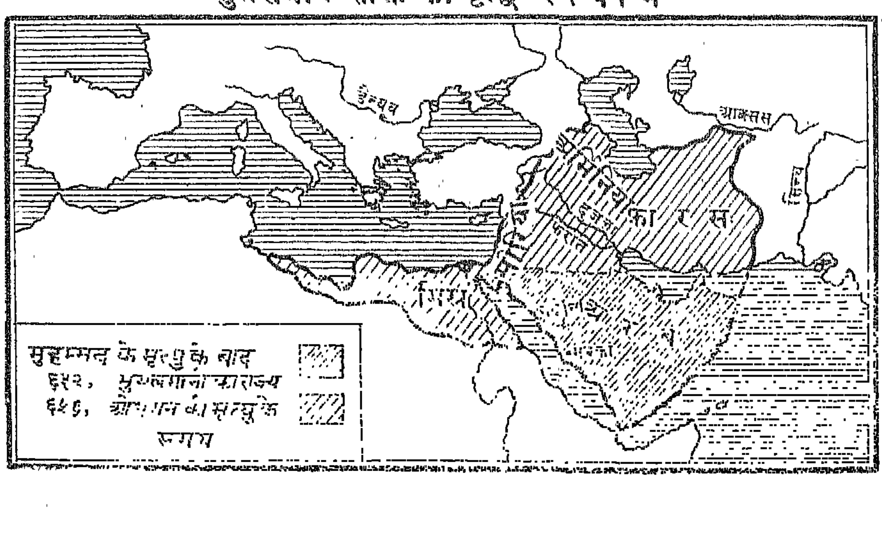
तदनन्तर मुसलमान समस्त फ़ारस पर विजयी हो गये और मुसलिम-साम्राज्य पश्चिमी तुर्किस्तान में होता हुआ उत्तरोत्तर पूर्व की ओर चीन की सीमा तक जा पहुँचा। मिस्र देश भी प्रायः बिना सामना किये हुए ही इन नव-विजेताओं के हस्तगत हो गया जिन्होंने क़ुरान को समस्त विद्याओं का भण्डार मानने के अन्धविश्वास के कारण ऐलेकज़ैंड्रिया के पुस्तकालय की पुस्तक-लेखन-कला के अन्तिम चिह्न तक समूल नष्ट कर दिये। विजय-बाढ़ उत्तरीय अफ़्रीका के तट पर होती हुई जिबराल्टर के जलग्रीव तथा स्पेन तक फैल गई। अरबों ने ७१० में स्पेन पर धावा बोला; ७२० में उनके सैन्यदल पिरेनीज़ पर्वतमाला पर जा पहुँचे और ७३२ में उनका झंडा फ्रांस के मध्य में गड़ गया था। परन्तु यहाँ पहुँचने पर पायेरियर्स के युद्ध में पराजित हो उनको सदा के लिए पुनः पिरेनीज़ पर्वतमाला

मुसलमानों का साम्राज्य ७५० ई० के पूर्व

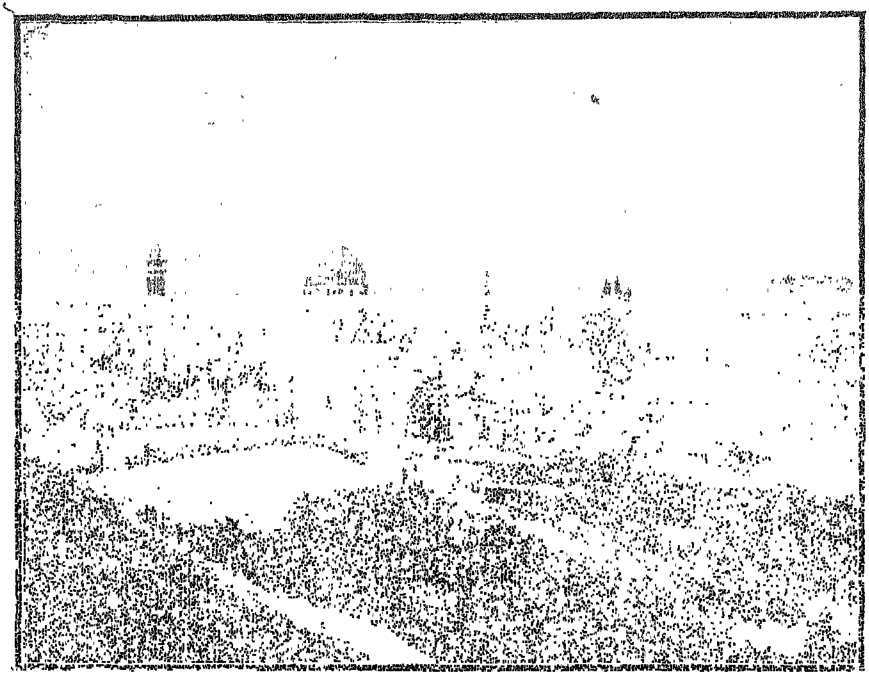


ही को लौट जाना पड़ा। मिस्र देश की विजय के कारण, एक जहाज़ी बेड़ा भी इनके पास हो जाने से, कुछ काल तक तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि काँस्टेंटिनोपिल भी मुसलमानों के अधिकार में आ जायगा। परन्तु ६७२ से लेकर ७१८ पर्यन्त समुद्रमार्ग द्वारा इस महान् नगर पर बारम्बार आक्रमण करने पर भी वह इसे अपने अधीन न कर सके।

मुसलमान शक्ति की वृद्धि २५ वर्ष में



अरबों में राजनैतिक योग्यता अल्प थी, और राजनीति का अनुभव तो उन्हें नाम को भी न था। अतएव स्पेन से लेकर चीन-पर्यन्त विस्तृत और दमिश्कनगरस्थ राजधानीवाले इस बृहत् साम्राज्य के भाग्य में शीघ्र ही छिन्न-भिन्न होना बदा-सा था। धार्मिक सिद्धान्त-विषयक भेद-भावों ने प्रारम्भ ही से इसकी एकता की जड़ खोखली कर दी थी। परन्तु हमारा अभिप्राय तो यहाँ पर केवल मानव-मस्तिष्क एवं हमारी जाति के भाग्य पर इसका प्रभाव मात्र वर्णन करना है, साम्राज्य के राजनैतिक विच्छेद की कथा बखान करना नहीं है।



जेरुसलम में उमर की मस्जिद का दृश्य

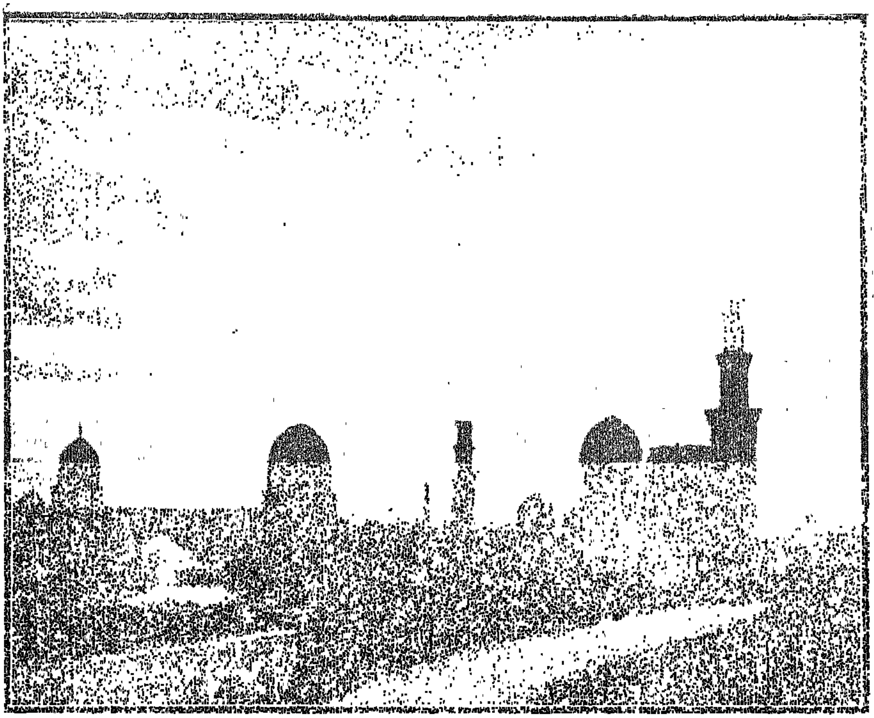
अरबों की ज्ञानज्योति सहस्र वर्ष पूर्वीय यूनानियों की अपेक्षा कहीं अधिक शीघ्रता से नाटक-वत् स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक हो संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गई थी। चीन देश के पश्चिम ओर—प्रायः समस्त जगत् में—बौद्धिक स्फूर्त्ति, प्राचीन विचारों का ह्रास तथा नवीन विचारों का विकास इस समय असाधारण रूप में हो रहा था। फ़ारस में

इस नवोत्तेजित अरब-मस्तिष्क का सम्पर्क मानी, ज़रथुस्त्र तथा क्राइस्ट के धार्मिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त यूनानी वैज्ञानिक साहित्य से भी हुआ, जो मूल-भाषा यूनानी के अलावा सीरिया की भाषाओं में अनुवाद हो जाने के कारण भी सुरक्षित था। मिस्र देश में भी उसको यूनानी शिक्षा ही उपलब्ध हुई। विचारवाद अथवा वस्तु विशेष पर विविध दृष्टि-कोण एवं दशाओं में गहन मानसिक विचार एवं वादाविवाद करने की यहूदी परिपाटी से साधारणतया सर्वत्र, और विशेषतया स्पेन में, उसका परिचय हुआ। मध्य-एशिया में उसकी चीनी सभ्यता के भौतिक लाभ तथा बौद्ध-धर्म दृष्टिगोचर हुए। इन्हीं चीनियों से अरबों ने काग़ज़ बनाना सीखा जिसके कारण छपी हुई पुस्तकों का मिलना सम्भव हुआ। अन्त में भारतीय दर्शन एवं गणित का ज्ञान भी इन लोगों ने प्राप्त किया।

फिर तो आद्यकालीन धार्मिक असहिष्णुता और अपने सर्वज्ञता के विचार—जिनके कारण केवल क़ुरान ही समस्त जगत् की एकमात्र पुस्तक समझी जाती थी—अत्यन्त शीघ्रता से कपूरवत् उड़ गये। और इसी कारण शिक्षा भी अरब विजेताओं की पदानुगामिनी होकर सर्वत्र ही फैल गई; यहाँ तक कि आठवीं शताब्दी में अरब-सभ्यता को अंगीकार करनेवाले समस्त जगत् में शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं की स्थापना हो चुकी थी। और नवीं शताब्दी में तो स्पेन देश के क़ुर्दवा नामक नगर के मदरसों की विद्वन्मण्डली क़ाहिरा, बग़दाद, बुख़ारा और समरक़न्द के पण्डितों से पत्र-द्वारा ज्ञान-विनिमय करती थी। यहूदी समाज का मस्तिष्क अरबों से अत्यन्त शीघ्रता एवं सुगमता-पूर्वक मिल गया और कुछ काल तक तो यह दोनों जातियाँ मिलकर अरबी ही के माध्यम-द्वारा कार्य करती रहीं। बुद्धि-बन्धन-द्वारा बँधे हुए अरब-भाषा-भाषी संसार की बिरादरी का अस्तित्व, अरबों के राजनैतिक रूप से दुर्बल एवं छिन्न-भिन्न होने के बहुत काल पश्चात् तक विद्यमान रहा; और तेरहवीं शताब्दी पर्यन्त इसके द्वारा अनल्प फल भी प्रकट होते रहे।

इस प्रकार वास्तविक घटनाओं और सत्य को एकत्रित करने तथा उनकी आलोचना करने की यूनानियों द्वारा प्रारम्भ की हुई प्राचीन परिपाटी सैमेटिक संसार की अद्भुत जाग्रति के कारण पुनः फैल गई। ऐरिस्टॉटल द्वारा बोया हुआ बीज और ऐलेक्ज़ैंड्रिया का अद्भुत पदार्थ-संग्रहालय (म्यूज़ियम विद्यामन्दिर)—दोनों ही—जो इतने अधिक काल से उपेक्षित एवं अक्रिय-शील हो रहे थे, अब पुनः बढ़कर फल देने लगे। गणित, वैद्यक और भौतिक विज्ञान में ख़ूब ही उन्नति हुई। रोमजातीय भद्दे अङ्कों को—अरबी अङ्कों ने जिनको हम आज-पर्यन्त बरतते हैं—स्थान-च्युत कर दिया। शून्य का चिह्न (०) भी सर्वप्रथम इसी समय व्यवहृत हुआ। 'ऐलजेब्रा' नामक अँगरेज़ी भाषा का शब्द (जिसका बीजगणित के लिए प्रयोग होता है) स्वयं अरबी भाषा का है। यही दशा कैमिस्ट्री (रसायन-

शास्त्र) नामक शब्द की है। एलगोल, एलडेबारान और बेबूटेस इत्यादि तारक-समूहों के नाम अरबों द्वारा आकाश-विजय के चिह्न रूप से अब तक सुरक्षित हैं। इन्हीं के दर्शन-शास्त्र ने फ्रांस, इटैली तथा समस्त क्रिश्चियन जगत् के मध्यकालीन दर्शनों की काया पलट कर दी।



कैरो की मस्जिद का दृश्य

अरब में, वैज्ञानिक प्रयोग करनेवालों को 'कीमियागर' कहते थे। और उस समय तक इनमें इतनी बर्बरता भरी हुई थी कि ये अपनी समस्त प्रयोग-विधियाँ तथा उनके फलों को यथासम्भव गुप्त रखते थे। आविष्कारों तथा प्रयोगों की सफलता द्वारा निजी लाभ और मानव-जीवन पर उनके कितने विशद एवं व्यापक प्रभाव पड़ने की सम्भावना है यह बात इनकी समझ में प्रारंभ ही से आ गई थी। धातुशोधन तथा कला-कौशल-सम्बन्धी अन्य बहुत से अत्यन्त लाभदायक निर्माण-कार्यों का ज्ञान इनको

हो गया था। धातु-मिश्रण, रंग-निर्माण, भाप के द्वारा अर्क खींचने का तरीका, टिंकचर, सुगन्धित द्रव्य, एनक इत्यादि अन्य बहुत सी वस्तुओं के आविष्कार भी इन्होंने सफलता-पूर्वक कर डाले। परन्तु जिन दो पदार्थों की इनको खोज थी वे फिर भी न मिल सके। इन दो पदार्थों में एक तो था पारस अर्थात् धातुओं को परिवर्त्तित करने का साधन और दूसरा था जीवन-दायक रस अथवा अमृत या विशेष प्रकार का रस जिसके पान करने पर आयु एवं सामर्थ्य बढ़ जाने के कारण मनुष्यजीवन के अनन्त काल तक बने रहने की सम्भावना हो जाती। अरबों की यह दुरूह एवं कष्टप्रद प्रयोग-विधि क्रिश्चियन जगत् में भी फैल गई। और कौतूहलजनक होने के कारण इस प्रकार की गवेषणाओं का यथेष्ट प्रचार भी हो गया। फिर ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों, परन्तु अत्यन्त धीरे धीरे, इन रासायनिकों का कार्यक्रम भी समाज में अधिकाधिक प्रचलित होने लगा। और दूसरों का सहयोग प्राप्त करने तथा अपने प्रयोगों की दूसरों के प्रयोगों से तुलना करने की तथा पारस्परिक विचार-विनिमय की आवश्यकता इन्हें मालूम पड़ने लगी। इस प्रकार शनैः शनैः अज्ञात रूप से (एक ऐसा समय भी आ गया जब) अन्तिम कीमियागर सर्वप्रथम वैज्ञानिक आविष्कारक हो गया।

प्राचीन कीमियागर चले तो थे खोज करने निकृष्ट धातुओं को सुवर्ण में परिवर्त्तित करनेवाले पत्थर की तथा अमरत्व प्रदान करनेवाले अमृतरस की, परन्तु उनके स्थान में—आधुनिक-विज्ञान सरीखी एक ऐसी विद्या उनके हाथ आ गई कि जिसके द्वारा मनुष्य को अपने भाग्य तथा विश्व के तत्त्वों पर एक न एक दिन अवश्य ही अपरिमित शक्ति प्राप्त हो जायगी।

(४५)

लैटिनीय क्रिश्चियन राज्यों की उन्नति

यह बात अवश्य ही ध्यान में रखने योग्य है कि सातवीं और आठवीं शताब्दी में आर्यों का प्रभुत्व सिकुड़कर अत्यन्त अल्प भू-भाग में रह गया था। चीन के पश्चिम ओरवाले समस्त सभ्य-संसार पर, एक सहस्त्र वर्ष पहले, आर्यभाषाभाषी जातियों ही की विजय-पताका फहरा रही थी; परन्तु इस समय मंगोल जाति यूरोप में हंगेरी प्रदेश तक घुस आई थी और बैज़ण्टाइन राज्य के एशिया माइनर नामक आधुनिक प्रान्त के अतिरिक्त समस्त एशिया, अफ्रीका और प्रायः समूचा स्पेन भी आर्यों के शासन से निकल गया था। बृहत् यूनानी साम्राज्य भी तब, सिकुड़कर, कॉंस्टेन्टिनोपिल के चारों ओर के कतिपय स्थानों तक ही परिमित रह गया था। और क्रिश्चियन धर्मावलम्बी रोमन पुरोहितों की केवल रोमन भाषा ही उस समय रोमन जगत् की अतीत स्मृति जीवित रखने का एकमात्र साधन थी। इस अवनत कथा के प्रत्यक्षतया विरुद्ध, दूसरी ओर सैमेटिक-जातीय प्राचीन परम्परा सहस्त्रवर्षीय अन्धकार युग के पश्चात् तुच्छ एवं पराधीन दशा से निकलकर पुनः उन्नत पथ की ओर अग्रसर हो रही थी।

परन्तु नॉर्डिक (Nordic) जातियों की जीवन-शक्ति इस समय तक समाप्त नहीं हुई थी। मध्य और उत्तरपश्चिमीय यूरोप में परिमित तथा निजी सामाजिक एवं दूषित राजनैतिक विचारों में निमग्न होते हुए भी ये जातियाँ अब शनैः शनैः परन्तु दृढ़ता-पूर्वक, अज्ञात रूप से एक ऐसी शक्ति की पुनःप्राप्ति के लिए अग्रसर हो रही थीं कि जो उस शक्ति की अपेक्षा, जिसका उन्होंने पहले उपभोग किया था, कहीं अधिक विस्तृत थी।

छठी शताब्दी के प्रारंभ में शक्तिशाली केन्द्रस्थ शासन का पश्चिमीय यूरोप में किस प्रकार सर्वथा लोप हो गया था इसका उल्लेख हम अभी कर चुके हैं। वहाँ पर, तब एकछत्र शासन के स्थान में अनेक स्थानीय नेता स्थान स्थान में अपने बल-बूते पर शासक बन बैठे थे; परंतु ऐसी घोर अव्यवस्था अधिक काल तक चलनेवाली न थी और इसी अराजकता में जागीरदारी (Feudalism) नामक एक ऐसी सहयोग-विधि और पारस्परिक साहाय्य करने की राह का प्रादुर्भाव हुआ जिसके चिह्न यूरोपीय जीवन में आज पर्य्यंत पाये जाते हैं। जागीरदारी

की प्रथा एक प्रकार से हमारे समाज का शक्ति-संबद्ध वर्गीकरण था। अकेला मनुष्य अपने को अरक्षित देख—थोड़ी बहुत निजी स्वतंत्रता खोकर भी—उसके बदले में सहायता और आश्रय पाने के लिए सर्वत्र ही उतारू हो गया; ऐसे ही व्यक्ति ने बलशाली मनुष्य को अपना संरक्षक अथवा प्रभु बना उसको कर देना एवं युद्ध-सेवा अर्थात् उसकी अधीनता में युद्ध करना स्वीकार कर लिया: इसके बदले में निजी संपत्ति पर उसका अधिकार स्थिर किया गया। यह प्रभु भी अपने से अधिक बड़े स्वामी का संरक्षण पाकर या आश्रित होकर रहता था। नगरों को भी इसी प्रकार फ्यूडल विधि से (जागीरदारी-प्रथानुसार) आश्रय-दाता के सहारे रहने में अधिक सुभीता हुआ और मठों तथा गिरजा-घरों की संपत्ति भी इसी बन्धन में ग्रथित हो गई। यह बात भी निःसन्देह कही जा सकती है कि बहुत स्थानों में इसके विपरीत भी आचरण हुआ अर्थात् वहाँ दीन-दुखियों के आश्रय टटोलने से पूर्व ही उनको अधीनता स्वीकार करने का बड़ों की ओर से आदेश किया गया। इस प्रकार यह प्रथा अवनतोन्मुख तथा उन्नतोन्मुख गति से सहसा प्रचलित हो सूच्याकार शिखर (Fyramid) की भाँति वर्धित हुई। वैसे तो इसमें स्थानीय विभिन्नताएँ भी ख़ूब दृष्टिगोचर होती थीं और प्रारम्भिक दशा में उत्पात और वैयक्तिक युद्ध तथा झगड़े-टंटे भी बहुत चलते रहते थे; परन्तु फिर धीरे धीरे सुव्यवस्था और शांति बढ़ते रहने के कारण न्याय का नवीन राज्य भी स्थापित हो गया। सूच्याकार शिखर (Pyramid) की उन्नति होने पर इनमें से कुछ एक तो राज्य की परिभाषा में गिने जाने योग्य हो गये। आधुनिक फ्रांस तथा नैदरलैंड (बेल्जियम और हालैंड) में क्लोविस द्वारा स्थापित किया हुआ फ़्रैंकिश राज्य छठी शताब्दी के प्रारम्भ तक ही अस्तित्व में आ गया था और फिर शीघ्र ही गौथ्स, लम्बार्ड तथा विसिगौथ्स-जातीय राज्यों की भी स्थापना हो गई।

पिरैनीज़ पर्वतमाला पार करने के पश्चात् ७२० ई० में जब मुसलमान आगे बढ़े तो उन्होंने उपरोक्त फ़्रैंक अथवा फ़्रैंकिश राज्य चार्ल्स मारटल के वास्तविक शासन में पाया जो क्लोविस नामक सम्राट् के हीन वंशधरों के महल का दारोग़ा था। और इसी चार्ल्स मारटल के हाथों पोयटीयर्स के युद्ध में (७३२) मुसलिम सेना बुरी तरह पराजित हुई। यूरोप के उस भाग का, जो आल्प्स पर्वत के उत्तर में पिरैनीज़ से हंगेरी तक फैला हुआ था, चार्ल्स मारटल ही वास्तव में सर्वोच्च शासक था और उसकी अधीनता में फ़्रेंच, लैटिन तथा हाई (High) एवं लो (Low) जर्मनभाषाभाषी बहुत से छोटे छोटे शासक शासन करते थे। उसके पुत्र पैपिन ने क्लोविस के वंशधरों को संपूर्णतया समाप्त कर, राज्य एवं राज्योपाधि तक हड़प ली और पौत्र शार्लमेन ने राज्यारम्भ के समय (७६८ में) अपने को इतने बड़े साम्राज्य का स्वामी पाया कि 'लैटिन-सम्राट्' की

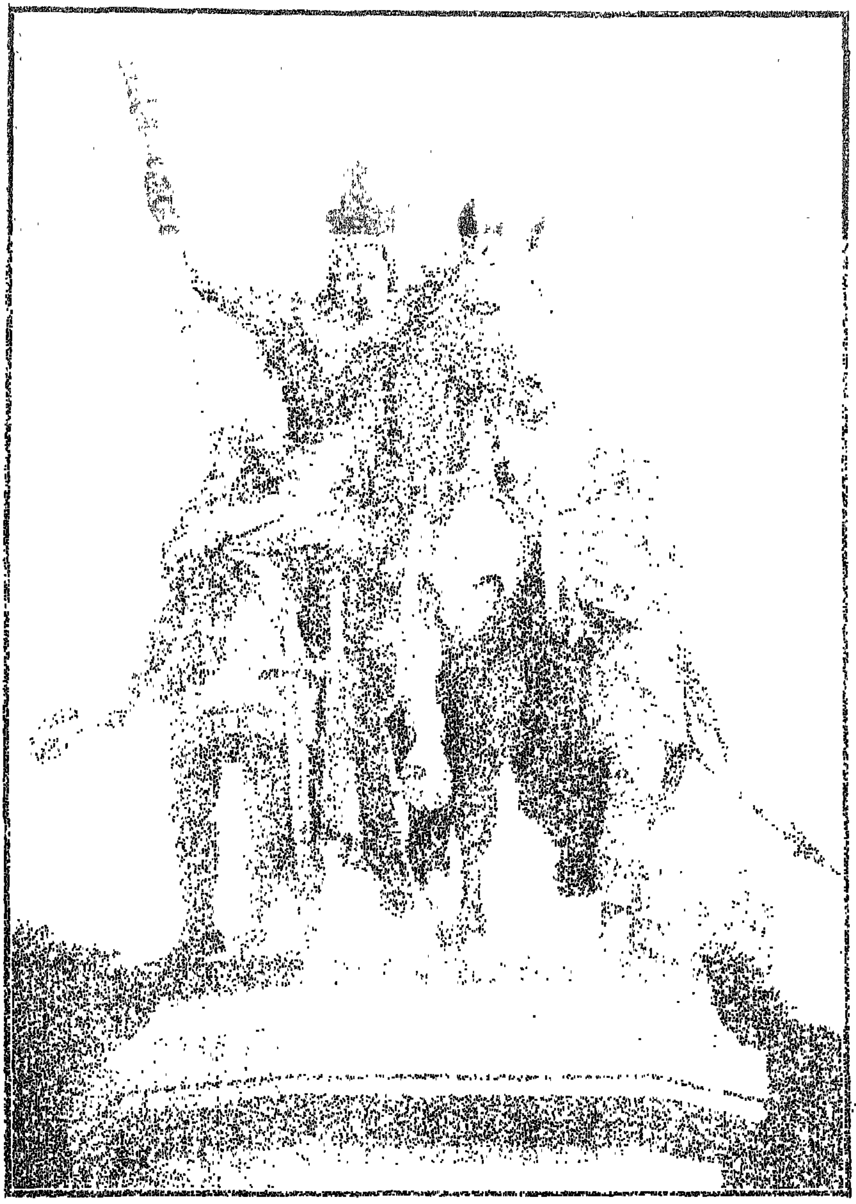
प्राचीन उपाधि को पुनः प्रचलित करने की भावनाएँ उसके चित्त में उत्पन्न हो गईं, और अन्त में इटैली के उत्तरीय भाग को जीतकर यह सम्राट् रोम का स्वामी बन ही गया।

यूरोप के इतिहास को जातीय ऐतिहासिकों की दृष्टि से न देखकर संसारेतिहास-रूपी अधिक व्यापक क्षितिज से देखने पर हम अधिक स्पष्टता एवं सरलता से समझ सकते हैं कि लैटिनीय रोम-साम्राज्य की यह प्राचीन परम्परा (अर्थात् उपाधि-धारण-सम्बन्धी प्रथा) यूरोप के लिए कितनी अधिक उन्नतिबाधक और सत्यानाशिनी थी। इस काल्पनिक सर्वोच्च पदवी को ग्रहण करने की लालसा में यूरोपीय शक्तियों का—एक सहस्र वर्ष से भी कहीं अधिक काल पर्यंत—दुःखदायक घोर पारस्परिक कलहों के कारण यों ही निरर्थक अपव्यय होता रहा। इस समय की कुछ एक शांत न होनेवाली प्रतिद्वन्द्विताओं को हम सिलसिलेवार बता भी सकते हैं। इनके कारण यूरोप के बुद्धिमानों की दशा भी पागलों की सी हो गई थी—उन्हें मानों सनक सवार हो गई थी। शार्लमेन (महान् चार्ल्स) प्रमुख सफल शासकों के मन में सीज़र बनने की लालसा एक उद्ग्राहक शक्ति का कार्य कर रही थी। शार्लमेन के साम्राज्य में विभिन्न अंशीय बर्बरतायुक्त बहुत-सी दुरूह जर्मन रियासतें सम्मिलित थीं। राइन नदी के पश्चिम ओर की इन जर्मन जातियों ने लैटिन भाषा द्वारा प्रभावित बोलियाँ बोलनी सीख लीं और अन्त में इन सबके मिलकर एक हो जाने पर आधुनिक फ्रैंच कहलानेवाली भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। राइन नदी के पूर्वस्थ, उपरोक्त जर्मन जातियों ने अपनी बोली को न त्यागा। इसी हेतु बर्बर विजेताओं के इन दो विभागों में परस्पर वार्तालाप करने की कठिनाई के कारण फूट सुगमता से पड़ गई। और इस फूट को शार्लमेन की मृत्यु के उपरान्त समस्त राज्य को राजपुत्रों में विभाजित करने की प्राचीन फ्रैंच परिपाटी ने और भी स्वाभाविक रूप दे दिया। यूरोपीय तत्कालीन इतिहास का एक दृश्य तो है शार्लमेन के समय से और उसके उपरांत सम्राट् और उसके वंशधरों का; दूसरा दृश्य है राजाओं, राजपुत्रों, ड्यूकों, बिशपों और यूरोपीय नगरों की संशयात्मक प्रभुत्व-प्राप्ति के वर्णन का; और इन सब के साथ ही साथ फ्रैंच तथा जर्मन भाषा-भाषियों के बढ़ते हुए विद्वेष का मिश्रण भी उसमें पाया जाता है। कहने को तो 'सम्राट्' पद के लिए सदा नियमानुसार चुनाव होता रहा; परन्तु वास्तव में प्रत्येक सम्राट्-पदाभिलाषी पुरुष के हृदय में लड़-झगड़कर किसी प्रकार स्थानान्तरित एवं हीनप्राय रोम पर आधिपत्य कर वहाँ अपना राज्याभिषेक कराने की अभिलाषा ही सर्वोच्च विद्यमान रहती थी।

यूरोपीय राजनैतिक जगत् में अराजकता उत्पन्न करनेवाला एक अन्य हेतु था—रोमन चर्च अर्थात् क्रिश्चियन सम्प्रदाय-विशेष का यह दृढ़ निश्चय कि रोम के पोप के

अतिरिक्त अन्य सांसारिक राजपुत्र को वह वास्तविक सम्राट् ही नहीं मान सकता। पौन्टि-फ़ेक्स मैक्सिमस अर्थात् सर्वोच्च पारलौकिक अधिपति तो वह पहले से ही था; दिन प्रतिदिन क्षय होनेवाला (अर्थात् रोम) व्यावहारिक रूप से उसके अधीन था। कभी केवल सैन्यदल की थी; परन्तु उसके स्थान में सुव्यवस्थित रूप से समस्त लैटिन जगत् में घोर आन्दोलन करनेवाले पुरोहितों की पर्याप्त संख्या पोप के अधीन थी। मानव-शरीरों पर कोई अधिकार न होते हुए भी जनता के विचारानुसार नरक तथा स्वर्ग की चाबी तो उसी के हाथों में थी और इस भाँति मानवात्माओं पर वह गहरा प्रभाव डाल सकता था। फलतः मध्यकालीन राजपुत्र जिस समय अपने प्रतिस्पर्धियों की समता करने, नीचा दिखाने और सर्वोच्च पद प्राप्त करने के दाँव-पेच कर रहे थे उसी समय रोम के पोप साहस, कौशल और कभी कभी क्षीणता से क्रिश्चियन संसार के महाप्रभु के नाते इन समस्त राजपुत्रों को अपने अधीन करने के कपट-प्रबन्ध में व्यग्र थे। (पोपों के लिए क्षीण शब्द का प्रयोग इसलिए किया कि इस पद पर बहुधा वृद्ध पुरुष ही नियुक्त किये जाते थे और औसत लगाने पर एक पोप का राज्य दो वर्ष से अधिक नहीं होता।)

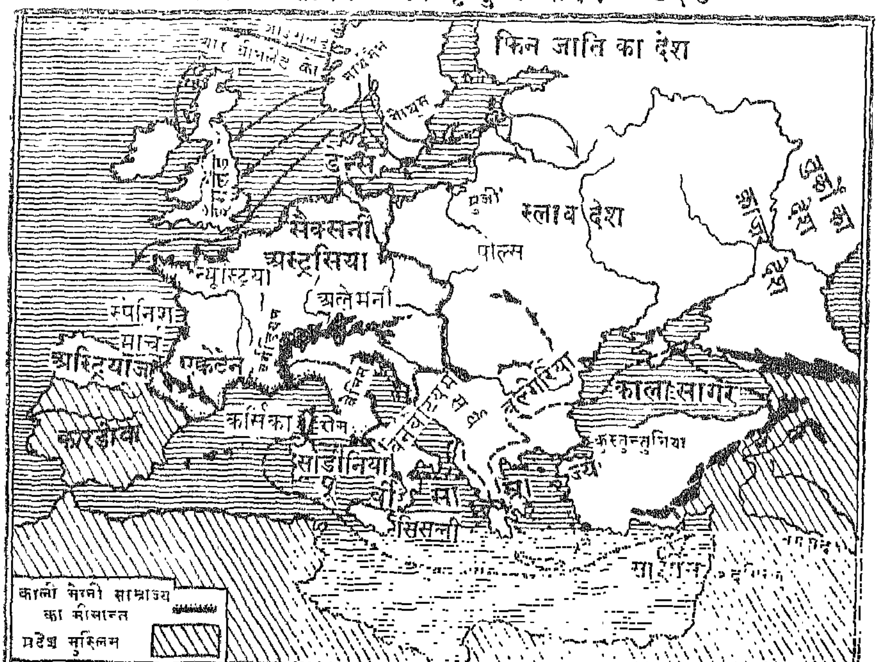
परन्तु यूरोपीय अराजकता का दृश्य राजपुत्रों के पारस्परिक द्वेष तथा सम्राट् और पोप की कलह-कथाओं से ही समाप्त नहीं हो जाता। कॉन्स्टेन्टिनोपिल में अभी तक ग्रीक-भाषी सम्राट् मौजूद था जो यह दावा करता था कि समस्त यूरोप मेरे अधीन है। जब शार्लमेन ने साम्राज्य के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया तो वह केवल लैटिनीय भाग का ही पुनरुत्थान सफलतापूर्वक कर सका। लैटिनीय और ग्रीक साम्राज्य में प्रतिद्वंद्विता का भाव तो नैसर्गिकतया वैसे ही सुगमता से बढ़ जाना चाहिए था। उसमें फिर इञ्जील के ग्रीक तथा लैटिन पाठान्तर माननेवाले भिन्न भिन्न क्रिश्चियन संप्रदायों की पारस्परिक प्रतियोगिता ने तो मानो जलती हुई अग्नि में घी का काम किया (दोनों साम्राज्यों में इस कारण और भी सुगमता से घोर विद्वेष फैल गया)। रोम के पोप तो क्राइस्ट के पट्ट शिष्य सेंट (महात्मा) पीटर के उत्तराधिकारी के नाते अपने को सर्वत्र ही समस्त क्रिश्चियन समुदाय का प्रमुख घोषित करते थे, पर कॉन्स्टेन्टिनोपिल के सम्राट् और कुलपति (Patriarch) दोनों ही उनका यह दावा मानना न चाहते थे। इस बीच में, होली ट्रिनटी अर्थात् पवित्र त्रिमूर्त्ति के सिद्धांत-विषयक एक अतीव सूक्ष्म मतभेद पर दीर्घकालीन वादविवाद के पश्चात् १०५४ में दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। इस समय से ग्रीक और लैटिन धर्म संप्रदाय सम्पूर्णतया पृथक् होकर एक दूसरे के स्पष्ट विरोधी बन गये। मध्यकालीन राज्यों को मथित कर क्षति पहुँचानेवाले उपरोक्त हेतुओं में इस मतभेद को भी एक अन्य हेतु मानकर सम्मिलित करना चाहिए।



चार्ल्स मेग्नी का स्टैच्यू (पेरिस में नोट्रे डेम के सामने)

इस विभक्त क्रिश्चियन संसार पर अब तीन वाह्य शत्रुओं की आघातरूपी वर्षा प्रारम्भ हो गई। नार्थमैन अर्थात् उत्तरीय दिशा से आने के कारण इस नाम से प्रसिद्ध नार्डिक नामक जातियां इस समय तक बाल्टिक तथा उत्तरीय समुद्र के निकट वास किया करती थीं। ये लोग विवश हो अत्यन्त कठिनता से सुदीर्घ-काल में क्रिश्चियन धर्म में दीक्षित हुए थे। समुद्र-यात्रा करना और समुद्र में डाका डालना इनका व्यवसाय था।

योरप — शार्लमनी की मृत्यु के समय — ८१४



स्पेन पर्यन्त समुद्र के किनारे रहनेवाली ईसाई जनता को ये लोग डाके डालकर लूटा करते थे। आधुनिक रूस देश की नदियों की राह, नौकानयन द्वारा निर्जन मध्यस्थ भूमि पर पहुँचने के उपरान्त इन जातियों ने अपने पोतों के मुख दक्षिणगामी नदियों की ओर फेर दिये थे; कॉस्पियन तथा कृष्णसागर भी इनकी लूट-खसोट से न बचे। रूस में इन्होंने अपनी राजधानियाँ स्थापित कीं। ये ही लोग सर्वप्रथम रूसी कहलाये। कॉस्टेन्टिनोपिल का विख्यात नगर तब उत्तरीय पुरुषों की इस रूसी जाति के हस्तगत

होने से बाल बाल ही बचा था। इँगलिस्तान नवीं शताब्दी के पूर्व भाग में 'लो-जर्मन' नामक क्रिश्चियन धर्मावलंबीय जाति का देश था और महान् चार्ल्स का शिष्य एवं आश्रित 'एगबर्ट' वहाँ का राजा था। इसके उत्तराधिकारी महान् एलफ्रेड' नामक राजा से (८८६ में) उत्तरीय पुरुषों ने आधा राज्य छीनने के पश्चात् कैन्यूट की अध्यक्षता में (१०१६) समस्त देश ही अपने हस्तगत कर लिया। इसी प्रकार 'गैंगर' उपाधिधारी रॉल्फ़ नामक व्यक्ति की अध्यक्षता में इन्हीं उत्तरीय पुरुषों के एक अन्य समुदाय ने फ्रांस का उत्तरीय भाग जा दबाया जो पीछे से नार्मण्डी के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कैन्यूट का शासन न केवल इँगलैंड वरन् समस्त नॉरवे और डेनमार्क तक फैला हुआ था, परन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त यह क्षणिक साम्राज्य बर्बर जातियों में प्रचलित उत्तराधिकारियों की राज्य-विभाजन-प्रथा-रूपी राजनैतिक दुर्बलता के कारण शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गया। उत्तरीय लोगों के इस क्षणिक ऐक्य के इस चिरस्थायी हो जाने पर क्या क्या घटनाएँ घटित होतीं, इसके चिंतनमात्र से हृदय अनुरंजित होने लगता है। वे एक अत्यन्त शूर तथा शक्तिशाली जाति के लोग थे। पतवारों द्वारा खेये जानेवाले अपने एक खन के जहाज़ों में बैठकर ही वे आइसलैंड और ग्रीनलैंड तक जा पहुँचे थे। यूरोप की इसी जाति ने अमेरिका की भूमि में सर्वप्रथम पदार्पण किया था। कालांतर में इन्हीं साहसी नॉर्मन जातीय पुरुषों ने सिसली नामक द्वीप को 'मूरों' (सारासेन-मुसलमानों) से छीन लिया और रोम नगर को खूब लूटा। कैन्यूट का राज्य ही वृद्धि पाकर या अमेरिका से रूस पर्यन्त फैलकर इन समुद्रबलप्रधान उत्तरीय जातियों को किस प्रकार शक्तिशालिनी बना देता, इसके ध्यान-मात्र से चित्त विस्मित हो उठता है।

जर्मन और लैटिन सभ्यतानुयायी अन्य यूरोपीय जातियों के पूर्व की ओर 'स्लाव' कबीलों तथा तुर्क जातियों का जमघट था, परंतु इनमें मग या हंगेरियन कहलानेवाली जाति विशेषतया उल्लेखयोग्य है जो समस्त आठवीं और नवीं शताब्दी पर्यन्त पश्चिम ही की ओर अग्रसर हो रही थी। शार्लमेन (महान् चार्ल्स) ने तो इनका वेग कुछ काल पर्यन्त अवश्य रोका परंतु उसकी मृत्यु के उपरान्त आधुनिक हंगेरी प्रदेश में बसकर इन लोगों ने सजातीय पूर्वपुरुष हूणों की भाँति यूरोप के सुव्यवस्थित भू-खण्डों पर प्रत्येक वर्ष ग्रीष्म ऋतु में आक्रमण कर लूट मार करना प्रारम्भ कर दिया था। ९३८ में तो ये लोग जर्मन देश में होते हुए फ्रांस में जा पहुँचे और फिर वहाँ से नगरों को जलाते और प्रजा को लूटते-खसोटते आल्प्स पर्वत-माला को पार कर उत्तरीय इटैली की राह अपने देश को लौट गये।

अन्तिम शत्रु-समूह मुसलमान-समुदाय था जो दक्षिण दिशा की ओर से रोम-साम्राज्य के निकट तक मूर्छित करने का प्रयत्न कर रहा था। कहना चाहिए कि इन लोगों ने भी समुद्रों पर अपना पूर्ण अधिकार सा जमा रक्खा था: केवल उत्तरीय पुरुष—अर्थात् कृष्ण समुद्र की उत्तरीय रूसी जाति और पश्चिमोत्तरीय पुरुष ही—जलथल में इनके उग्र प्रतिद्वंद्वी थे।

इन अधिक शक्तिशाली एवं प्रथमाक्रमणकारी जातियों, अज्ञात शक्तियों तथा विविध अनिरूपित आपदाओं से परिवेष्टित होते हुए शार्लमेन तथा उसकी मृत्यु के उपरान्त अन्य यशस्काम आत्माओं ने, पवित्र रोम-साम्राज्य के नाम से पश्चिमीय साम्राज्य के पुनरुत्थान-रूपी नाटक के अभिनय करने का निष्फल प्रयत्न किया था। इधर तो शार्लमेन के पश्चात् पश्चिमीय यूरोप के राजनैतिक जीवन पर उपरोक्त प्रयत्न-रूपी भूत की सनक सवार हुई और उधर पूर्व में रोम-साम्राज्य के यूनानदेशस्थ अर्ध भाग की शक्ति का दिन-प्रतिदिन ह्रास होने लगा, यहाँ तक कि अन्त में दूषित व्यापारप्रधान कुस्तुन्तुनिया नगर तथा उसके चारों ओर की कतिपय वर्गमील भूमि के अतिरिक्त उस साम्राज्य के अधीन कुछ भी शेष न रहा। शार्लमेन के समय से लेकर अगले सहस्र वर्ष पर्यन्त यूरोप महाद्वीप राजनैतिक दृष्टि से परम्परागामी एवं कल्पनाहीन बना रहा।

शार्लमेन का नाम अत्यन्त व्यापक होते हुए भी यूरोपीय इतिहास में उसका व्यक्तित्व अतीव अस्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। लिखने और पढ़ने में स्वयं असमर्थ होने पर भी सम्राट् के हृदय में विद्वानों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति थी; भोजन के समय किसी पुस्तक का उच्च स्वर से पाठ सुनना उसको बहुत रुचता था, धार्मिक वाद-विवाद से भी उसे प्रेम था। शिशिर ऋतु में आइ-ला-शापेल तथा मेयन्स नगर के वास-स्थान में सम्राट् विद्वानों की गोष्ठी में बैठकर उनके पारस्परिक वार्तालाप ही से तद्विषयक बहुत सी बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेते थे और ग्रीष्म ऋतु के आगमन पर, उनका स्पेनदेशीय मुसलमानों, स्लाव, मग और प्रतिमा-पूजक अवशेष जर्मन जातियों से पुनः युद्ध ठन जाता था। यह बात संदिग्ध है कि रोम्युलस ऑगस्टस के पश्चात् सीज़र बनने की अभिलाषा उनके हृदय में उत्तरी इटैली अधीन करने से प्रथम, स्वयं उत्पन्न हुई अथवा पोप लियो तृतीय ने सुझाई जो लैटिनीय क्रिश्चियन सम्प्रदाय का कुस्तुन्तुनिया से विच्छेद कराने का इच्छुक था।

कारण यह कि भावी सम्राट् को राजमुकुट पोप द्वारा समर्पित हुआ या नहीं इसको सर्वथा गुप्त रखने के लिए रोम नगर में इस समय अत्यन्त असाधारण युक्तियों से काम लिया गया था। अन्त में सन् ८०० के क्रिसमस (अर्थात् २५ दिसम्बर) को रोम नगर के

प्रसिद्ध गिरजा सेंट पीटर में इस दर्शक विजेता को प्रार्थना करते समय पोप ने सहसा राजमुकुट पहिराने में सफलता प्राप्त की। राजमुकुट लाया गया और शार्लमेन के मस्तक पर रखकर पोप ने उसको सीज़र तथा अगस्टस के नाम से सम्बोधित किया। जनता ने भी इस कृति पर सहर्ष करतलध्वनि की। शार्लमेन को यह कार्यप्रणाली न रुची और पराजय-सदृश यह घटना उसके हृदय में सदा शल्य की भाँति खलती रही यहां तक कि अपने पुत्र के लिए इस सम्बन्ध में वह अत्यन्त सावधानता से सर्वथा-पूर्ण उपदेश भी छोड़ गया था कि वह पोप को अपने मस्तक पर राजमुकुट धरने का अवकाश ही न दे, वरन स्वयं राजमुकुट ग्रहण कर अपने हाथों से मस्तक पर धारण कर ले। इसका फल यह हुआ कि सम्राट् पद के पुनर्जीवित होते ही पोप और सम्राट् के मध्य श्रेष्ठता के प्रश्न पर शताब्दियों तक चलनेवाला कलह उत्पन्न हो गया। परन्तु पिता की आज्ञा न मानकर शार्लमेन का पुत्र, जो पवित्र लुई के नाम से विख्यात हुआ, स्वयमेव सम्पूर्णतया पोप का वशवर्त्ती हो गया।

पवित्र लुई के देहावसान पर शार्लमेन का साम्राज्य छिन्न-भिन्न, और फ्रेंचभाषी तथा जर्मनभाषी फ्रैंक जातियों का पारस्परिक भेद और भी अधिक हो गया। इसके पश्चात् सैक्सनजातीय ऑटो, सम्राट् पद पर प्रतिष्ठित हुआ। वह हैनरी का पुत्र था जिसका उपनाम 'फ़ाउलर' था। जर्मनदेशीय राजकुमारों तथा पादरियों ने उसको अपनी सभा में (९१९ में) जर्मन देश का राजा निर्वाचित किया था। ऑटो ने रोम पर आक्रमण किया और ९६२ ई० में सम्राट् पद पर उसका अभिषेक किया गया। ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में इस सैक्सन वंश का अन्त हो जाने पर अन्य जर्मन शासकगण इनके स्थान में आ डटे। फ्रेंच (बोली) बोलनेवाले पश्चिमीय सामन्त राजपुत्रों तथा सरदारों ने कार्लोविजियन वंश—अर्थात् शार्लमेन के वंशजों—का अन्त हो जाने पर भी इन जर्मन सम्राटों की अधीनता कभी स्वीकार न की और न ब्रिटेन का कोई भू-भाग ही कभी इस पवित्र रोम-साम्राज्य का अंश बना। नार्मण्डी के ड्यूक, फ्रांस के राजा तथा अन्य कतिपय क्षुद्र जागीरदार शासकगण इसके बाहर ही रहे।

फ्रांस, ९८७ ई० में, शार्लमेन के वंशजों के हाथ से निकलकर ह्यू कैपेट की अधीनता में आ गया और इसी व्यक्ति के वंशधर वहाँ अठारहवीं शताब्दी पर्य्यन्त राज्य करते रहे। परन्तु ह्यू कैपेट के समय में फ्रांस के राजा की हुकूमत पैरिस नगर तथा उसके चारों ओर के कुछ भू-भाग तक ही परिमित थी।

हैराल्ड हैड्राडा नामक राजा की अध्यक्षता में नारवे के उत्तरीय पुरुषों ने और नारमण्डी के ड्यूक की अधीनता में लैटिन सभ्यतानुयायी उत्तरीय पुरुषों ने इँगलैंड पर, प्रायः एक ही समय, आक्रमण किया (१०६६ ई०)। प्रथम आक्रमणकारियों को तो

इँगलैंड के राजा हेराल्ड ने स्टैम-फ़ोर्ड-ब्रिज नामक स्थान में पराजित किया परन्तु द्वितीय शत्रु का हेस्टिंग्ज़ नामक स्थान में सामना करने पर वह स्वयं मारा गया और अँगरेज़ सेना को हार माननी पड़ी। नार्मन जाति द्वारा इस प्रकार विजित होने पर इँगलैंड का स्कैंडेनेविया, रूस तथा इन देशों से संपर्क न रहा और फ़्रांस से मैत्री तथा शत्रुता का गाढ़ सम्बन्ध स्थापित हुआ। और अगली चार शताब्दियों तक अँगरेज़ लोग फ़्रांसीसी जागीरदार राजकुमारों के पारस्परिक झगड़ों में फँसकर फ़्रांस के मैदानों में नष्ट-भ्रष्ट होते रहे।

धर्मयुद्ध और पोप के उपनिवेशों का समय

यह मनोहर वार्ता भी स्मरण रखने योग्य है कि शार्लमेन और खलीफ़ा हारूँउल-रशीद—अलिफ़लैला में वर्णित हारूँरशीद—एक दूसरे के समसामयिक थे। इसके लेख-बद्ध प्रमाण मिलते हैं कि खलीफ़ा ने बग़दाद से—जहाँ दमिश्क से हटाकर मुसलमान साम्राज्य की राजधानी स्थापित की गई थी—दूतों द्वारा एक सुन्दर डेरा, जल-घटिका, हाथी और पवित्र समाधि अर्थात् ईसा मसीह की क़ब्र की कुंजियाँ यूरोपीय सम्राट् के दरबार में उपहार-रूप से भिजवाई थीं। अन्तिम उपहार तो केवल बैज़नटाइन तथा 'नवीन' पवित्र रोम-साम्राज्य को कान पकड़कर चुनौती देते हुए इस श्लाघनीय अभिप्राय से भेजा गया था कि उनको ज्ञात हो जाय कि जेरुसलम के क्रिश्चियन धर्मावलम्बी वास्तव में किसके आश्रित हैं।

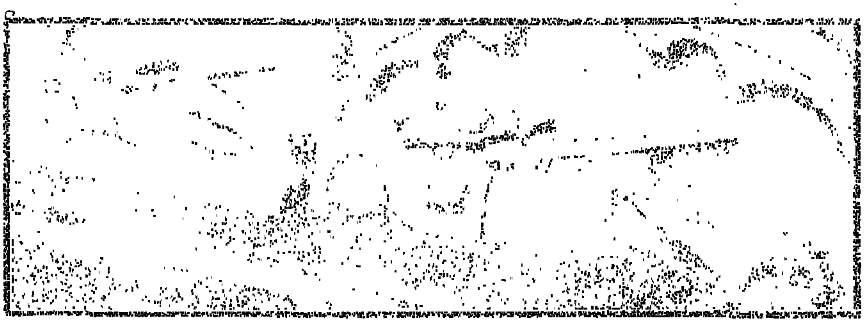
इन उपहारों से हमको स्मरण हो आता है कि नवीं शताब्दी में यूरोप महाद्वीप जिस समय पारस्परिक युद्ध तथा लूट-खसोट-रूपी समुद्र-तरंग में प्लावित हो रहा था, उसी समय मिस्र और मैसोपोटामिया तक विस्तृत सभ्य अरब साम्राज्य की - जिसके सामने यूरोप की समस्त सभ्यता नगण्य थी—दिन प्रतिदिन पुष्पोद्यानवत् श्री-वृद्धि हो रही थी। साहित्य और विज्ञान वहाँ पर अब भी जीवित थे; कला-कौशल की उत्तरोत्तर उन्नति हो रही थी और मनुष्यों के मस्तिष्क भय तथा अन्ध-विश्वास से विहीन थे। स्पेन और उत्तरीय अफ़्रीका में भी जहाँ मुसलमान-साम्राज्य दिन-प्रतिदिन राजनैतिक अराजकता के गड्ढे में धँसता जाता था, मानसिक जीवन अत्यन्त ही प्रबल एवं दृढ़ था। इन समस्त शताब्दियों में जब समस्त यूरोप पर अन्धकार की गहरी घटा छा रही थी, अरब और यहूदी जातियाँ ऐरिस्टौटिल नामक प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक के ग्रंथों का अध्ययन एवं उनपर वादाविवाद कर रही थीं। और इस प्रकार इन लोगों के द्वारा भौतिक विज्ञान तथा दर्शन शास्त्र के उपेक्षित बीजों की रक्षा हुई।

खलीफा के राज्य के पूर्वोत्तर कोण में बहुत सी तुर्क जातियाँ निवास करती थीं। दक्षिणवासी प्रयत्नशील और उत्तम मस्तिष्कवाले अरबों, तथा पारसियों की अपेक्षा इन लोगों का विश्वास इसलाम धर्म में, जिसको इन्होंने स्वीकृत कर लिया था, कहीं अधिक सरल एवं उग्र था। दशवीं शताब्दी में एक ओर तो यह तुर्क जातियाँ प्रबल शक्तिशालिनी हो रही थीं और दूसरी ओर अरबों का बल विभक्त एवं क्षीण हो रहा था। चौदह शताब्दी पूर्व बैबिलोन साम्राज्य में जो स्थान मेद नामक जाति का था वही अब खलीफा के शासनकाल में इन तुर्कों ने प्राप्त कर लिया। ग्यारहवीं शताब्दी में सलजूक तुर्कों के एक कबीले ने मैसोपोटामिया में घुसकर खलीफा को नाममात्र का स्वामी परन्तु वास्तव में बन्दी और अपने हाथ की कठपुतली बना लिया। फिर, आरमीनिया विजयोपरान्त इन्होंने एशिया माइनर नामक प्रदेश में जाकर बैज़एटाइन साम्राज्य के अवशेषों का अन्त कर डाला; और १०७१ में मेलासगर्द के युद्ध में बैज़एटाइन राज्य की सेना संपूर्णतया दलित हो गई और तुर्कों ने इस प्रबल वेग से धावा बोला कि एशिया में बैज़एटाइन राज्यसत्ता का चिह्न तक शेष न रहा। फिर निशिया (Nicaea) नामक दुर्ग को कुस्तुनतुनिया से छीनकर वे लोग स्वयं कुस्तुनतुनिया को हस्तगत करने में कटिबद्ध हो गये।

बैज़एटाइन सम्राट् 'सप्तम माइकेल' इस समय अत्यन्त भयभीत हो रहा था। एक ओर तो वह दुराज़्ज़ो नामक स्थान को अधिकृत करनेवाले नार्मन जाति के एक समुदाय से घोर युद्ध में घिरा हुआ था और दूसरी ओर उसको डेन्यूब पर आक्रमण करनेवाली पैटशैनेग नामक एक भयङ्कर तुर्की जाति से मुक़ाबिला लेना पड़ रहा था। सम्राट् ने विवश हो सभी से सहायता की याचना की परन्तु यह बात स्मरण रखने योग्य है कि 'पश्चिमीय सम्राट्' के सम्मुख हाथ न फैलाकर उसने लैटिनीय क्रिश्चियन सम्प्रदाय के प्रमुख रोम के पोप—से ही इस सम्बन्ध में साहाय्य की प्रार्थना की थी। और पोप सप्तम ग्रेगरी तथा उसके उत्तराधिकारी ऐलैक्सियस कामनेनस एवं 'द्वितीय-अरबन' से तो उसने अत्यन्त ही आग्रह किया था।

यूनानी और लैटिन क्रिश्चियन संप्रदायों में पारस्परिक भेद हुए अभी पूरे पच्चीस वर्ष न हुए थे। तत्कालीन वादाविवाद को लोग इस समय तक न भूले थे। जनता के चित्त में उसकी स्मृति अब भी हरी थी। बैज़ण्टियन अथवा बैज़एटाइन साम्राज्य पर यह आपदा गिरी देख पोप ने अवश्य ही अपने चित्त में विरोधी यूनानियों के हृदयों पर लैटिनीय सम्प्रदाय की महत्ता का सिक्का बैठाने का इसको एक अच्छा अवसर समझा। इसके अतिरिक्त इस घटना से पोप को दो समस्याओं के सुलझाने का अवसर भी प्राप्त

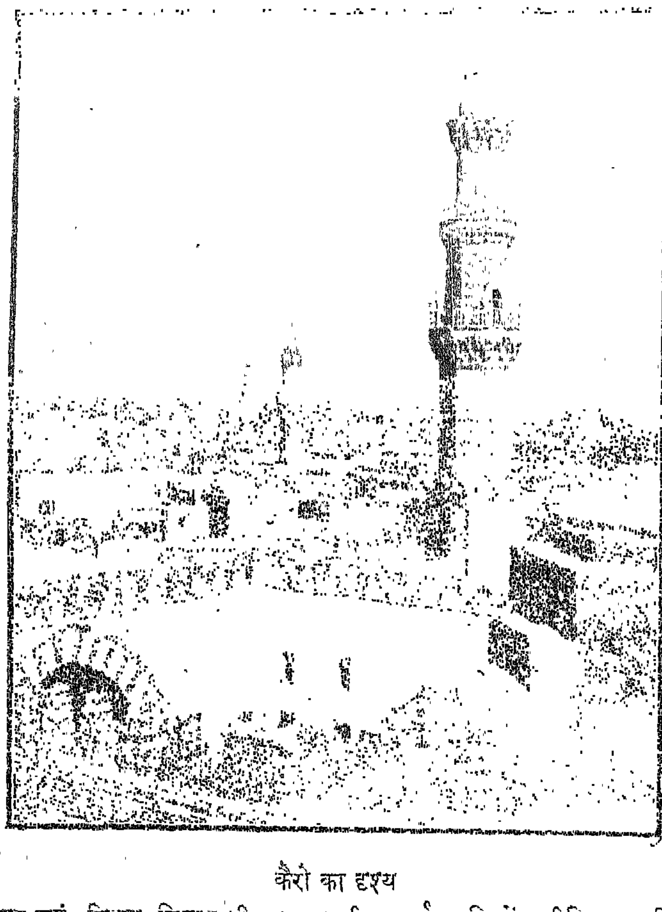
हुआ जो पश्चिमीय क्रिश्चियन साम्राज्य को अत्यन्त ही पीड़ित कर रही थीं। इनमें प्रथम समस्या थी—*वैयक्तिक युक्त युद्ध करने की प्रणाली जिससे सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न* हो रही थी और द्वितीय समस्या थी-लो जर्मन तथा क्रिश्चियन धर्म में दीक्षित उत्तरीय पुरुषों (Northmen) और उनमें भी विशेषतया फ्रैंक और नार्मन जाति की असीम युद्ध-शक्ति। इनको सुलझाने के लिए अब जेरुसलम के तुर्की विजेताओं के विरुद्ध धार्मिक युद्ध—अर्थात् क्रूसेड्स और क्रिश्चियन लोगों के वैयक्तिक युद्धों में क्षणिक अथवा अस्थायी संधि की घोषणा कर दी गई। पवित्र समाधि अर्थात् ईसा मसीह की क़ब्र को नास्तिकों से छीनकर अपने अधीन करना इस युद्ध का उद्देश्य था। पीटरनामक एक यति ने समस्त फ्रांस और जर्मनी में घूमकर इसका अत्यन्त विशद और सार्वलौकिक विधि से ख़ूब ही प्रचार किया। मोटे मोटे वस्त्र पहिरे, नंगे पैर गदहे पर सवार हो, एक भारी क्रूस (Cross) वहन किये हुए यह व्यक्ति गली, हाट, गिरजाघर-सभी स्थानों में सर्वसाधारण के सम्मुख उद्वेगजनक भाषण देता था। वह क्रिश्चियन यात्रियों के साथ तुर्कों के निर्दय व्यवहार की भर्त्सना करता और पवित्र समाधि पर क्रिश्चियनाभिभिन्न मतावलंबियों के अधिकार को लज्जा-जनक बताकर धिक्कारता था। शताब्दियों से दिये जा रहे ख़ीष्टधर्मीय उपदेशों का प्रतिफल भी अब व्यावहारिक रूप से व्यक्त हो गया। उत्साह की तुङ्ग तरङ्ग ने समस्त पश्चिमीय संसार को प्लावित करके लोक-सम्मत क्रिश्चियन धर्म (Popular Christendom) की धारा प्रवाहित कर दी।



एक्ज़ेटर कैथेड्रल में धार्मिक युद्ध में काम आये व्यक्तियों की समाधि

एक, केवल एक भाव के कारण जनसाधारण में इस प्रकार इतना विशद और विस्तृत क्षोभ उत्पन्न हो जाना भी हमारी अर्थात् मानवजाति की इतिहास-गाथा में एक नवीन बात थी। रोम, चीन अथवा भारत के पूर्वेतिहासों में भी इसके सदृश कोई घटना दृष्टिगोचर

नहीं होती। बेबिलोन राज के बन्दित्व से छुटकारा पाने के उपरान्त प्राचीन काल में यहूदियों ने ऐसे छोटे छोटे आन्दोलन अवश्य किये थे और आगे चलकर इसलाम ने भी सांघिक भावों को उत्साहित करने की क्षमता दिखाई। इन प्रगतियों का सम्बन्ध उन नवीन भावों से है जो धर्मोपदेश द्वारा प्रसारित संप्रदाय की वृद्धि से उत्पन्न होते हैं। यहूदी पैग़म्बर (ईश्वरीय दूत, यीशू मसीह तथा उनके शिष्य-वर्ग मानी और मुहम्मद सभी मनुष्यात्माओं को व्यक्तिगत रूपेण प्रोत्साहन देनेवाले थे। यही महापुरुष मनुष्यात्मा को व्यक्तिगत रूप से ईश्वर के सम्मुख लाये। इससे प्रथम धर्म, आत्मा का विषय न होकर बहुत करके केवल ऐन्द्रजालिक व्यापार एवं मिथ्या विज्ञान ही था; प्राचीन धर्म मन्दिरों, दीक्षित-पुजारियों तथा रहस्यमय बलिदानों पर अवलम्बित था और भय-प्रदर्शन द्वारा जनसाधारण पर दासवत् शासन करता था। नवीन रीति से धर्म-प्रचार द्वारा ही जनता में वास्तविक मनुष्यत्व आया है।



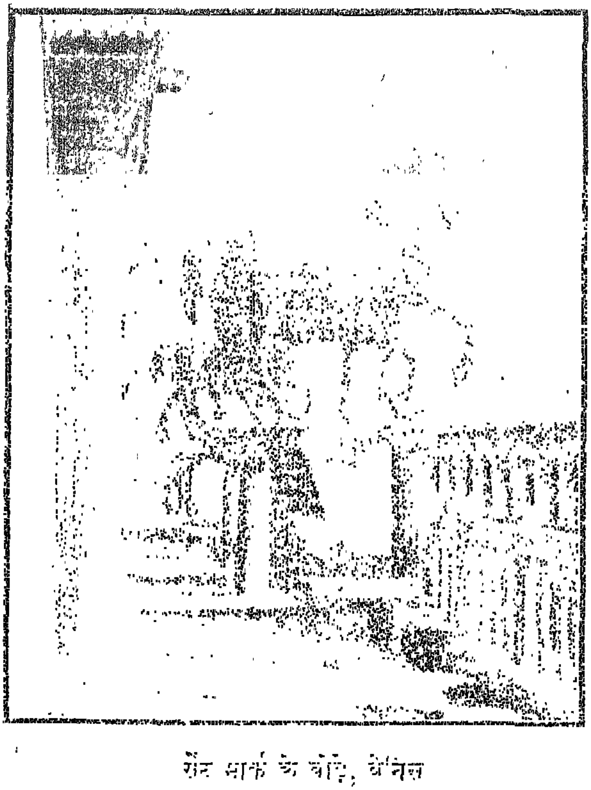
कैरो का दृश्य

प्रथम क्रूसेड अथवा धर्मयुद्ध के उपदेश द्वारा ही, यूरोपीय इतिहास में जनसाधारण को सर्वप्रथम प्रोत्साहन मिला था। उसको आधुनिक प्रजातन्त्रवाद का जन्मदाता कहना तो अत्युक्ति है, परन्तु यह बात निःसङ्कोच लिखी जा सकती है कि प्रजातन्त्र-वाद का भली भाँति उन्मथन उसी समय हुआ। हम शीघ्र ही देखेंगे कि इन्हीं उत्तेजनाओं के द्वारा विप्लवकारी घोर सामाजिक एवं धार्मिक समस्याएं भविष्य में पुनः उत्पन्न हो गई।

जनसाधारण के इस प्रथम प्रोत्साहन का तब निस्सन्देह अत्यन्त ही करुण एवं शोचनीय विधि से अन्त हुआ। जनसाधारण के समूह के समूह, जिनको सेनाएँ न कहकर भीड़-भाड़ कहना ही अधिक उचित होगा, फ्रांस, र्‌हाइन और मध्य यूरोप से वे सरोसामान, बिना किसी नायक की प्रतीक्षा किये हुए—पवित्र समाधि का पुनरुद्धार करने के लिए यों ही पूर्व दिशा की ओर चल पड़े। यह था जन-साधारण का क्रूसेड अथवा धार्मिक युद्ध। दो बड़े बड़े जनसमूह भूल से हंगेरी में चले गये और वहाँ हाल ही में क्रिश्चियन धर्म-दीक्षित मग जातियों पर नास्तिकों के धोखे में अत्याचार करते हुए स्वयं मारे गये। इन्हीं के सदृश सम्भ्रान्तचित्त तृतीय जनसमूह र्‌हाइनलैंड में यहूदी-जनसंहारोपरान्त पूर्व दिशा की ओर जाता हुआ हंगेरी में मारा गया। इनके अतिरिक्त यति पीटर की अध्यक्षता में दो बड़े बड़े जनसमूहों का भी कान्स्टेंटिनोपिल में पहुँचने के पश्चात्—बास्फ़ोरस का जल-ग्रीव पार करने के अनन्तर सलजूक तुर्कों द्वारा—पराजय न होकर कहना चाहिए कि संहार ही हुआ। इस प्रकार जनता द्वारा प्रोत्साहित यूरोपीय जनसाधारण की प्रगति का प्रारम्भ तथा अन्त हुआ।

अगले वर्ष (१०९७) नार्मन जाति के नेतृत्व में और उन्हीं के सदृश भावो-द्धावित वास्तविक सैन्यदल ने पुनः बास्फ़ोरस पार किया। झंझावात के समान नीशिया पर आक्रमण कर, चौदह शताब्दी पूर्व महान एलेक्ज़ेंडर जिस पथ से गया था उसी का अनु-सरण करते हुए ये लोग ऐन्टीओक की ओर चल दिये। एक वर्ष तक इस नगर का मुहासिरा करने के पश्चात् जून १०९९ को ईसाई सैन्यदल जेरुसलम जा धमका। एक मास के मुहासिरे के अनन्तर प्रबल आक्रमण द्वारा यह नगर हस्तगत किया गया। जन-संहार लोमहर्षक था। अश्वारोहियों के चलने पर घोड़ों की टाँगों द्वारा सड़कों में रक्त-धाराएँ विस्फालित होती थीं। रात्रि होते होते पन्द्रह जुलाई को यह धार्मिक सैनिक लड़ते-भिड़ते पवित्र समाधि वाले गिरजाघर में जा पहुँचे। और वहाँ विरोधियों का सर्वथा शमन कर, रक्तरञ्जित थके-माँदे और "हर्षातिरेक से आँसू बहाते हुए" ये लोग घुटने टेककर प्रार्थना में लवलीन हो गये।

प्राचीन लैटिन और ग्रीक विद्वेषाग्नि पुनः शीघ्रतया भड़क उठी। धार्मिक सैनिक (Crusaders) लैटिन चर्च के अनुयायी थे। जेरूसलम के कुलपति (Patriarch) ने इन विजयी लैटिन लोगों की अधीनता में अपने को तुर्कों के समय से कहीं अधिक बुरी दशा में पाया। धार्मिक सैनिकों ने इस समय अपने को --बैज़ण्टाइन और तुर्क---दो शत्रुओं के मध्य पाया और दोनों से ही उनको सामना करना पड़ रहा था। बैज़ण्टाइन साम्राज्य का एशिया माइनर के अधिक भूभाग पर अब पुनः अधिकार हो गया और लैटिन राजकुमारों के पास केवल जेरूसलम और कुछ एक छोटी राजधानियाँ शेष रह गईं जिनमें सीरिया प्रान्त का ऐडेसा विशेषतया उल्लेखनीय है। यह यूरोपीय नेता तुर्क और ग्रीक जातियों के मध्य 'बफ़र' की भाँति थे (बफ़र उस यंत्र को कहते हैं जो दो पिंडों के संघर्ष को रोकता है)। उपरोक्त स्थानों पर लैटिनीय राजकुमारों का अधिकार संशयग्रस्त था और ११४४ में 'ऐडेसा' मुसलमानों के हस्तगत हो गया जिसके कारण ईसाईयों ने द्वितीय निष्फल धार्मिक युद्ध तुर्कों के विरुद्ध बोल दिया। इसके द्वारा वे अर्थात् क्रिश्चियन जातियाँ ऐडेसा का तो पुनरुद्धार न कर सकीं परन्तु ऐन्टिओक हस्तान्तरित होने से अवश्य रुक गया।



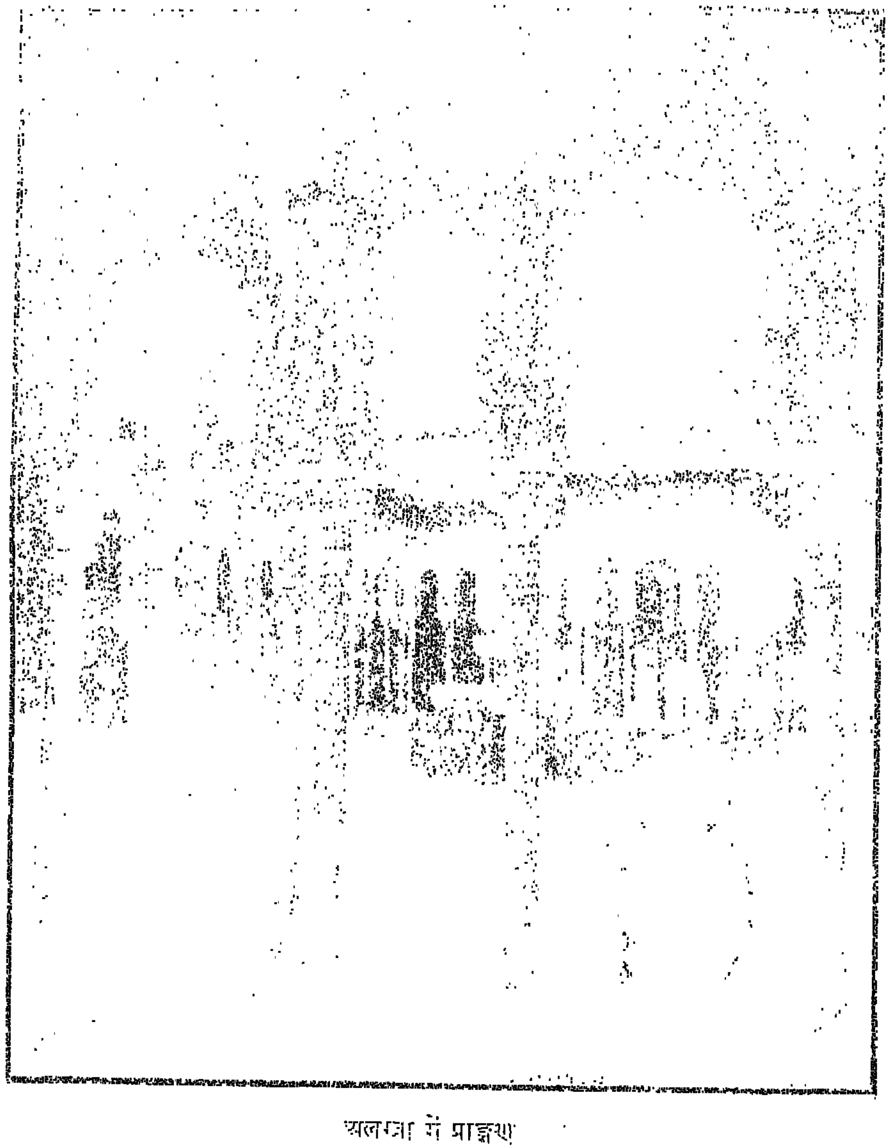
सैंट मार्क के घोड़े, वेनिस

ई० स० ११६९ में इसलाम की समस्त शक्ति मिस्र-विजेता सलाहउद्दीन नामक एक कुर्द जातीय साहसी योद्धा की अधीनता में केन्द्रीभूत हुई। इस वीर पुरुष ने ईसाइयों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध (जहाद) घोषित कर

११८७ में जेरुसलम पर पुनः अधिकार कर लिया। यही तृतीय क्रूसेड का कारण था, परंतु यह (तृतीय धार्मिक युद्ध) जेरुसलम का पुनरुद्धार न कर सका। लैटिन-सम्प्रदाय ने चतुर्थ क्रूसेड (१२०२-१२०४) खुल्लमखुल्ला ग्रीक साम्राज्य के विरुद्ध किया था। उसमें तुर्कों से नाम मात्र को भी युद्ध न छिड़ा। वेनिस नगर से उसका प्रारंभ हुआ था और उसी ने १२०४ में काँस्टेंटिनोपिल को अधिकृत कर लिया। महान् प्रतिभाशाली एवं व्यापारिक नगर वेनिस ही इस साहसी कृत्य में अग्रणी था और बैज़ण्टाइन साम्राज्य की बहुत अधिक तट-भूमि तथा द्वीपसमूह वेनिस-निवासियों के अधिकार में आ गये और 'लैटिनीय सम्राट्' (फ़्लैंडर्स-निवासी बाल्डविन) को काँस्टेंटिनोपिल के सिंहासन पर बैठाकर 'लैटिन' और 'ग्रीक' सम्प्रदायों (चर्च) का पुनः एकीकरण घोषित कर दिया गया। इन सम्राटों ने १२०४ से १२६१ तक काँस्टेंटिनोपिल में शासन किया। तत्पश्चात् ग्रीक लोगों ने रोम के आधिपत्य से अपना पीछा छुड़ा लिया।

दसवीं शताब्दी में जिस प्रकार उत्तरीय पुरुषों (Northmen) और ग्यारहवीं शताब्दी में सलजूक नामक तुर्क जाति का उत्कर्ष हुआ था उसी प्रकार बारहवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक पोपों का उन्नत काल रहा (इस समय इन्होंने खूब ही ऐश्वर्य भोग किये)। इससे प्रथम अथवा इसके पश्चात्—पोपों का शासन—सम्मिलित क्रिश्चियन संसार पर इससे अधिक वास्तविक एवं व्यावहारिक रूप में कभी स्थापित न हुआ।

उन शताब्दियों में सरल क्रिश्चियन धर्म यूरोप के बहुत अधिक भूभाग में वास्तविक एवं विशद रूप से विस्तृत था। स्वयं रोम की स्थिति कई बार तामसिक एवं गर्हित रही थी। दसवीं शताब्दी के ग्यारहवें तथा बारहवें 'जौहन' नामक पोपों के जीवन को अच्छा कहनेवाला शायद ही कोई लेखक मिल सके; वह तो घोर नारकी थे। परन्तु लैटिनीय-क्रिश्चियन राज्य-रूपी देह का हृदय-प्रदेश फिर भी उस समय तक सरलोत्साह एवं श्रद्धा से परिपूरित था और साधारण पुरोहितों (पादरियों) तथा मठाधिवासी नर-नारियों के जीवन प्रायः सर्वत्र ही शुद्ध और आदर्श रहे। इन (सात्त्विक) जीवनों द्वारा उत्पादित प्रचुर श्रद्धारूपी सम्पत्ति ही क्रिश्चियन चर्च (पंथ) के बल का आधार थी। प्राचीन काल के प्रसिद्ध पोपों में महान् ग्रैगरी अर्थात् ग्रैगरी प्रथम (५९०—६०४) और शार्लमेन को सीज़र बनाने के लिए आमन्त्रित कर उसकी इच्छा के विरुद्ध मुकुट पहिरानेवाले 'तृतीय लियो' (७९५-८१६) के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हिल्डेब्रांड नाम का अत्यन्त महान् राजनीतिज्ञ पादरी उत्पन्न हुआ था जिसने सप्तम ग्रैगरी (१०७३-१०८५) के नाम से पोप पद पर प्रतिष्ठित हो अपनी जीवन-



अजन्ता में प्राङ्गण

लीला समाप्त की। उसके अनन्तर एक और (नगण्य) पोप हुआ और उसके पश्चात् द्वितीय 'अरबन' नामक पोप के समय में ही (१०८७-१०९९) प्रथम धार्मिक युद्ध प्रारम्भ हुआ। इन्हीं दोनों, अर्थात् ग्रेगरी सप्तम और अरबन द्वितीय नामक व्यक्तियों ने पोपों की महत्ता का एक ऐसा युग प्रवर्त्तित कर दिया था कि उन्होंने सम्राटों पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया। बलगेरिया से आयरलैण्ड तक और नारवे से सिसली और जेरुसलम तक सब स्थानों में पोप ही सर्वेसर्वा हो रहे थे—सर्वत्र इन्हीं की तूती बोलती थी। इस सप्तम ग्रेगरी ने चतुर्थ हैनरी नामक सम्राट् को कैनोसा नामक स्थान में आने और अपने प्रासाद के चौक में शोक-सूचक वस्त्र पहिर बर्फ पर तीन दिन और तीन रात्रि पर्य्यन्त नंगे पैर खड़े हो अपने कृत्य का पश्चात्ताप और उस पर क्षमा-याचना करने के लिए विवश कर दिया था। और ११७६ में सम्राट् फ्रैडरिक अर्थात् फ्रैडरिक बारबरोसा ने वेनिस नगर में पोप तृतीय एलेकज़ेंडर के सम्मुख घुटने टेककर प्रभु-भक्ति की शपथ ली थी।

ग्यारहवीं शताब्दी में जन-साधारण की इच्छाशक्ति और उनका आत्म-विश्वास क्रिश्चियन चर्च के महान् बल का आधार था। परन्तु वह नैतिक प्रतिष्ठा, जो उस आधार का मूल थी, स्थिर न रह सकी। चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों ही में पोप का यह बल—प्रत्यक्षतया—वाष्पवत् वायु-विलीन हो गया था। परन्तु प्रश्न यह है कि क्रिश्चियन धर्मावलम्बी जन-साधारण का वह सरल श्रद्धाभाव क्योंकर नष्ट हुआ, जिसके कारण जनता को उसके उद्देश्य को पूरा करने के लिए सामूहिक सहायता देनी बन्द करनी पड़ी।

चर्च द्वारा द्रव्य-सञ्चय ही इस दुर्दशा का प्रधान हेतु था। द्रव्य-सञ्चय के तीन कारण थे। चर्च की अन्य पुरुषों के समान मृत्यु नहीं होती थी; बहुत से सन्तान-हीन पुरुष मृत्यु के समय अपनी भू-सम्पत्ति चर्च ही को दान कर जाते थे; अपराध क्षमा करानेवाले पापियों को इस प्रकार दान देने के लिए प्रोत्साहित भी किया जाता था। इस नीति का अनुसरण करने के कारण बहुत से यूरोपीय देशों की तो चौथाई भूमि तक चर्च की जागीर हो गई थी। सम्पदा-प्राप्ति पर लोभ भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है*। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते न होते प्रायः सर्वत्र ही यह कहते हुए सुना जाता था कि पुरोहित अथवा पादरी भद्र नहीं हैं, उनको धन-सम्पत्ति तथा उत्तर-दान की लालसा लगी रहती है।

---

* गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा भी है—
'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।'

राजा तथा राजकुमार सभी इस विच्छेद से अप्रसन्न थे; क्योंकि उनकी राज्य-भूमि सैन्य द्वारा साहाय्य करनेवाले सामन्तों के काम में न आकर मठों तथा उनमें रहनेवाले भिक्षु-भिक्षुणियों ही का भरण-पोषण करती थी। कहने को तो यह भूमि राज्य का भाग थी, परन्तु वास्तव में इस पर विदेशियों ही का अधिकार था। पोप सप्तम ग्रेगरी के समय में प्रथम ही पोप तथा राजकुमारों के मध्य बिशप (स्थानीय बड़े पादरी) की नियुक्ति के अधिकार-विषयक प्रश्न पर—जिसको 'इनवैस्टिच्चर' (Investiture) कहते हैं—खूब झगड़ा चल चुका था। यह मान लेने पर कि पोप ही को इस पद पर नियुक्ति करने का अधिकार प्राप्त है और राजाओं को नहीं, न केवल प्रजागण के आत्मिक नियन्त्रण करने, वरन् राज्य के अधिक भूभाग पर शासन करने का अधिकार भी राजाओं के हाथ से निकला जाता था। इसके अतिरिक्त पादरियों का तो यह दावा था कि कोई राजकीय टैक्स कर भी उन पर नहीं बाँधा जा सकता। समस्त कर वे सीधे रोम को देते थे। यही नहीं, प्रत्युत अन्य राजकीय करों के अतिरिक्त चर्च अब जन-साधारण की सम्पदा का दशमांश भी, प्रत्येक पुरुष से कर के रूप में लेने का अधिकार जमा रहा था।

ग्यारहवीं शताब्दी में प्रत्येक लैटिनीय क्रिश्चियन राज्य का इतिहास पोप तथा राजाओं के इहविषयक द्वंद्व-युद्धों की कथाओं से भरा पड़ा है। ये युद्ध पोप के नियुक्ति-विषयक अधिकार के संबंध में होते थे और इनमें प्राय. पोप ही सदा विजयी रहे। पोप का एक दावा यह भी था कि राजाओं का बहिष्कार, प्रजागण की उनकी अधीनता से मुक्ति और उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार भी हमको प्राप्त हैं। यही नहीं, वे यहाँ तक कहते थे कि किसी जाति को शाप द्वारा बहिष्कृत करने की क्षमता भी हममें है। ऐसा हो जाने पर जातकर्म, नामकरण, प्रायश्चित्त तथा तपस्या के अतिरिक्त पादरी सब धार्मिक कृत्य बंद कर देते थे। इसका मतलब यह हुआ कि फिर न तो पादरियों द्वारा साधारण प्रार्थना ही होती थी, न जनता के विवाहादिक हो सकते थे और न प्राणान्त होने पर शव ही पृथ्वी में गाड़ा जा सकता था। इन्हीं दो अस्त्रांकुशों की सहायता से बारहवीं शताब्दी के पोप, राजकुमारों तथा उद्धत जनसाधारण रूपी हस्तियों के गर्व को खर्व करने में समर्थ हुए थे। पोप के इन अस्त्रों में अमोघ शक्ति थी। ऐसे असीम बल का प्रयोग असाधारण अवसरों पर ही करना उचित है। परंतु पोपों ने क्या तो अवसर और क्या अनवसर, प्रत्येक समय इनका इतना अधिक उपयोग अथवा यों कहिए कि दुरुपयोग किया कि इनकी समस्त शक्ति कुंठित हो गई। बारहवीं शताब्दी के अंतिम तीस वर्षों में स्काटलैंड, फ्रांस और इँगलैंड इन तीनों देशों को क्रम से पोप ने बहिष्कृत किया था। इसके अतिरिक्त विरोधी राजाओं के विरुद्ध धार्मिक युद्ध घोषित करने का प्रलोभन भी पोप संवरण न कर

सकें, जिसके कारण धार्मिक युद्धों में भाग लेनेवाले भावों ही का जनता में चिह्न तक शेष न रहा।

इन झगड़ों-टंटों को राजकुमारों तक ही परिमित रखकर रोम का चर्च यदि जनसाधारण का मन अपने वश में कर लेता तो भी समस्त क्रिश्चियन राज्यों पर उसका प्रभुत्व सदैव के लिए स्थापित हो जाना संभव था। परंतु पोप के ये असीम अधिकार साधारण पादरियों के जीवन-आचरण में पूर्ण औद्धत्य के साथ प्रतिबिंबित होते थे। ग्यारहवीं शताब्दी से पहले रोमन संप्रदाय के विवाहित पादरी हो सकते थे, जनता के साथ इस प्रकार का गाढ़ संबंध होने के कारण वह वास्तव में उन्हीं के अंश थे। पोप सप्तम ग्रेगरी ने ही उनको अविवाहित रहने के लिए बाध्य किया। और रोम से उनका घनिष्ठ संबंध स्थापित करने के लिए उसने सांसारिक पुरुषों से गाढ़ स्नेह त्यक्त कराकर चर्च और सांसारिक पुरुषों के मध्य महान् पृथक्त्व की खाई खोद दी। चर्च के अपने-निजी-न्यायालय थे जिनमें न केवल पुरोहितों के, प्रत्युत मठाधिवासी पुरुष, विद्यार्थी, धर्म-सैनिक, विधवा, अनाथ और असहायों के समस्त मुआमले और वसीयत, विवाह शपथ, एवं नास्तिकता, ईश्वर-निंदा और इंद्रजाल संबंधी समस्त अभियोग सुने जाते थे। किसी सांसारिक पुरुष का पादरी से झगड़ा होने पर उस मुक़दमे के सुनने का अधिकार भी केवल उपरोक्त न्यायाधीश को प्राप्त था। संधि तथा युद्ध के भार भी साधारण (सांसारिक) मनुष्यों को उठाने पड़ते थे। पादरी उनसे भी सर्वथा मुक्त थे। इन सब असमानताओं के होते हुए यदि पादरियों के विरुद्ध क्रिश्चियन जगत् में ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि दिन पर दिन प्रचंड होती गई तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

ऐसा प्रतीत होता है कि रोम ने यह कभी अनुभव ही नहीं किया कि जन-साधारण के आत्मिक विश्वास पर ही उसकी शक्तियाँ अवलम्बित हैं। धार्मिक उत्साह से सहायता लेने के स्थान में चर्च ने उसके विरुद्ध युद्ध किया और शुद्ध शङ्कित चित्तों तथा पथभ्रष्ट सम्मतियों पर सिद्धान्तमय कट्टर धर्मवाद की लदौनी लादनी प्रारम्भ कर दी। नैतिक आचार-विचारों में हस्तक्षेप करने पर समस्त जनता चर्च से सहमत थी; परन्तु धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में ऐसा न था। वाल्डो नामक व्यक्ति ने जब फ्रांस के दक्षिण भाग में केवल जीसस पर ही विश्वास करने तथा उसके सरल जीवन को अनुसरण करने का जनता को उपदेश देना प्रारम्भ किया तो पोप इनोसेंट तृतीय ने वाल्डेन्सेस अर्थात् वाल्डो के अनुयायियों के प्रति, धर्म-युद्ध का आदेश दे दिया और उनको अग्नि, खड्ग, बलात्कार तथा अन्य गर्हित क्रूरताओं द्वारा दमन करने की अनुमति दे दी। इसी प्रकार ऐसीसी के महात्मा (सेंट) फ्रैंसिस ने जब (११८१—१२२६) जीसस के अनुरूप लोक-सेवा करते

हुए सादा-जीवन व्यतीत करने को लोगों को उपदेश देना प्रारम्भ किया तो उनके फ्रैंसिसकेन कहलानेवाले अनुयायियों के समुदाय के समुदाय को पीड़ित कर अथवा शाप दे, बन्दीगृह में डालकर तितर-बितर कर दिया गया। सन् १३१८ में, मार्सेल्स नामक नगर में इनके चार अनुयायियों को जीवितावस्था ही में अग्नि-समर्पित कर दिया गया था। पोप की जहाँ एक ओर ऐसी दमन-नीति चल रही थी वहाँ दूसरी ओर सेंट (महात्मा) डोमिनिक (११७०—१२२१) द्वारा स्थापित डोमिनिकिन्स नामक उनके घोर एवं कट्टर सिद्धान्तवादी पन्थानुयायियों को पोप इनोसेंट तृतीय की पूरी सहायता मिल रही थी। और इन्हीं के बल भरोसे पर 'इनक्विज़िशन' नामक एक संस्था बनाकर खड़ी कर दी गई जहाँ ईश्वर-निंदा का आखेट और स्वतन्त्र विचारवालों को सन्तापित किया जाता था।

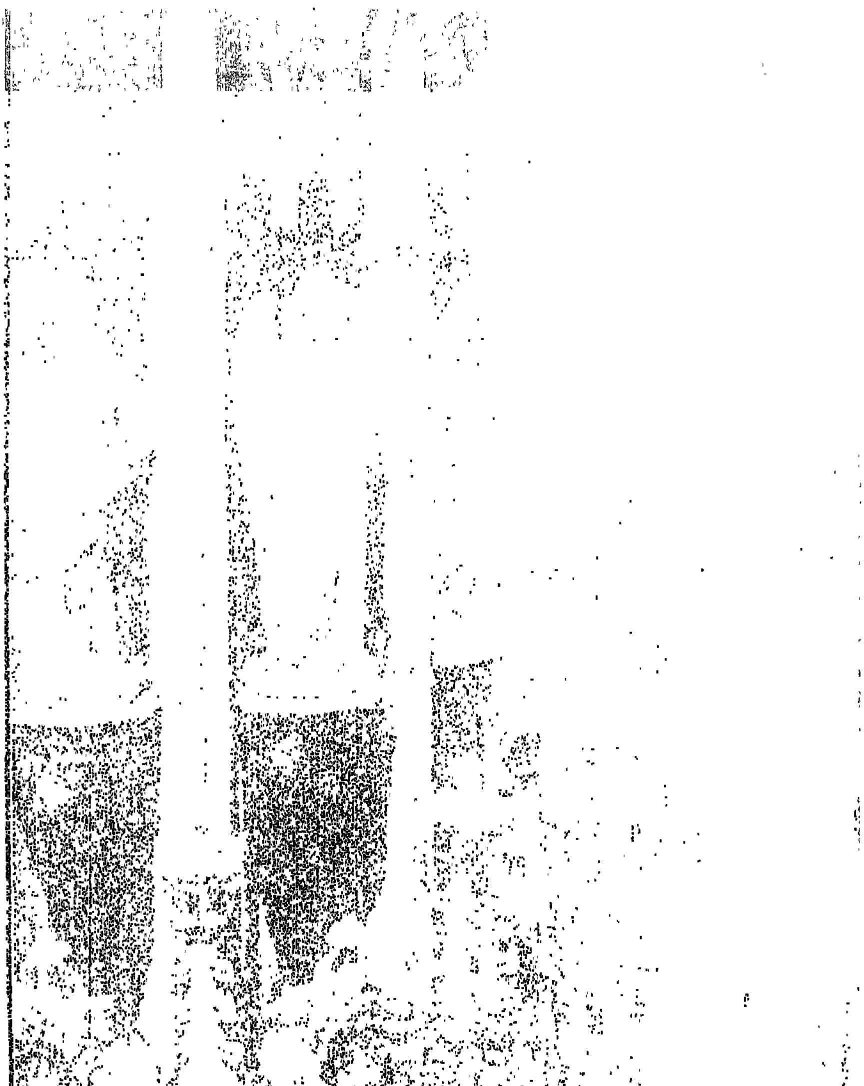
इस प्रकार के न्यायाधिक दावों, मिथ्याधिकारों और अनुचित असहिष्णुता द्वारा ही चर्च ने जन-साधारण की अप्रतिहत श्रद्धा को, जिसके कारण उसको इतना बल प्राप्त था, नष्ट-भ्रष्ट कर समूल उखाड़ दिया। चर्च के इतिहास की कथा पढ़ने पर पता लगता है कि बाह्य शत्रुओं के अपर्याप्त होते हुए भी आन्तरिक क्षय के कारण इसका सर्वथा विनाश हुआ था।

(४७)

उच्छृंखल राजकुमार और महान् धार्मिक मतभेद

समस्त क्रिश्चियन-धर्मावलंबियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की इच्छा से जो प्रयत्न रोम के चर्च ने किये, उनमें पोपनिर्वाचन-विधि एक महान् दुर्बलता थी।

यदि पोप वास्तव में अपनी प्रबल एवं स्पष्ट आकांक्षाओं को पूरा करने के इच्छुक थे और समस्त क्रिश्चियन धर्मावलंबियों पर एकछत्र शासन करना उनका ध्येय था तो यह अत्यंत आवश्यक था कि उनके आदेश दृढ़, पक्के तथा अपरिवर्त्तनशील होते। ऐसे अच्छे अवसरों के ज़माने में सबसे अधिक आवश्यकता तो इस बात की थी कि विद्वान् एवं योग्य पुरुष अपनी चढ़ती जवानियों में ही पोप पद पर नियुक्त कर दिये जाते और प्रत्येक पोप के जीवन-काल ही में उसके उत्तराधिकारी का निर्णय हो जाता, जिससे चर्च-संबंधी नीति का वादविवाद के पश्चात् स्थिर होना संभव हो जाता। इसके अतिरिक्त निर्वाचन-संबंधी नियमों के अधिक स्पष्ट, निश्चित, अपरिहार्य और दोष-रहित होने की भी अत्यंत आवश्यकता थी। परंतु दुर्भाग्यवश उस समय इनमें से एक बात भी न हुई। पोप के निर्वाचन में किसको मत देने का अधिकार है, और बैज़ण्टाइन या पवित्र रोम-साम्राज्य के सम्राट् भी इस संबंध में कुछ कह सकते हैं या नहीं, ये प्रश्न भी स्पष्ट न थे। महान् राजनीतिज्ञ पादरी-हिल्डेब्रांड ने (जो सप्तम ग्रैगरी के नाम से पोप पद पर १०७३-१०८५ तक शासन करता रहा) इस निर्वाचन को नियम-बद्ध करने का बहुत प्रयत्न किया। मत देने का अधिकार उसने कार्डिनेल (अर्थात् रोमन पादरियों) तक ही परिमित कर दिया था; और सम्राट् को केवल नियमित स्वीकृति देने का अधिकार चर्च द्वारा अर्पित था। परंतु उत्तराधिकारियों के संबंध में उसने कोई नियम नहीं बनाया, जिससे, कार्डिनेल नामक पादरियों के आपस के झगड़ों के कारण पोप पद के रिक्त रहने की फिर भी सम्भावना शेष रह गई और वास्तव में ऐसा कई बार हुआ भी कि एक अथवा अनेक वर्षों तक पोप ही न चुना गया।



मिलन का बड़ा गिरजाघर

इस संबंध में स्पष्ट परिभाषा न होने से जो जो फल हुए वे सोलहवीं शताब्दी तक के पोप-राज्येतिहास के पृष्ठों को पलटने से देखे जा सकते हैं। इन निर्वाचनों में झगड़े-टंटे हो जाने के कारण, बहुत प्राचीन काल ही से, एक समय में दो और कभी कभी इससे भी अधिक पुरुष पोप होने का दावा कर बैठते थे। ऐसे अवसरों पर अपनी मान-हानि होते हुए भी चर्च को विवश हो सम्राट् अथवा किसी बाह्य निर्णायक की शरण लेनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक महान् पोप के शासन का अन्त होते ही यह प्रश्न पुन: उठ खड़ा होता था। पोप की मृत्यु होते ही कर्णधार-विहीन चर्च की दशा कबन्ध के समान निश्चेष्ट हो जाने की आशंका बनी रहती थी। पोप का उत्तराधिकारी कभी तो कोई ऐसा पुराना प्रतिस्पर्धी होता था कि जो अपने पूर्ववर्त्ती को दोष दे उसके किये-कराये सब कामों को मटियामेट करने का प्रयत्न करने लगता था और कभी कोई दुर्बल, आसन्नमृत्यु वृद्ध पुरुष पोप बन जाता था।

इस दौर्बल्य के होते हुए, विविध जर्मन राजकुमार, फ्रांस के राजा तथा इँगलैंड के नार्मन व फ्रेंच शासकों के हृदयों में पोप-संबंधी विधान में हस्तक्षेप करना एक नैसर्गिक बात थी। अतएव निर्वाचन के समय विविध प्रकार के ज़ोर डालकर अपने किसी हितेच्छु व्यक्ति को रोम नगरस्थ 'लैटरन' नामक भवन में पोप-पद पर अभिषिक्त कराना प्रत्येक के लिए अनिवार्य हो गया था। ज्यों ज्यों यूरोपीय समस्याओं में पोप की शक्ति व महत्ता बढ़ती गई, त्यों त्यों इन शासकों का हस्तक्षेप भी उत्तरोत्तर मात्रा में बढ़ता गया। ऐसी दशा में यदि निस्सार एवं दुर्बल पुरुष ही अधिक संख्या में पोप बनाये गये तो आश्चर्य क्या है। मार्के की बात तो यह है कि फिर भी उनमें बहुत से योग्य और साहसी व्यक्ति थे।

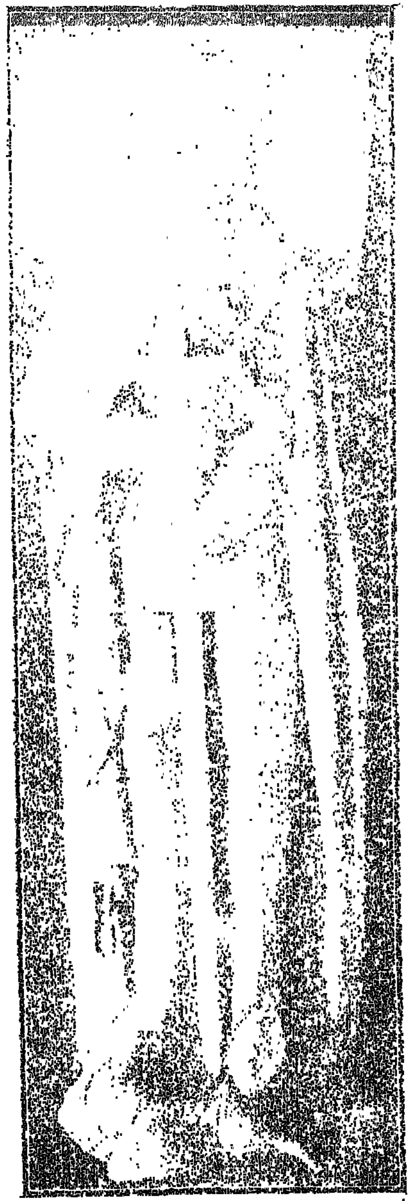
पोप तृतीय इनोसेंट (११९८-१२१६) इस महान् युग के मनोरंजक कृत्यकारी शक्तिशाली पोपों में गिना जाता है। अड़तीस वर्ष की अवस्था होते न होते यह भाग्यशाली पुरुष पोप-पद पर आसीन हो गया था। परंतु इसको और इसके उत्तराधिकारियों को अपने से भी कहीं अधिक हृदयहारक व्यक्ति—अर्थात् सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय से (जिसको Stupor mundi संसार का अद्भुत पदार्थ कहा जाता है) डटकर सामना करना पड़ा। इस सम्राट् ने जो रोम से झगड़ा किया, उसके कारण इतिहास की गति बदल गई। अन्त में कहने को तो रोम ने सम्राट् को पराजित कर उसका समूल वंशोच्छेदन कर दिया, परंतु वास्तव में सम्राट् ने पोप और चर्च दोनों ही की चिर-प्रतिष्ठा को ऐसी भारी क्षति पहुँचाई कि वह घाव सदा पकता और रिसता ही रहा और अन्त में उसी के कारण यह संपूर्ण संस्था नष्टप्राय हो गई।

फ्रेडरिक सम्राट् षष्ठ हेनरी का पुत्र था। इसकी माता सिसली के राजा नॉर्मन-जातीय रॉजर प्रथम की कन्या थी। ११९८ में चार वर्ष की अवस्था में वह पिता के राज्य का अधिकारी हुआ था और इनोसेंट तृतीय इसका अभिभावक बनाया गया। नॉर्मन जाति ने सिसली अभी थोड़े दिन पूर्व ही जीता था। और ईषत् पूर्वीय होने के कारण यहाँ की राज्य-सभा धुरंधर अरब विद्वानों से भरी हुई थी; अतएव कुमार राजा की शिक्षा-दीक्षा के संबंध में उनमें से कुछ एक का भी सहयोग प्राप्त हो गया था। नि:सन्देह उन्होंने अपना दृष्टिकोण अत्यंत परिश्रम से कुमार को भली भाँति समझा दिया था। फलतः यह सम्राट् क्रिश्चियन धर्म को मुसलमानों के दृष्टिकोण से तथा मुसलमान-धर्म को ईसाइयों के दृष्टिकोण से देखने लगा। इस दुहरी शिक्षा के दुःखदायक परिणाम-स्वरूप सम्राट् सब धर्मों को पाखंड समझता था जो उस अंधविश्वास-युग में एक अद्भुत बात थी। धार्मिक विषय पर वह अत्यंत ही स्वतंत्रता से बातें किया करता था। उसकी नास्तिकता और ईश्वरनिंदा तो अब तक लेखबद्ध विद्यमान है।

फिर जैसे जैसे यह युवा प्रौढ़ होता गया तैसे तैसे इस युवक तथा अभिभावक के बीच (पारस्परिक) विरोध की मात्रा भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई। तृतीय इनोसेंट को अपने आश्रित बालक से बहुत कुछ अनुचित आशाएँ लग रही थीं। जब फ्रेडरिक के सम्राट् होने का समय निकट आया तो पोप ने उसमें शर्तें बाँध अड़चनें डालनी प्रारंभ कर दीं। फ्रेडरिक से कहा गया कि वह जर्मनी में नास्तिकता का कठोरता से दमन करने की प्रतिज्ञा तथा दक्षिणीय इटैली के राज-मुकुट का त्याग करे; क्योंकि ऐसा न करने से सम्राट् की शक्ति पोप के लिए कहीं अधिक हो जाती। इसके अतिरिक्त समस्त जर्मन पादरियों को करों से मुक्त करने की भी एक शर्त थी। फ्रेडरिक सब प्रतिज्ञाएँ तो कर बैठा पर उनके पालन करने का उसके मन में तनिक सा भी विचार न था। फ्रांस देश के राजा को अपनी प्रजा—वाल्डैंसैस नामक पंथ-विशेष—के विरुद्ध दारुण रुधिर-मय धार्मिक युद्ध करने के लिए पोप ने पहले ही से राज़ी कर लिया था। परंतु अब उसकी इच्छा यह थी कि फ्रेडरिक भी जर्मनी में वैसा ही आचरण करे। जिन पायटिस्ट (Pietists) नामक पंथ के अनुयायी ईसाई पुरुषों ने जर्मनी में पोप को क्रुद्ध किया था उनकी अपेक्षा स्वयं कहीं अधिक नास्तिक होने के कारण सम्राट् (फ्रेडरिक) के हृदय में उनके साथ ऐसे धार्मिक युद्ध करने का आवेश ही न था। इसी प्रकार जब पोप इनोसेंट ने मुसलमानों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध द्वारा जेरुसलम पर पुनः अधिकार कर लेने का उसको आदेश दिया तो प्रतिज्ञा उसने तुरंत ही कर ली परंतु उसको पूरा करने में ढील फिर वैसी ही डाल दी।

जर्मनी की अपेक्षा सिसली का आवास कहीं अधिक प्रिय होने के कारण राजमुकुट प्राप्त करने के पश्चात् भी फ्रेडरिक द्वितीय उसी देश में डटा रहा और इनोसेंट के प्रति की हुई किसी भी प्रतिज्ञा के पालन करने का तनिक सा भी प्रयत्न न किया। यहाँ तक कि अंत में बेचारा पोप १२१६ में विफल-मनोरथ हो स्वर्ग सिधार गया।

इनोसेंट का उत्तराधिकारी ओनोरियस तृतीय भी फ्रेडरिक का अधिक सफलता-पूर्वक सामना न कर सका, परन्तु उसका उत्तराधिकारी ग्रेगरी नवम तो इस युवक से हिसाब-किताब बेबाक करने के प्रकाश्य रूपसे दृढ़ निश्चय के साथ ही (१२२७ में) पोप के पद पर आसीन हुआ था। उसने सम्राट् को बहिष्कृत कर दिया, और सम्राट् समस्त धार्मिक आश्रय एवं सुलभताओं से वंचित कर दिया गया। परंतु इसके कारण सिसली की अर्ध-अरब राजसभा में उसको तनिक भी कष्ट अनुभव न हुआ। पोप ने अब सम्राट् के नाम एक खुली चिट्ठी लिखी जिसमें उसके दुर्गुणों का (जो निस्संदेह उसमें पाये जाते थे) और नास्तिकता तथा साधारण कुकर्मों का खूब वर्णन किया गया था। फ्रेडरिक ने भी सप्रमाण पिशाचोपम विचक्षणता से अत्यंत विद्वत्तापूर्वक इसका लेखबद्ध उत्तर दिया। यह लेख यूरोप के समस्त राजकुमारों को संबोधित करके लिखा गया था और पोप तथा राजकुमारों के बीच झगड़े की बात भी सर्वप्रथम इसी में अत्यंत स्पष्टता-पूर्वक लिखी गई थी। समस्त यूरोप पर निरंकुश शासन



धर्मयुद्ध-वीर की रूप-रेखा

करों की आकांक्षा पर उस सम्राट् ने विदीर्णकारी आघात किया था। चर्च-संपदा की ओर विशेषतया लक्षित करते हुए उसने इस राज्यापहरण के प्रति राजकुमारों का ध्यान सांघिक शक्ति का प्रयोग करने की ओर आकर्षित किया था।

इस प्राणान्तक अस्त्र को यों चलाकर फ्रैडरिक ने अब बारह वर्ष पुरानी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए धार्मिक युद्ध करने की ठानी। यह छठा क्रूसेड (१२१८) धार्मिक-युद्ध की दृष्टि से तो कोरा ढोंग था। सम्राट् मिस्र देश में जा सुलतान से मिला और उसके साथ विवाद-ग्रस्त विषयों पर विचार किया। अन्यान्य हितकारक विचार-विमर्श के उपरान्त धर्म पर विश्वास न करनेवाले इन्हीं दोनों भले आदमियों ने पारस्परिक लाभ की दृष्टि से व्यापारिक संधि कर जेरुसलम को पुनः फ्रैडरिक को लौटाने का निश्चय कर लिया। वैयक्तिक संधि द्वारा धर्मयुद्ध करने की यह नवीन प्रणाली लोगों के लिए अत्यन्त ही कौतूहल-जनक थी। इसमें न तो विजेता के पाँवों पर "बहती हुई रक्तधारा की छींटें ही पड़ीं" और न "हर्षातिरेक के कारण उनकी आँखों में आँसू ही भर आये"। धर्मभ्रष्ट इस अपूर्व धर्म-सैनिक को जेरुसलम के राज्य-सिंहासन पर अपने ही हाथों वेदी से उठाकर राजमुकुट सिर पर रख केवल लौकिक रीति से ही अभिषिक्त हो संतुष्ट होना पड़ा; क्योंकि पादरी लोग तो वास्तव में उसका बहिष्कार ही करते। तदुपरांत वह इटैली को लौट आया और पोप-सैन्य को—जिसने उसके प्रदेशों पर आक्रमण किया था—मारकर, हराकर, उन्हीं के देश में भगा दिया। विवश होकर पोप ने अंत में उसको बहिष्कार से मुक्त कर दिया। तेरहवीं शताब्दी में पोप के साथ एक राजकुमार का ऐसा बर्त्ताव होते हुए देखकर भी प्रतीकार के लिए जन-साधारण की क्रोधाग्नि न भड़की। पहला सा समय अब कहाँ था।

१२३९ में नवम ग्रैगरी ने फ्रैडरिक से फिर झगड़ा प्रारंभ कर दिया और सम्राट् का अब दूसरी बार बहिष्कार कर जन-साधारण की दृष्टि में उसको निंदित बताने की लड़ाई, जिसमें पोप को पहले ही इतनी तीव्र क्षति उठानी पड़ी थी, पुनः प्रारंभ कर दी। नवम ग्रैगरी के मृत्यूपरांत चतुर्थ इनोसेंट नामक पोप के समय में यह झगड़ा पुनः छिड़ गया और फ्रैडरिक ने तब हृदय दलन करनेवाला एक ऐसा प्रलय-कारी पत्र चर्च के विरुद्ध लिखा कि जनता उसको कभी न भूली। पादरियों को उनके घमंड तथा अधार्मिकता के लिए इस पत्र में ख़ूब ही धिक्कारा गया था; और तत्कालीन समस्त कुरीतियों का मूल बताई गई थी, उनकी सम्पदा और उनका अभिमान। चर्च की भलाई के विचार से सम्राट् ने अपने भाई-सदृश अन्य राजकुमारों

को उसकी समस्त जायदाद के ज़ब्त करने की सलाह दी। यह ऐसा मशविरा था जो यूरोपीय राजकुमारों के चित्त से फिर कभी ओझल न हुआ।

सम्राट् के अंतिम वर्षों की कथा का हम उल्लेख न करेंगे। सम्राट् के जीवन की विशेष घटनाएँ उसके वातावरण की अपेक्षा कहीं कम रोचक हैं। सिसली की राजसभा में उसका जीवन किस प्रकार व्यतीत होता था, इसका हाल भी इधर-उधर से सामग्री एकत्रित करने पर कुछ कुछ जाना जा सकता है। सम्राट् का जीवन आमोद-प्रमोदमय था और उसको सुंदर वस्तुएँ अत्यंत प्रिय थीं। लोग उसको कामुक बताते हैं; परंतु इसमें संदेह नहीं कि वह अत्यंत सूक्ष्मदर्शी था; सफलतापूर्वक अनुसंधान करने की शक्ति भी उसमें ख़ूब थी। यहूदी तथा मुसलमान दार्शनिकों के अतिरिक्त क्रिश्चियन दार्शनिकों को भी अपनी राजसभा में रख उसने इटालियनों की मस्तिष्क-भूमि को अरब-देशीय प्रभावजल से ख़ूब सींचा था। उसी के द्वारा अरबदेशीय अंक तथा बीजगणित ईसाई विद्यार्थियों को सर्वप्रथम ज्ञात हुए। माइकेल स्कॉट नामक एक दार्शनिक ने, जो उसके राज-दरबार में था, ऐवेररॉस नामक क़ुर्दवा के सुप्रसिद्ध अरब दार्शनिक द्वारा लिखित व्याख्या सहित ऐरिस्टौटिल के कुछ अंशों का अनुवाद किया था। १२२४ में फ़्रैडरिक ने नैपिल्स के विश्वविद्यालय की नींव डाली और उसी के द्वारा सालेर्नो विश्वविद्यालय की आयुर्वेद-पाठशाला की उन्नति तथा विस्तार हुआ। पशु-संग्रहालय स्थापित करना भी वह न भूला था। बाज़ के द्वारा शिकार किस प्रकार करना चाहिए इस विषय पर उसकी लिखी पुस्तक से पता चलता है कि पक्षियों के स्वभाव का भी वह अच्छी तरह निरीक्षण किया करता था; इटैली-भाषा में पद्य लिखनेवाले प्रथम पुरुषों में उसकी गणना होती है। इस भाषा के पद्य का तो जन्म ही वास्तव में उसके राजदरबार में हुआ था। एक योग्य लेखक के कथनानुसार तो वह 'सर्वप्रथम आधुनिक' पुरुष था और इस वाक्य द्वारा कम से कम उसकी बुद्धि के निष्पक्ष होने की बात तो बहुत अच्छे प्रकार से स्पष्ट हो जाती है।

फ़्रांस के राजा का बल बढ़ने पर पोप का उनसे भी झगड़ा प्रारंभ होते ही, पोप का प्रभुत्व अक्षुण्ण बनाये रखनेवाली शक्ति का और भी शीघ्रता तथा स्पष्टता से ह्रास एवं पतन होने लगा। फ़्रैडरिक द्वितीय के जीवन-काल ही में जर्मनी में आपस की फूट पड़ गई और होहनस्टॉफ़न-वंशीय सम्राटों के स्थान में फ़्रांस का राजा ही पोप का क्रमशः रक्षक, सहायक तथा प्रतिद्वंद्वी हो गया। फ़्रांस के राजा को समर्थन करने की नीति का कुछ-एक पोपों ने भी अनुसरण किया। रोम की अनुमति और समर्थन से फ़्रांस के राजकुमार ही अब सिसली और नैपिल्स की गद्दियों पर बैठाये जाने लगे।

इस प्रकार फ्रांस के राजा निकट भविष्य में शार्लमेन के बृहत् साम्राज्य के पुनरुद्धार व शासन का सुख-स्वप्न देखने लगे। परंतु होहनस्टॉफ़न-वंशीय अंतिम सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय के मृत्यूपरांत उत्पन्न होनेवाली जर्मन राजकीय अव्यवस्था जब हैप्सबर्ग घराने के रुडॉल्फ़ का प्रथम हैप्सबर्गीय सम्राट् के रूप से निर्वाचन होते ही समाप्त हो गई (१२७३) तो फ्रांस तथा जर्मनी के प्रति पोपों की नीति पुनः विचलित होनी प्रारंभ हो गई। कोई पोप एक देश से सहानुभूति रखता था तो कोई दूसरे से। उधर



बरगंडियन सरदारों की पोशाक

पूर्व दिशा में, कॉंस्टैंटिनोपिल को ग्रीक जाति ने लैटिन सम्राटों से १२६१ में पुनः छीन लिया था। वहाँ पर माइकेल पेलियोलोगस नामक एक व्यक्ति नया ग्रीकवंश स्थापित कर अष्टम माइकेल के नाम से पहले तो कुछ काल पर्यंत पोप से योंही संधि का प्रस्ताव करता रहा, परंतु अंत में रोम से अपना संबंध पूर्णतया विच्छेद कर वह भी स्वतन्त्र हो गया और उसके साथ ही साथ एशिया में लैटिन राज्यों का पतन होते ही पोपों की आत्म-प्रधानता का सदा के लिए अंत हो गया।

सन् १२९४ में अष्टम बोनिफ़ेस पोप-पद पर आसीन हुआ। यह इटैली-निवासी हृदय से फ्रांसीसियों का घोर विद्वेषी था और रोम की प्राचीन परंपरा तथा धर्म-प्रचार के महान् उत्तरदायित्व के विचार इसकी नस नस में भरे हुए थे। कुछ समय तक तो इसने अपना कार्य खूब ही औद्धत्य से किया। ई० सन् १३०० में इसकी जयंती (जुबिली) के अवसर पर रोम में यात्रियों का बड़ा समारोह हुआ। और पोप के ख़ज़ाने में रुपयों की ऐसी बौछार हुई कि महात्मा (संट) पीटर की समाधि पर चढ़ावे को एकत्रित करने के लिए दो पुरुष सदा खुरफावड़ियाँ लिये तैयार खड़े रहते थे*। परंतु इस उत्सव की सफलता पोप के लिए भ्रांतिकारक थी। १३०२ में फ्रांस के राजा से बोनिफ़ेस का झगड़ा हो गया और १३०३ में पोप सम्राट् को बहिष्कृत करने की घोषणा करनेवाला ही था कि ऐनगनी नामक नगर में पोप के पैतृक प्रासाद में घुसकर गाइ-ला-यूमएट-नैगारे ने उसको अकस्मात् गिरफ़्तार कर लिया। फ्रेंच राजदूत ने पशुबल से भवन में घुस, शयनागार में जा, शय्या पर लेटे और हाथ में क्रूस लिये हुए भयभीत पोप पर भर्त्सनाओं की बौछार कर उसकी अत्यंत ही अवज्ञा की। एक या दो दिन पश्चात् नगर-निवासियों द्वारा स्वाधीनता लाभ कर उसने रोम में पदार्पण किया ही था कि ऑरसिनी वंशजों ने उसको पुनः बंदी बना लिया। इस प्रकार सब भ्रम निकल जाने के पश्चात् यह दुःखित वृद्ध पुरुष कुछ एक सप्ताह के अनंतर बंदी की दशा ही में इस लोक से चल बसा।

यह ठीक है कि पोप पर प्रथम बार अत्याचार होते ही 'ऐनगनी' की प्रजा ने नैगारे पर क्रोधित हो पोप को बल-पूर्वक छुड़ा लिया। पर यह नगर तो पोप का जन्मस्थान था। (फिर यदि प्रजा ने ऐसा किया तो क्या आश्चर्य है?) महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि क्रिश्चियन धर्मानुयायियों के प्रभु के साथ ऐसा दुर्व्यवहार फ्रेंचाधिपति ने अपनी प्रजा की पूर्ण अनुमति से किया था। ऐसा निष्ठुर आचरण करने से पहले राजा ने अपने राज्य के तीनों प्रकार के भूमिपतियों (अर्थात् जागीरदार, चर्च और जन-साधारण) को एकत्रित कर उनकी सम्मति प्राप्त कर ली थी। सर्व-प्रधान धर्माचार्य (पोप) के साथ ऐसा अनियंत्रित एवं उच्छृंखल व्यवहार होते देखकर भी—इँगलैंड, जर्मनी और इटैली—किसी ने तनिक भी ज़बान न हिलाई। क्रिश्चियन-धर्मदृढ़ता के भावों का अब ऐसा ह्रास हो गया था कि मनुष्यों के हृदयों में ढूँढ़ने पर भी उनका पता न चलता था।

समस्त चौदहवीं शताब्दी बीत गई, और पोपों ने अपने नैतिक बल को बढ़ाने का कुछ भी प्रयत्न न किया। अगला 'क्लिमैंट-पंचम' नामक फ्रेंच जातीय पोप, फ्रांस के

---

* जे० एच० रॉबिन्सन।

राजा फिलिप की अनुमति से चुना गया था और उसने रोम में आकर कभी पाँव तक न टेका। उसकी सभा तो सदा एविगनान (.फ्रैंच नगर) ही में लगी रहती थी। .फ्रैंच भूमि पर होते हुए भी यह नगर धर्माध्यक्षाधिकार (पोप की अधीनता) में था, .फ्रांस के राजा से उसका संबंध न था; यहीं पर इसके उत्तराधिकारी १३७७ तक—जब पोप ग्रेगरी एकादश ने रोम नगरस्थ वैटिकन (अर्थात् पोप-प्रासाद) में जाकर निवास करना प्रारंभ किया—रहते रहे। परंतु समस्त पादरी-समुदाय की सहानुभूति ग्रेगरी एकादश के प्रति न थी। बहुत से कॉर्डिनेल (नामक उच्चपदस्थ पादरी) .फ्रैंच जातीय थे; उनके आचार-विचार ऐविगनान नामक .फ्रांसीसी नगर-निवासियों के सदृश थे और उन्हीं नगर-निवासियों से उनका समागम था। ग्रेगरी एकादश के मृत्यूपरांत, इटैलियन जातीय अरबन षष्ठ के पोप चुनते ही इन असंतुष्ट कॉर्डिनेल (नामक) पदधारी पादरियों ने उस निर्वाचन को अप्रामाणिक ठहराकर 'क्लीमैंट सप्तम' को प्रतिद्वंद्वी पोप निर्वाचित कर दिया; यही फूट महान् धार्मिक मतभेद के नाम से विख्यात है। अब एक पोप तो रोम में रहने लगा और समस्त .फ्रैंच-विद्वेषी शक्तियाँ अर्थात् पवित्र रोम-साम्राज्य के सम्राट्, इँगलैंड, पोलैंड तथा उत्तरीय यूरोप के समस्त नृपतिगण उसके अनुयायी—भक्त—बन गये; और उसके प्रतिद्वंद्वी पोपों का स्थान था ऐविगनान तथा उनके सहायक और भक्त थे .फ्रांस के राजा एवं उनके मित्र स्कॉटलैंड, स्पेन और पुर्त्तगाल के शासक तथा विविध जर्मन राजकुमार। बात यहाँ तक बढ़ गई थी कि प्रत्येक पोप न केवल अपने प्रतिद्वंद्वी प्रत्युत उसके अनुयायी दल को भी बहिष्कृत कर धिक्कारने लग गया था (१३१८-१४१७)। ऐसी दशा में यदि यूरोप की साधारण प्रजा अब धर्म-संबंधी विषयों पर स्वतंत्रता-पूर्वक स्वयं ही मनन करने लगी तो इसमें कौन अचरज है।

उपरोक्त .फ्रैंसिसकन और डोमिनिकन नामक दो संप्रदायों के अतिरिक्त, क्रिश्चियन राज्यों में अन्य शक्तियों का भी प्रादुर्भाव हो रहा था। इनके द्वारा चर्च की रक्षा होगी या पतन, इसका निर्णय स्वयं चर्च ही की बुद्धि पर निर्भर था। इन दोनों पंथों को चर्च ने अपनाया भी और इनसे सहायता भी प्राप्त की, परंतु .फ्रैंसिसकन के साथ उनका व्यवहार कुछ कठोर ही रहा। अन्य शक्तियाँ भी स्पष्ट रूप से चर्च की अवहेलना कर उसके कार्यों की कड़ी आलोचनाएँ किया करती थीं। फिर १५० वर्ष पश्चात् वाइ-क्लिफ़ का प्रादुर्भाव हुआ (१३२०-१३८४)। वह आक्सफ़ोर्ड का प्रसिद्ध डाक्टर था। जीवन के प्रायः अंतिम काल में उसने पादरियों के दूषण एवं चर्च की मूर्खताओं की अत्यंत कड़ी आलोचनाएँ करनी प्रारंभ कर दीं। 'वाइक्लिफ़ाइट' कहलानेवाले निर्धन पुरोहितों को उसने समस्त इँगलैंड में अपने विचारों का घूम-घूमकर प्रचार करने

के लिए संगठित किया। अपने और चर्च के उपदेशों के सत्यासत्य का निर्णय जनता द्वारा कराने के लिए उसने बाइबिल का अँगरेज़ी भाषा में अनुवाद भी कर डाला। संट (महात्मा) डोमिनिक अथवा संट फ्रैंसिस के मुक़ाबिले में वह कहीं अधिक योग्य एवं विद्वान् था। उच्चकुलाभिभूत पुरुष वाइक्लिफ़ की सहायता करते और जन-साधारण का अधिकांश उसका अनुयायी था। रोम ने क्रुद्ध हो उसको बंदीगृह में डालने की आज्ञा दे दी परंतु वह स्वतंत्र ही मरा। कैथोलिक (अर्थात् सहिष्णु परंतु वास्तव में असहिष्णु) चर्च को विनाश की ओर ले जानेवाले उस प्राचीन तामसिक भाव ने इस बेचारे की हड्डियों तक को समाधि में विश्राम न लेने दिया और कॉन्स्टेंस की सभा के आदेश द्वारा (१४१५) उसके अस्थि-अवशेष को समाधि से निकालकर जलाने की आज्ञा दे दी गई। बिशप फ्लेमिंग ने १४२८ में मार्टिन पंचम नामक पोप की उक्त आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन किया। हड्डियों को इस प्रकार निकालकर जलाना किसी अकेले धर्मान्ध पुरुष का कुकृत्य नहीं था, वह तो वास्तव में समस्त धर्म-(चर्च) अधिकारियों का सम्मिलित कार्य था।

(४८)

मंगोलों की विजय

जिस समय तेरहवीं शताब्दी में समस्त ईसाई राज्यों के एकीकरण के लिए पोप की अधीनता में अद्भुत परंतु निष्फल पारस्परिक युद्ध चल रहे थे, उसी समय एशिया के अधिक विस्तृत रंगमंच पर इनसे कहीं अधिक प्रभावोत्पादक नाटक का अभिनय हो रहा था। चीन के उत्तर की ओर के देश से, संसार के कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हो, सहसा उत्कर्ष पा, तातार जाति ने ऐसी विजय-माला पिरोई कि जिसकी समता इतिहास में नहीं मिलती। तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक तो इस पशुचारणोपजीवी जाति के समुदाय के समुदाय अपने पुरखा हूणों के समान कम्बलों के डेरों में रहते और मांस तथा घोड़ी के दूध के आधार पर जीवन व्यतीत करते थे। चीनी राजाओं के शासन का जुआ, उस समय उन्होंने अपने कंधों से उतारकर फेंक दिया था और अन्य तुर्की जातियों से मेल कर अपना एक सैनिक-संघ बना डाला था, जिसका प्रधान शिविर ऑन ऑन नदी के तट पर साइबेरिया में था।

चीन देश उस समय कई भागों में विभक्त था। महान् तंगवंश का तो दसवीं शताब्दी में ह्रास हो गया था। फिर पारस्परिक युद्ध करनेवाले राज्यों के युग के पश्चात् चीन में केवल तीन राज्य शेष रहे। उत्तर में किन नामक राज्य था, जिसकी राजधानी पैकिन थी; दक्षिण में तंग राज्य था, जिसकी राजधानी नानकिंग थी; और मध्य में हसिया नामक राज्य था। १२१४ में इस तुर्क संघ के नायक चंगेज़ खाँ ने उत्तरीय किन नामक राज्य से युद्ध कर पैकिन पर अपना अधिकार जमा लिया; फिर उसने पश्चिम की ओर मुख मोड़कर पश्चिमीय तुर्किस्तान, फ़ारस, आरमीनिया और लाहौर पर्य्यंत भारत और कीफ़ पर्य्यंत दक्षिणीय रूस को जा जीता। मृत्यु के समय प्रशान्त महासागर से लेकर नीपर नदी पर्य्यंत फैले हुए महान् साम्राज्य पर उसका शासन-चक्र चल रहा शा।

उसके उत्तराधिकारी उगादई ख़ाँ ने भी अपना यह अद्भुत विजय-क्रम जारी रखा और कराकुरम पर्वतमाला के मंगोलिया प्रदेश में अपना स्थायी राज्य स्थापित

किया। कहीं अधिक उत्तम रीति से संगठित होने के अतिरिक्त उसकी सेना, चीनियों द्वारा हाल ही में आविष्कृत बारूद से भी पूर्णतया सुसज्जित थी जिसका छोटी-छोटी तोपों में उपयोग किया जाता था। 'किन' साम्राज्य की विजय पूर्ण कर यह महानायक (टिड्डियों के समान) अपने सैन्यदल को एशिया महाद्वीप पार करता हुआ सीधा रूस की ओर ले गया (१२३५) जो एक महान् विजय-यात्रा थी। फिर कीफ़ नामक नगर को उसने १२४० में विध्वंस किया और प्रायः समस्त रूस मंगोलों का करद हो गया। पोलैंड को लूटकर पोल तथा जर्मन जाति की मिश्रित सेना को उसने निम्न साइलीसिया प्रदेश के लिगनिट्ज़ नामक स्थान पर १२४१ के युद्ध में छिन्न-भिन्न कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय ने इस ज्वार के रोकने का पूर्ण प्रयत्न नहीं किया था।

'रोम साम्राज्य का ह्रास और पतन' नामक गिब्बन की पुस्तक की टिप्पणी में बरी महाशय लिखते हैं कि यूरोपीय इतिहासज्ञों को हाल ही में इस बात का पता चला है कि जिसने पोलैंड को बुरी तरह रौंद डाला और १२४१ की बसन्त ऋतु में हंगरी पर अपना अधिकार जा जमाया, उस मंगोल-सैन्य की विजय उसके बहुसंख्यक होने पर निर्भर न थी, प्रत्युत इसका हेतु था रणनीति-कौशल में उसकी पराकाष्ठा। परन्तु इस तथ्य से जनसाधारण अभी अनभिज्ञ हैं। गँवारों की अभी यही धारणा चली जाती है कि 'तातारियों की असभ्य जाति पूर्वीय यूरोप को कूदते हुए असंख्य अश्वारोही दल के भरोसे ही बढ़िया में तिनके की भाँति बहाकर ले गई। इन बर्बरों में रणनीति-कौशल नाम-मात्र को न था। अपनी बहुसंख्या के कारण ही इन्होंने समस्त प्रतिबन्धों को मिट्टी में मिला दिया; इत्यादि।'

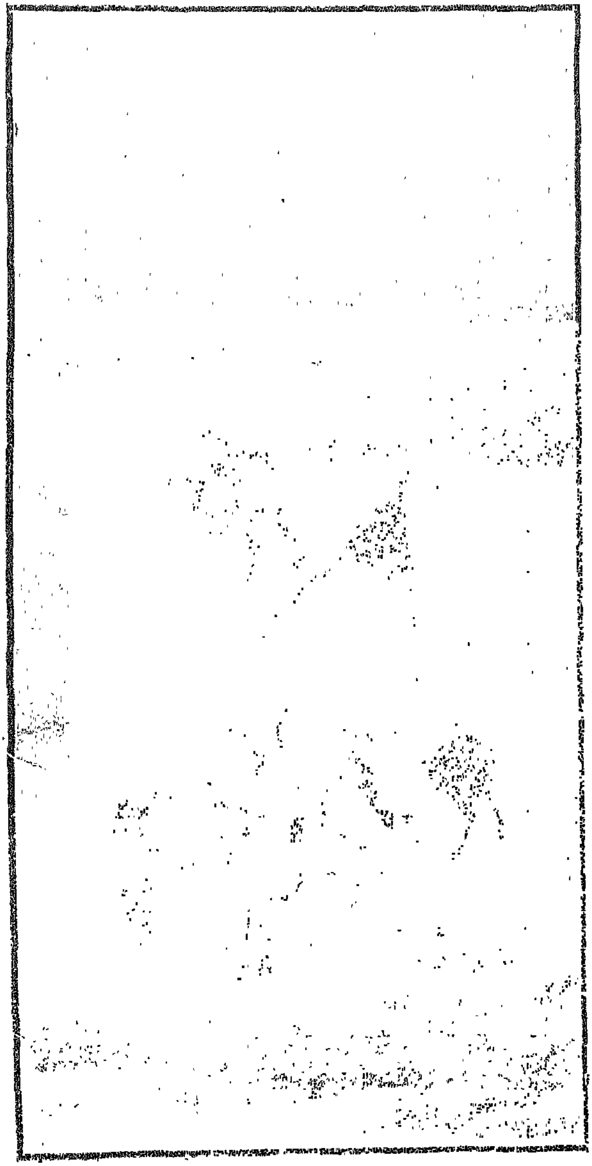
लोअर विसचुला नदी से लेकर ट्रांसिलवैनिया पर्यंत फैले हुए विस्तृत प्रदेश में इनके समस्त व्यापार ठीक समय और ऐसे सफलता-पूर्वक होते थे कि उनका वृत्त जानने पर हमारे अचरज की सीमा नहीं रहती। ऐसी महती युद्ध-प्रवृत्ति किसी भी तत्कालीन यूरोपियन सेना के बलबूते की न थी और न किसी यूरोपीय सेनानायक के मस्तिष्क ही में ऐसा विचार प्रवेश कर सकता था। फ्रेडरिक द्वितीय से लेकर निम्न श्रेणी पर्यंत एक भी ऐसा सेनानायक समस्त यूरोप में न था, जो रणनीति-कौशल में मंगोल-नायक सुबुताई के मुक़ाबिले में नौसिखिया की भाँति न हो। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस कुष्कर्म के प्रारंभ करने से प्रथम मंगोल जाति ने तो हंगेरी तथा पोलैंड की राजनैतिक अवस्था एवं दशा का सुव्यवस्थित चर-प्रणाली द्वारा संपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था; परंतु हंगेरी-निवासी तथा अन्य क्रिश्चियन शक्तियाँ अज्ञ बर्बरों के समान, अपने शत्रुओं के संबंध में कुछ भी जानकारी न रखती थीं।

परंतु सैलेसिया में विजय प्राप्त कर मंगोल फिर पश्चिम की ओर अग्रसर नहीं हुए। जंगली प्रदेश तथा पर्वतमालाओं के कारण उनका रणनीति-कौशल वहाँ सफल न हो सका; अतएव दक्षिण दिशा की ओर मुड़कर वे हंगेरी ही में बसने को तैयार हो गये और जिस प्रकार वहाँ के वासी उनके सजातीय मगयारों ने अपने पूर्ववर्त्ती सीथियन, अवार तथा हूणों के साथ बर्ताव किया था, उसी प्रकार उन्होंने भी कहीं तो मग जाति का क़त्लेआम किया और कहीं उनसे मेल कर लिया।

हंगेरी के मैदान में बस जाने के पश्चात् हंगेरियन जाति ने जिस प्रकार नवीं शताब्दी में तथा अवार जाति ने सातवीं और आठवीं शताब्दी में और हूण जाति ने पाँचवीं शताब्दी में पश्चिम तथा दक्षिण दिशा की ओर आक्रमण करने प्रारंभ कर दिये थे, उसी प्रकार शायद वे (तातार) भी करते, परंतु १२४२ में ओगदयी की सहसा मृत्यु हो जाने के कारण किसको उत्तराधिकारी बनाया जाय? इस प्रश्न पर ही उनमें ऐसा गृहकलह प्रारंभ हुआ कि अपराजित मंगोलों के दल हंगेरी और रूमानिया की राह पुनः पूर्व दिशा की ओर लौट पड़े।

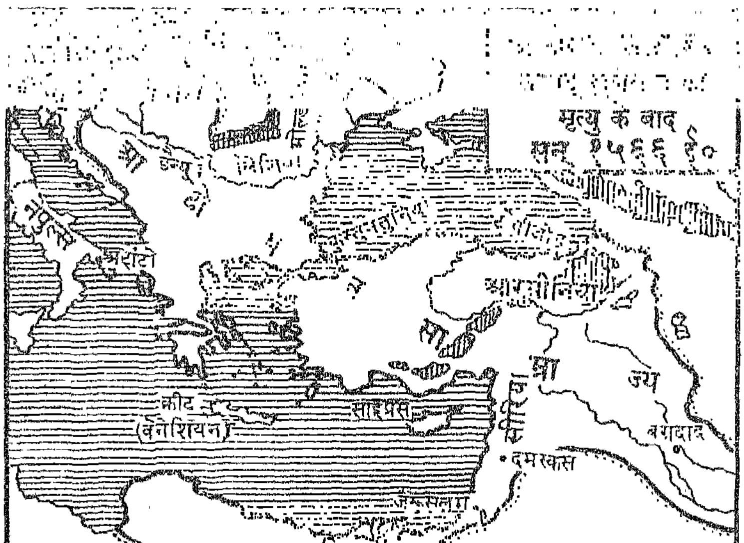
इसके पश्चात् मंगोल दत्तचित्त होकर एशिया महाद्वीप के ही विजय करने में लग गये और तेरहवीं शताब्दी का आधा भाग बीतते न बीतते उन्होंने संग-साम्राज्य को जीत लिया। ओगदयी ख़ाँ की मृत्यु के उपरांत १२५१ में 'महान् ख़ान' की उपाधि धारण कर मंगूख़ान उसका पदाधिकारी हुआ और उसने अपने भाई क़ुबलई ख़ान को चीन का गवर्नर बना दिया। जब १२८० में क़ुबलईख़ान को नियमित रूप से चीन का सम्राट् मान लिया गया तो उसने वहाँ यूआन वंश की नींव डाली जिसका अस्तित्व १३६८ तक क़ायम रहा। संग-शासन के अंतिम भग्नावशेषों का जब चीन में इस प्रकार नाश हो रहा था उसी समय मंगूख़ान का एक और भाई हलाकू ख़ान पश्चिम की ओर फ़ारस तथा सीरिया के जीतने में लगा हुआ था। मंगोल इस समय इसलाम से घोर विद्वेष रखते थे; उन्होंने बग़दाद विजय करने के पश्चात् नगर-निवासियों का संहार करके ही संतोष न किया; प्रत्युत अत्यन्त प्राचीन जलसिंचन-पद्धति को भी जिसके कारण अतीत-कालीन सुमेरियों के समय से लेकर उस समय तक मैसोपोटामिया अत्यंत धन-धान्य एवं जन-पूरित हो रहा था, संपूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर डाला; यही कारण है कि तब से आज पर्य्यंत यह देश प्राचीन भग्नावशेषों का मरुस्थल तथा अल्पसंख्यक जन-पूरित चला जाता है। मिस्र में मंगोल कभी न घुस सके। वहाँ के सुलतान ने तो १२६० में हलाकू ख़ान की सेना को पैलेस्टाइन के मैदान में बुरी तरह पराजित कर भगा दिया था।

इस घोर आपत्ति के पश्चात् मंगोलों की विजय-लहरी में भाटा आना प्रारंभ हो गया। यहाँ तक कि 'महान् खान' का बृहत् साम्राज्य बहुत सी छोटी छोटी रियासतों में विभक्त हो गया। चीन-निवासियों के समान अब पूर्वीय मंगोलों ने तो बौद्ध-धर्म अंगीकार कर लिया और पश्चिम दिशा-वासियों ने इसलाम की दीक्षा ले ली। यूआन वंश के शासन का जुआ भी चीनियों ने १३६८ में उतारकर फेंक दिया और उसके स्थान में तद्देशीय मिंग-वंश का राज्य स्थापित हो गया जो १३६८ से १६४४ तक चलता रहा। उधर अग्निकोणस्थ रूस के प्रसिद्ध स्टेप्पीज़ (पठारों) में १४८० ई० तक तो तातारियों को राजस्व मिलता रहा; परंतु उसके पश्चात् मॉस्को के ग्रांड ड्यूक ने उनके प्रति राज-भक्ति प्रदर्शित करना छोड़ पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर आधुनिक रूस की नींव डाली।



तातारी सवार

चंगेज़ ख़ाँ के वंशज तैमूरलेन अथवा तैमूरलंग के समय में—१४ वीं शताब्दी में—कुछ समय के लिए मंगोलों में पुनः बल का संचार हुआ था। उस समय इस व्यक्ति ने पश्चिमीय तुर्किस्तान में अपना शासन दृढ़ करने के अनंतर १३६९ में महान् ख़ान की उपाधि धारण कर सीरिया से लेकर दिल्ली पर्य्यन्त समस्त देश जीत डाले। सब मंगोल-विजेताओं में यही एक सबसे अधिक क्रूरकर्मा और विध्वंसक था। इसका स्थापित किया हुआ निर्जन एवं शून्य साम्राज्य तो इसकी मृत्यु के उपरांत ही लुप्त हो गया; परन्तु इसके वंशज बाबर नामक एक साहसी व्यक्ति ने १५०५ में तोपख़ाने सहित एक सैन्यदल एकत्रित करने के पश्चात् भारत के मैदानों पर धावा बोल दिया और उसके पौत्र अकबर ने (१५५६-१६०५) इन विजयों को संपूर्ण कर अपने वंश का राज्य भारत में दृढ़ता-पूर्वक स्थापित कर दिया। यह मंगोल वंश (जिसको अरब लेखक मुग़ल कहते हैं) देहली तथा भारत के अधिक भाग पर अठारहवीं शताब्दी तक राज्य करता रहा।



तेरहवीं शताब्दी में मंगोलों के इन प्राथमिक महान् आक्रमणों के कारण तुर्क जाति का उसमान नामक एक समुदाय तुर्किस्तान से निकलकर एशिया माइनर में चला गया था। यहाँ पर अपना शासन दृढ़ता-पूर्वक स्थापित करने के अनंतर इस जाति ने अग्रसर हो डार्डेनिलिस का जलग्रीव पार कर मैसिडोनिया, सर्विया और बलगेरिया पर आक्रमण कर

दिया। यहाँ तक कि अन्त में उसमानिया के शासन-समुद्र में ईसाइयों का कॉन्स्टेंटिनोपिल नामक नगर केवल एक द्वीप के समान प्रतीत होता था। परंतु उसमान-वंशीय सम्राट् महम्मद द्वितीय ने यूरोप की ओर से बहुत सी तोपों द्वारा आक्रमण कर इस नगर को भी अपने हस्तगत कर लिया। इस घटना से यूरोप में बड़ी हलचल मची और पुनः धार्मिक युद्ध छेड़ने की चर्चा होने लगी; परंतु ऐसे क्रूसेड्स के दिन तो कभी के बीत चुके थे।

सोलहवीं शताब्दी में उसमान-वंशीय सुलतानों ने बग़दाद, हंगेरी, मिस्र और उत्तरीय अफ्रीका के अधिकांश भाग अपने अधीन कर लिये। और प्रबल नौ-बल के कारण उस समय समस्त भू-मध्यसागर पर इनका शासन था। वीयना नामक नगर तो इनके हाथों पड़ने से बाल-बाल बचा था; परंतु सम्राट् (पवित्र रोम-साम्राज्य के सम्राट्) से इन्होंने राजस्व फिर भी बल-पूर्वक ले ही लिया। पन्द्रहवीं शताब्दी में क्रिश्चियन राज्य-समुद्र का ह्रास-रूपी भाटा रोकनेवाली केवल दो घटनाएँ घटित हुई थीं; अर्थात् मॉस्को का स्वाधीनता प्राप्त करना और ईसाइयों द्वारा स्पेन का धीरे-धीरे पुनर्विजय। १४९२ में इस प्रायद्वीप का ग्रानादा नामक अंतिम मुसलिम स्थान भी ऐरागोन के राजा फ़र्दिनंद और उनकी पत्नी—कैस्टील की आइसाबेला—के हाथों में आ गया।

परंतु लैपैन्टो के अंतिम नाविक युद्ध में (१५७१) उसमानों की शक्ति का दर्प जब तक संपूर्णतया चूर्णित न हुआ, तब तक ईसाइयों का प्रभुत्व और उनकी महत्ता भूमध्य-सागर में पूर्ण रूप से फिर भी स्थापित न हो सकी।

(४९)

यूरोपीय जातियों का बौद्धिक पुनरुत्थान

समस्त बारहवीं शताब्दी में बहुत से ऐसे लक्षण प्रतीत होते थे जिनसे ज्ञात होता था कि यूरोपीय जातियों की बुद्धि अवकाश पा, और उत्साहित हो, प्राचीन यूनानियों की वैज्ञानिक मीमांसाओं और इटेली-वासी ल्यूक्रेटियस के गहन विचारों में पुन: अग्रसर हो रही थी। इस पुनरुत्थान के और बहुत से दुरूह कारण हैं; परंतु पारस्परिक युद्धों का निरोध (बंदिश), क्रूसेड्ज़ के उपरांत रक्षा एवं सुख-साधन की प्राप्ति और उपरोक्त यात्रा के अनुभव द्वारा उत्पन्न हुआ मनुष्यों का चित्तोत्साह वास्तविक और प्रधान हेतु थे। इनके अतिरिक्त व्यापार की उस समय पुनर्वृद्धि हो रही थी; नगरों में फिर वैसा ही सुख और शांति मिलने लगी थी, उच्च श्रेणी की शिक्षा का चर्च में प्रादुर्भाव तथा उसका जन-साधारण में प्रचार हो चला था। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी सरीखे काल में ही वेनिस, फ़्लौरेंस, जिनोआ, लिसबन, पैरिस, ब्रूजेज़, (Bruges), लंदन, एंटवर्प, हैमबर्ग, नूरेमबर्ग, नौवगौरोद, विसबी और बर्गन इत्यादि स्वाधीन अथवा अर्ध-स्वाधीन नगरों की उन्नति हुई थी। ये व्यापारिक नगर सदा यात्रियों से भरे रहते थे और यात्रा तथा व्यापार करते समय पुरुषों में पारस्परिक वार्तालाप और विचार-विनिमय भी होता ही है। पोप तथा राजकुमारों के वादविवाद और नास्तिकों के प्रति स्पष्ट बर्बरता एवं धूर्तता भरे अत्याचारों के कारण चर्च के प्रभुत्व को लोग और भी शंकित चित्तों देखने और धर्म के प्रधान मौलिक तत्त्वों पर स्वयं निर्णय करने के लिए उत्साहित हो रहे थे।

यूरोप ने ऐरिस्टौटिल को किस प्रकार से अरबों द्वारा पुन: प्राप्त किया और किस प्रकार फ्रेडरिक द्वितीय सरीखे राजा के कारण अरबी के दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विचारों का वर्धिष्णु-यूरोपीय मस्तिष्कों पर प्रभाव पड़ा था यह हम अभी बता चुके हैं। परंतु इससे भी कहीं अधिक उत्साह और वेग से जिन्होंने मानव-विचारों को भड़काया था वे यहूदी थे। उनका तो अस्तित्व ही चर्च के संपूर्ण दावे के सम्मुख मानों

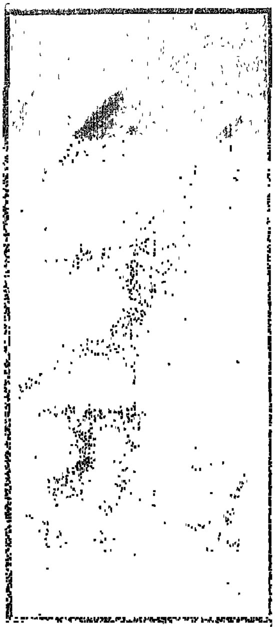
प्रश्नसूचक चिह्न की भाँति बना हुआ था। और अंत में रासायनिकों (एलकैमिस्ट) की चित्ताकर्षक परंतु गुप्त गवेषणाएँ दूर दूर तक फैलकर पुरुषों को रहस्य में लुप्त परंतु सफल होनेवाले क्रियात्मक भौतिक विज्ञान की ओर उत्साहित कर रही थीं।

मनुष्यों का यह चित्तोद्वेग अब केवल सुशिक्षितों और स्वतंत्र विचार रखनेवालों तक ही परिमित न था। संसार के मानव-मस्तिष्क ही में इस समय अननुभूतपूर्व रीति से सर्वतोमुखी जागृति हो रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पादरियों तथा (घोर) अत्याचारों के होते हुए भी क्रिश्चियन धर्म का कुछ ऐसा प्रभाव था कि जहाँ जहाँ इसकी शिक्षा का प्रचार किया जाता था वहाँ वहाँ एक प्रकार का मानसिक उत्ताप फैल जाता था। इस धर्म के सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा और सत्य परमेश्वर के बीच ऐसा साक्षात् संबंध स्थापित कर देते थे कि आवश्यकता पड़ने पर उसको किसी भी राजकुमार, पादरी अथवा पंथ के विषय में निर्णय करने का सदा साहस रहता था।

यूरोप में ग्यारहवीं शताब्दी सरीखे प्राचीन समय से ही दार्शनिक विषयों पर वादविवाद होना प्रारंभ हो गया था। पैरिस, ऑक्सफ़ोर्ड, बोलोना आदि अन्य केन्द्रों में महान् एवं उन्नतिशील विश्वविद्यालयों की स्थापना हो गई थी और भविष्य के वैज्ञानिक युग में शुद्ध एवं सभ्य रीति से विचार करने के लिए जिन शब्दों के अर्थ और समारता को जानने की सर्वप्रथम आवश्यकता हुई उनको इन्हीं स्थानों के मध्यकालीन तार्किक जन समस्या की भाँति विचार करने के अनंतर तुष सहित अनाज से कणवत् पृथक् कर रहे थे। परंतु फ्रैंसिसकन पंथानुयायी आधुनिक भौतिक विज्ञान के पिता, ऑक्सफ़ोर्ड निवासी रौजर बेकन का स्थान अपनी अपूर्व एवं अद्वितीय प्रतिभा के कारण इन सब से उच्च था। हमारे इतिहास में इस पुरुष का नाम महत्ता की दृष्टि से केवल ऐरिस्टौटिल के पश्चात् ही लिखा जाना उचित है। इसके लेख अज्ञान के विरुद्ध एक लंबी-चौड़ी निंदात्मक समालोचना हैं। और अपने समय को अज्ञानयुग बताकर भी इसने अत्यंत साहस का परिचय दिया है। आजकल तो गंभीर एवं सभ्य संसार को महामूर्ख कहने और उसकी कार्य-विधि को स्तनपायी शिशु-तुल्य और भद्दी बताने तथा उसके सिद्धान्तों को बालकों के मनोनीत विचारों की उपमा देनेवाले पुरुष को कायिक कष्ट का बहुत अधिक डर नहीं है; परंतु उस समय की बात जुदा थी। यह मध्यकालीन जातियाँ तो सर्वसंहार, महामारी तथा दुर्भिक्ष आदि कराल-काल के गाल में भेजनेवाले समयों को छोड़कर दृढ़ता से सदैव अपने को ज्ञानी और स्वकीय सिद्धान्तों को सर्वांगपूर्ण समझने के कारण प्रत्येक आक्षेप पर उग्र रूप से क्रोधित हो उठती थीं। रौजर बेकन के ये लेख, उस घोरान्धकार में सहसा प्रकाशित होनेवाली विद्युत्-रेखा के समान थे। सम-

सामयिक अज्ञानता पर आक्षेप करने के अतिरिक्त उसने ज्ञान बढ़ाने के भी बहुत से उपाय बताये। ज्ञान को एकत्रित करने तथा प्रयोगों की आवश्यकता पर उसने ऐसी भावुकता से ज़ोर दिया है कि हमको उसके शरीर में ऐरिस्टॉटिल की आत्मा पुनः प्रविष्ट हुई सी प्रतीत होती है। "प्रयोग करो, प्रयोग करो" यही रौजर बेकन के राग की टेक है।

परंतु ऐरिस्टॉटिल की रौजर बेकन सदा निंदा ही करता रहा। और इसका कारण यह था कि वस्तुओं का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के स्थान में मनुष्य उस महान् शिक्षक के केवल उन भद्दे लैटिन अनुवादों ही का—जो उस समय उपलब्ध थे—कमरों में बैठकर मनन करते थे। अपनी उसी अमर्यादित विधि से वह लिखता है कि "यदि मेरा वश चलता तो मैं ऐरिस्टौटिल की *समस्त ग्रंथावली को अग्नि के समर्पण* कर देता; क्योंकि इसके अध्ययन से एक तो समय वृथा नष्ट होता है, दूसरे मिथ्या विचारों के उत्पन्न होने के कारण अज्ञानता बढ़ती है।" ये भाव ऐसे हैं कि ऐरिस्टौटिल की आत्मा यदि संसार में पुनः पदार्पण करती—जहाँ उसके ग्रंथों के अध्ययन की अपेक्षा उनकी पूजा ही अधिक होती थी जैसा कि रौजर बेकन ने उन गर्हित अनुवादों से स्वयं सिद्ध कर दिया था—तो वह भी इन भावों का पूर्णरूपेण समर्थन करती।

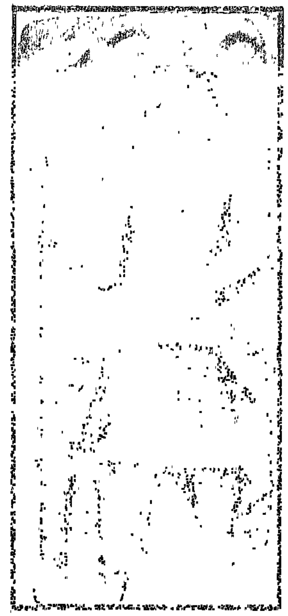


कसकुट की मूर्ति (अफ्रीका के वेनिन स्थान में मिली हुई)

अपनी समस्त पुस्तकों में जो जेल जाने तथा अन्य अधिक भयानक फल भोगने के भय से कट्टर सनातन विचारों से प्रकाश्य रूप में मेल खाती हुई लिखी गई थीं रौजर बेकन समस्त मानव समाज को यही घोषणा देता है कि "सिद्धांतों और (धर्म के) प्रामाणिक ग्रंथों का सहारा छोड़ अब संसार की ओर देखो। प्रमाण वचनों के प्रति श्रद्धा, लोकाचार, अज्ञानी जनसमुदाय के भाव और मानवस्वभाव की अशिक्षणीय अहंकारिक प्रकृति इन चार अज्ञानता के उद्गमस्थानों को उसने हेय बतलाया है। "केवल इन्हीं को जीतने पर" बेकन के मत में—"समस्त शक्तियों के भंडार मनुष्य के लिए खुल जावेंगे।"

"जल-यात्रा के लिए ऐसे पतवारहीन यंत्रों का बनाना भी संभव है जिनमें सुसज्जित हो जाने पर नदी अथवा समुद्रोचित बड़े बड़े पोत अधिक पुरुषों के स्थान में एक—केवल एक ही—मनुष्य द्वारा अधिक तीव्र गति से चलाये जा सकें। इसी प्रकार ऐसी गाड़ियाँ भी बन सकती हैं जो बिना पशु के वहन किये हुए भी पुराण-वर्णित योद्धाओं के दरांतीदार (Scythed) युद्धरथों के समान तर्कनातीत द्रुत गति से दौड़ सकतीं (Cum impetu inoesti mabie)। ऐसी उड़ाकू मशीन का बनाना भी संभव है जो उसके मध्य में बैठे हुए मनुष्य के किसी कल को दबाते या घुमाते ही पक्षी के समान कृत्रिम परों को फड़फड़ाती हुई वायुमंडल में घात-प्रतिघात करती विचरने लगे।"

जिस कल्याण-दायक मार्ग को बेकन ने इतनी स्पष्टता से मनुष्यों के निष्प्रभ व्यवहारों में देखकर, उपरोक्त कथन में लेख-बद्ध किया था उसी को—कहीं तीन शताब्दियाँ बीत जाने के पश्चात्—मनुष्य ने प्रच्छन्न शक्ति के रूप में प्राप्त करने का सुव्यवस्थित प्रयत्न किया है।


हबशी द्वारा बनी हुई एक योरप-निवासी की मूर्ति

परंतु क्रिश्चियन धर्मावलंबियों को अरब संसार में दार्शनिक तथा कीमियागरों (रासायनिकों) के रूप में प्रोत्साहन मिलने के अतिरिक्त काग़ज़ भी मिला। यदि यह कहा जाय कि काग़ज़ ही के कारण यूरोप का यह बौद्धिक पुनरुत्थान संभव हुआ है तो यह कथन अत्युक्ति न होगा। काग़ज़ का आविष्कार चीन में हुआ था और वहाँ ईसा से दो शताब्दी पूर्व सरीखे प्राचीन काल में भी इसका व्यवहार होता था। ७५१ ई० में चीनियों ने समरक़ंद के अरब-जातीय मुसलमानों पर आक्रमण किया; परंतु युद्ध में पराजय हो जाने के कारण अरबों ने कुछ ऐसे पुरुषों को भी बंदी बना लिया जिनको काग़ज़ बनाना आता था; और उनसे यह विद्या प्राप्त की गई। नवीं शताब्दी और इसके पीछे के काग़ज़ों पर लिखे हुए अरबी ग्रंथ अब भी उपलब्ध होते हैं। या तो यूनान की राह या ईसाइयों द्वारा स्पेन के पुनर्विजय के समय 'मूर' नामक मुसलमानों के काग़ज़ बनाने के कारख़ानों पर क़ब्ज़ा होने से काग़ज़ बनाने का तरीक़ा यूरोप की ईसाई जनता को भी मालूम हुआ। स्पेन

के ईसाइयों द्वारा तैयार किये हुए काग़ज़ की क़िस्म दिन पर दिन रद्दी होती गई। क्रिश्चियन धर्मावलंबी यूरोप में अच्छा काग़ज़ तो तेरहवीं शताब्दी के अंत तक भी न बन सका था। तब केवल इटली ही सबसे अच्छा काग़ज़ बनाने में संसार का अग्रणी था। चौदहवीं शताब्दी में जर्मनीवालों को काग़ज़ बनाने की तरकीब मालूम हुई परंतु व्यावसायिक एवं व्यावहारिक रूप से पुस्तकों के लिए सस्ता और बहुत सा काग़ज़ बनाने की तरकीब का पता लगाने में वह शताब्दी भी पूरी बीत गई। उसके पश्चात् फिर मुद्रण तो आवश्यक और स्वाभाविक ही था। और इस आविष्कार के होते ही जगत् के बौद्धिक जीवन ने एक नवीन और कहीं अधिक बलशाली एवं उन्नतिशील युग में पदार्पण किया। उस युग का तो अब सदा के लिए अंत हो गया था जब ज्ञान एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क में बूँदों की भाँति टपकता था अब तो उसने एक 'दरिया' का रूप धारण किया था जिससे सहस्रों लाखों करोड़ों आत्माएँ तृप्त होने लगीं।

मुद्रण चालू होते ही एक तात्कालिक फल तो यह हुआ कि संसार में 'बाइबिल' के ढेर लग गये, दूसरे पढ़ाई की किताबें भी सस्ती बिकने लगीं। शिक्षा-संबंधी ज्ञान अब शीघ्रता से फैलने लगा। इस समय संसार में न केवल पुस्तकों की संख्या ख़ूब बढ़ रही थी प्रत्युत उनकी भाषा भी पहले से कहीं अधिक सरल और सुगमता से समझने योग्य होती थी। उन दुर्ज्ञेय वाक्यों के स्थान में जिनको कठिनाई से पढ़ने के उपरांत अर्थ-बोध के लिए पुनः मनन करना पड़ता था, अब ऐसे सरल शब्द होते थे कि पाठक पढ़ने के साथ ही साथ बिना किसी रुकावट के उनका आशय भी भली भाँति समझ सकते थे। इस प्रकार ज्यों-ज्यों पढ़ना अधिक सुलभ होता गया, त्यों-त्यों पढ़नेवाले जन-समुदाय की संख्या भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। पुस्तकें अब, पहले की भाँति, विद्वानों का रहस्य अथवा सुसज्जित खिलौना न थीं। जन-साधारण के पढ़ने और समझने योग्य पुस्तकें ही अब लैटिन के बजाय बोल-चाल की भाषा में लिखी जाती थीं। इसी चौदहवीं शताब्दी से यूरोपीय साहित्य का वास्तविक इतिहास प्रारंभ होता है।

यूरोप के इस पुनरुत्थान में अरबों ने भाग लिया। केवल यही हमने अब तक वर्णन किया है। अब हम मंगोल आक्रमण-जनित प्रभावों का वर्णन करने के लिए अग्रसर होते हैं। इनके कारण यूरोप में भौगोलिक कल्पनाओं को ख़ूब ही प्रोत्साहन मिला। कुछ समय तक तो 'महान् ख़ान' के अधीनस्थ समस्त एशिया और यूरोप में स्वच्छन्दतया आवागमन होता था। संपूर्ण राज-पथ अस्थायी रूप से खुल गये थे और प्रत्येक जाति के प्रतिनिधि कराकुरम पर्वतमाला के दरबार में उपस्थित होते थे। ईसाइयों तथा मुसलमानों के पारस्परिक धर्मयुद्धों के कारण एशिया और यूरोप महाद्वीप के

मध्य जो एक प्रकार की रुकावट उत्पन्न हो गई थी, वह भी इस समय कम हो गई। पोप, मंगोलों को ईसाई बनाने की बड़ी आशाएँ कर रहे थे। ये लोग अभी तक आद्य-प्रतिमापूजक शुमान (अंशुमान-सूर्य) नामक धर्म के अनुयायी थे। मंगोल राजसभा में पोप के दूत, भारतीय-बौद्ध-भिक्षु पेरिस, इटेली तथा चीन के दस्तकार और बैज़ण्टाइन एवं आरमीनिया के व्यापारी–सभी का अरब के अधिकारी-वर्ग और फ़ारस तथा भारत के गणित और ज्योतिष-शास्त्रियों में समागम होता था। मंगोल-आक्रमण तथा जन-संहार के संबंध में तो हम इतिहास में बहुत कुछ पढ़ते हैं, परंतु इस जाति को विद्यार्जन की कैसी उत्कट अभिलाषा एवं लालसा लगी हुई थी, इसका हमको पर्याप्त ज्ञान नहीं है। उत्पादक के रूप से तो नहीं परंतु शिक्षा एवं पद्धति फैलानेवाले (प्रसारक) के रूप से इस जाति का संसार के इतिहास पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा है। और चंगेज़ ख़ान अथवा कुबलई ख़ान के अस्पष्ट एवं विचित्र (Romantic) व्यक्तित्व के संबंध में जो बातें अब तक मालूम हुई हैं उनसे यह विचार तो अवश्य ही दृढ़ हो जाता है कि यह नरनाथ कम से कम उस अहंकारी एवं उल्का सम महान् ऐलेकज़ेंडर अथवा राजनैतिक प्रेतात्माओं को जगानेवाले पराक्रमशील परंतु अनपढ़ दार्शनिक शार्लमेन के समान तो अवश्य ही समझदार और क्रियाशील थे।

मंगोल दरबार में जानेवाले इन पुरुषों में वैनिस-निवासी मार्कोपोलो नामक एक अत्यन्त रोचक व्यक्ति भी था जिसने अपनी कथा को पीछे से पुस्तक रूप में लिखा है। अपने पिता और पितृव्य के साथ, जिन्होंने इससे प्रथम एक बार और उस ओर यात्रा की थी, यह १२७२ में चीन देश को गया। दोनों वृद्धों (अर्थात् पिता और पितृव्य) का महान् ख़ान के ऊपर अत्यन्त गहरा प्रवाह पड़ा था; लैटिन जाति के इन्हीं दो पुरुषों को उसने सर्वप्रथम देखा था और क्रिश्चियन धर्म को समझाने की शक्ति रखनेवाले शिक्षकों, विद्वानों तथा औत्सुक्य-जनक अन्य पदार्थों की तलाश करने के लिए महान मंगोल शासक ने इनको पुनः यूरोप को लौटा दिया था। मार्को को साथ लेकर अब ये दूसरी बार राजदरबार में उपस्थित हुए थे। जिस क्रीमिया प्रदेश में होकर इन्होंने अपनी प्रथम यात्रा की थी, उस ओर न जाकर 'तीनों पोलो' इस बार पैलेस्टाइन होकर चले। महान् ख़ान द्वारा दी हुई स्वर्ण-पट्टिका तथा अन्य चिह्नों के कारण यात्रा करने में इनको अत्यन्त सुविधा हुई होगी। ख़ान ने इनसे जेरुसलम की पवित्र समाधि (अर्थात् यीशू मसीह की क़ब्र) पर जलनेवाले दीप का कुछ तैल लाने को भी कहा था। अतएव यह सर्वप्रथम उसी ओर गये और वहाँ से सिलीसिया की राह आरमीनिया जा पहुँचे। मंगोल-राज्य पर इस समय मिस्र के सुलतानों का आक्रमण होने के कारण, इनको इस

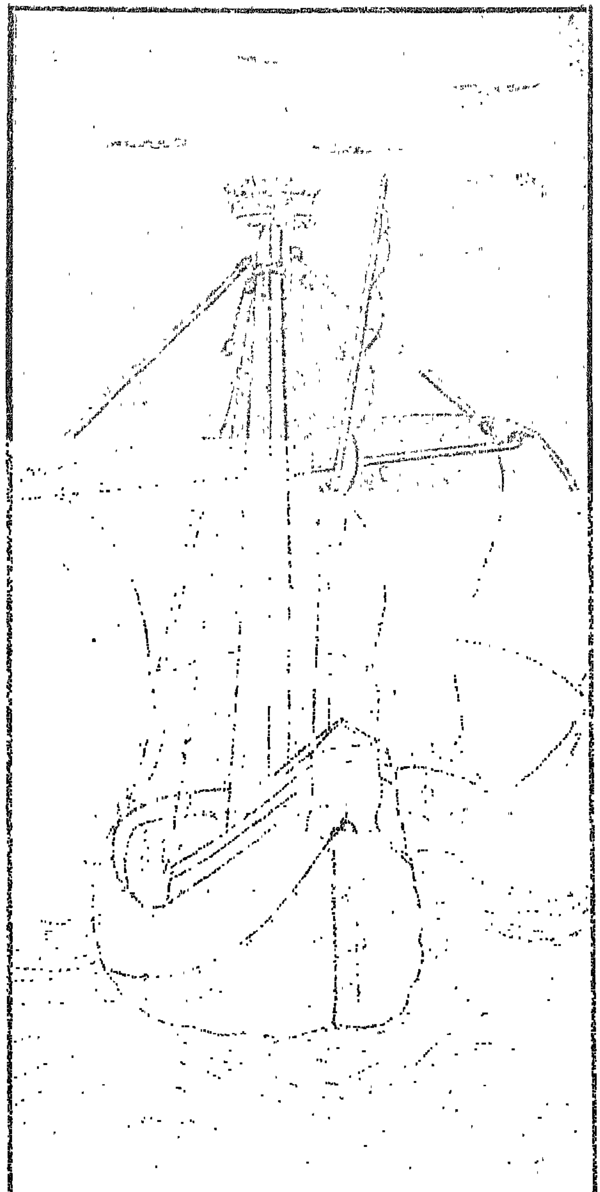
प्रकार उत्तर दिशा की ओर होकर जाना पड़ा था। हाँ, तो फिर आरमीनिया से यह मेसोपोटामिया की राह फ़ारस की खाड़ी पर उरमुज़ नामक नगर में आ गये जिससे प्रतीत होता है कि इनकी इच्छा समुद्र-यात्रा करने की थी। यहाँ पर इनकी भारत के व्यापारियों से भेंट हुई। परंतु फिर किसी कारण-वश जहाज़ों पर न चढ़कर, यह पुनः उत्तर की ओर फ़ारस की मरु-भूमि में होते हुए बलख़ और पामीर पारकर काशग़र और कोतान और वहाँ से लोबनोर और ह्वांग-हो घाटी की राह—महान् ख़ान की निवास-भूमि—पेकिन नगरी जा पहुँचे जहाँ इनका ख़ूब आतिथ्य एवं सत्कार हुआ।

मार्को को देखकर कुबलई विशेपतया प्रसन्न हुआ था। एक तो यह वैसे ही युवा एवं चतुर था और उस पर तातारी भाषा में भी इसने ऐसी योग्यता प्राप्त कर ली थी कि अधिकार दे दूत बना इसको विशेपतया दक्षिण-पश्चिमीय चीन की ओर कई बार भेजा गया। वहाँ के धन-धान्य-पूरित देश और यात्रियों के लिए बने हुए सुन्दर पान्थनिवास, अंगूर की वाटिकाएँ, खेत तथा उपवन और बहुत से बौद्ध भिक्षुओं के विहार, सुनहरे रेशमी वस्त्र तथा विविध प्रकार का ताफ़ता बनानेवाले कारीगर और बहुसंख्यक नगरों तथा क़सबों का इसने ऐसा रोचक वर्णन किया कि उसके श्रवण-मात्र से समस्त यूरोप-निवासियों के मस्तिष्क में मानों आग सी भड़क उठी; और वे इसको सशंक चित्त से देखने लगे। इसके अतिरिक्त ब्रह्मदेश और वहाँ के महान् सैन्यदल का–जिसमें सैकड़ों हाथी थे—वर्णन कर इसने यह भी लिखा था कि इन पशुओं को किस प्रकार पराजित कर मंगोल धनुष-धारियों ने पेगू प्रांत को अपने हस्तगत किया था। जापान का वृत्त लिखते समय इसने तद्देशीय सुवर्ण का परिमाण बताने में अवश्य अतिशयोक्ति से काम लिया है। तीन वर्ष पर्यन्त याँग-चाऊ नामक नगर का शासक रहने पर भी चीन-निवासियों ने हमारी समझ में तो इसको तातारियों से अधिक परदेशी कदापि न समझा होगा। किसी दौत्य कर्म पर इसका भारत-आगमन भी संभवनीय है। चीनी लेखकों के इस वर्णन से कि १२७७ में पोलो नामक एक व्यक्ति का राज-दरबार से संबंध था—पोलो की कथा की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

मार्को पोलो का यात्रा-विवरण प्रकाशित होते ही यूरोपीय जाति के मस्तिष्क पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। यूरोपीय साहित्य और विशेषतया पन्द्रहवीं शताब्दी की यूरोपीय कहानियाँ कैथे (उत्तरीय चीन) और कैमब्यूलैक (पैकिन) आदि नामों से भरी हुई होने के कारण मार्को पोलो की कथा की केवल प्रतिध्वनि मात्र प्रतीत होती हैं।

दो शताब्दी पश्चात् मार्को पोलो का यात्रा-विवरण पढ़नेवाले क्रिस्टोफर कोलम्बस नामक एक जिनोआ-निवासी के मन में पश्चिम ओर से समुद्र-यात्रा द्वारा चीन पहुँचने का

अत्यंत विशद विचार उत्पन्न हुआ। सैविल्ल नामक नगर में इस विवरण की एक ऐसी प्रति भी इस समय रक्खी हुई है, जिसके हाशियों पर कोलम्बस के हाथ की टिप्पणियाँ लिखी हुई हैं। एक जिनोआ-निवासी के मन में इस प्रकार के विचार उत्पन्न होने के भी अनेक कारण हैं। तुर्कों के हस्तगत होने पर्य्यन्त अर्थात् १४५३ ई० तक कुस्तुनतुनिया में पश्चिमीय एवं पूर्वीय संसार का व्यापार समान रूप से होता था। और उस समय तक जिनोआ-निवासी भी वहाँ अप्रतिबाधित रूप से व्यापार करते रहे। परंतु जिनोआ के कट्टर प्रतिस्पर्धी वैनिस-नगर की (जहाँ लैटिन जाति ही बसती थी) तुर्कों से मैत्री होने तथा उनको यूनानियों के विरुद्ध सहायता देने के कारण तुर्कों ने अब कॉंस्टेंटिनोपिल को अधिकृत



इटली के जहाज़ों में प्रारंभिक काल का खुदाई का काम

करने की जिनोआ के व्यापार पर सरोष दृष्टि डालनी प्रारंभ कर दी। "पृथ्वी गोल है" इस अतीतकालीन विस्मृत आविष्कार का लोगों के मस्तिष्क पर तब धीरे-धीरे पुनः प्रभाव पड़ रहा था और पश्चिम ओर यात्रा द्वारा भी चीन पहुँचना संभव है, यह विचार स्पष्ट हो गया। यह विचार-प्रोत्साहन दो कारणों से होता था। एक तो नाविकों के दिङ्-निर्णय-यंत्र का आविष्कार हो जाने से लोगों को स्वच्छ रात्रि का अवलम्ब ढूँढ़ने की आवश्यकता न थी। अब वह तारों के सहारे अपनी यात्रा की दिशा निर्णय न करते थे। दूसरे नार्मन और कैटेलोनियन जिनोआ और पुर्त्तगाल निवासी भी अब एटलांटिक महासागर में कैनेरी द्वीप-समूह मैडेरिया और एजोर्स तक जा पहुँचे थे।

परंतु इस विचार की परीक्षा करने के लिए कोलम्बस को जहाज़ प्राप्त करने में ही अत्यंत कठिनाई उठानी पड़ी थी। बहुत से यूरोपीय राजदरबारों की धूल छानने के पश्चात् अन्त में जाकर 'मूर' जाति से हाल ही में छीने हुए 'ग्रानादा' नामक नगर के राजकुमार फर्दिनंद और राजमहिषी आइज़ावेला के संरक्षक बन जाने पर ही वह तीन छोटे जहाज़ों को लेकर अज्ञात समुद्र के पार जाने को रवाना हुआ। दो मास और नौ दिन तक यात्रा करते रहने के अनंतर वे एक ऐसे भू-भाग के निकट जा पहुँचे जिसको उन्होंने 'भारत' समझ लिया। परंतु वास्तव में वह एक ऐसा नया महाद्वीप था कि जिसके अस्तित्व का प्राचीन संसार को शुबहा तक न था। यहाँ से सुवर्ण, कपास, अद्भुत पशु-पक्षी और बपतिस्मा (ईसाई धर्म में दीक्षा) देने के लिए रंजित-देह-युक्त, उन्मत्तोनयन दो भारतीयों को लेकर वह स्पेन में आया। ये पुरुष भारतीय कहलाते थे। अपने अंतिम दिनों पर्य्यंत कोलम्बस को यही विश्वास बना रहा कि वह भू-भाग जिसका मैंने पता लगाया है, भारत है। परंतु वास्तव में यह अमेरिका नामक एक नये महाद्वीप की संसार के साधनों में वृद्धि हुई थी ऐसा लोगों ने बहुत काल पीछे जाना।

कोलम्बस की सफलता के कारण सामुद्रिक व्यवसाय में अत्यंत अधिक उन्नति हुई। १४९७ में अफ्रीका के चारों ओर घूमकर पुर्त्तगालवालों के जहाज़ भारत जा पहुँचे और १५१५ में तो उनके पोतों ने जावा की भी सुध ले ली थी। १५१९ में पुर्त्तगाल-निवासी परंतु स्पेन के नौकर मैगेल्लन नामक एक व्यक्ति ने सेविल्ल नामक नगर से पाँच जहाज़ों को लेकर पश्चिम की यात्रा प्रारंभ कर दी और इनमें से एक जहाज़ १५२२ में इसी सेविल्ल नगर में नदी द्वारा पुनः लौटकर आ गया। समस्त पृथ्वी की परिक्रमा करनेवाला यही सर्वप्रथम पोत था। यात्रा करनेवाले २८० पुरुषों में केवल ३१ व्यक्ति बचकर इस जहाज़ द्वारा अपने देश को लौटे थे। स्वयं मैगेल्लन ही फ़िलिप्पाइन द्वीप-समूह में जान से मार डाला गया था।

कागज़ पर छपी हुई पुस्तकें, पृथ्वी के गोल होने का नवीन एवं सुलभ ज्ञान, अद्भुत देश, वृक्ष तथा पशुओं की नवीन मानसिक सृष्टि, अद्भुत आचार-विचार और समुद्र, आकाश, तथा जीवन-विधि एवं सामग्री में नवीन आविष्कार ये सभी यूरोपीय मानसिक जगत् पर सहसा फट पड़े। इतने दिनों से विस्मृति की गोद में पड़े हुए प्राचीन यूनानी साहित्य के शीघ्रता-पूर्वक छपने और अध्ययन करने का अब समय आ गया था; और इसी कारण प्लेटो के मानसिक चित्रों तथा स्वतंत्र प्रजातांत्रिक युग की महत्ता से मनुष्यों के विचार रंजित होने लगे। रोम-साम्राज्य की स्थापना के साथ ही साथ पश्चिमीय यूरोप में क़ानून तथा क़ायदों की सर्वप्रथम नींव पड़ी थी। और लैटिन चर्च ने इसका पुनरुद्धार किया था। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी नास्तिकों और तत्पश्चात् कैथॉलिक रोम के शासन-काल में समसामयिक विचार, जिज्ञासा और नूतन आचारों का सुसंगठित रूप से सदा नियंत्रण ही होता रहा। इस लैटिनीय मस्तिष्क के शासन-काल का अंत भी अब निकट आ गया था; और तेरहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं पर्यंत यूरोपीय आर्य जातियाँ ग्रीक साहित्य के पुनरुद्धार होने तथा अरबों और मंगोलों के उग्र प्रभाव के कारण उत्साहित हो लैटिनीय परंपरा से नाता तोड़ समग्र मानव-समाज का बौद्धिक और प्राकृतिक नेतृत्व करने लगीं।

---

(५०)

लैटिन चर्च का सुधार

इस मानसिक पुनर्जन्म ने स्वयं लैटिन चर्च में ही महान् क्षोभ उत्पन्न कर दिया। उसका अंगोच्छेद कर डाला और अवशिष्ट अंश में भी अत्यन्त अधिक परिवर्त्तन कर दिया।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में संपूर्ण क्रिश्चियन राज्यों का प्रायः अनियंत्रित शासन चर्च के अधिकार में क्योंकर आया और फिर मनुष्यों के मस्तिष्क और व्यवहारों पर किस प्रकार उसके बल का, चौदहवीं तथा पंदरहवीं शताब्दी में, ह्रास हुआ यह हम पहले ही बता चुके हैं। जनसाधारण का वह धार्मिक उत्साह—जो प्राचीन समय में चर्च का बल और आश्रय था—वहीं, दर्प, अत्याचार और केन्द्रस्थ शासन के कारण किस प्रकार उसका विरोधक बन गया और फ्रेडरिक द्वितीय के छल-युक्त अविश्वास के फल-स्वरूप राजकुमारों का व्यतिक्रम किस प्रकार दिन प्रतिदिन अधिक होता गया इसका वर्णन भी अन्यत्र कर दिया गया है। चर्च का धार्मिक तथा राजनैतिक गौरव तो महान् धार्मिक मतभेद के कारण पहले ही से नगण्य हो गया था, परंतु अब उस पर विद्रोह-शक्तियों ने दोनों ओर से आघात कर दिये।

वाइक्लिफ़ नामक एक अँगरेज़ के उपदेशों का भी समस्त यूरोप में ख़ूब प्रचार हो गया; जौन हस नामक एक ज़ैक जातीय विद्वान् ने इसी वाइक्लिफ़ के उपदेशों के संबंध में (१३९८) प्रेग-विश्वविद्यालय में व्याख्यान-माला दे डाली और उसके उपदेशों का प्रभाव अब शिक्षितों की सीमा उल्लंघन कर जनसाधारण को उत्साहित करने लगा। ई० स० १४१४-१४१८ में समस्त चर्च की एक परिषद् महान् धार्मिक भेद को समाप्त करने के लिए कॉन्स्टेंस नगर में की गई और सम्राट् की ओर से हस के नाम भी अभयदान की प्रतिज्ञा कर सम्मिलित होने का निमंत्रणपत्र भेजा गया; परंतु वहाँ जाते ही हस को गिरफ़्तार कर और उस पर नास्तिकता का आरोप लगा विचार करने के उपरांत वहीं जीता-जागता जला दिया गया (१४१५)। इस कृत्य ने बोहिमिया देश-वासियों में शांति तो न

फैलाई वरन् हस के अनुयायियों द्वारा वहाँ विद्रोह खड़ा कर दिया गया और इसी से लैटिनीय-क्रिश्चियन सत्ता का अंत करनेवाले धार्मिक युद्धों का प्रारंभ हो गया। इन विद्रोहियों का सामना करने के लिए पोप मार्टिन पंचम ने, जो कान्स्टेंस नामक नगर में समस्त सम्मिलित क्रिश्चियन धर्मावलंबियों द्वारा इसी लिए विशेष रूप से निर्वाचित किया गया था, धार्मिक युद्ध की घोषणा कर दी।

इस अल्प प्रत्युत कठोर जाति का सामना करने के लिए पाँच बार धार्मिक युद्धों की असफल योजना की गई। तेरहवीं शताब्दी में वाल्डैन्सैस नामक पंथ-विशेष के विरुद्ध जिस प्रकार समस्त यूरोप के बेरोज़गारे बदमाश तैयार किये गये थे, उसी नीति का बोहिमिया में भी अवलंबन किया गया; भिन्नता केवल इतनी ही थी कि वाल्डैन्सैस सशस्त्र सामना करना ठीक न समझते थे और 'ज़ेक' जाति ने इसी (शस्त्र) का सहारा पकड़ा। फल यह हुआ कि हस के अनुयायियों के युद्ध-शकटों की खड़खड़ाहट और बहुत दूर से सुनाई पड़नेवाली उनकी रागध्वनि को सुनकर ही बोहिमिया-वासी धार्मिक-सैनिकों के पैर रणक्षेत्र से उखड़ गये। यहाँ तक कि उन्होंने युद्ध की भी प्रतीक्षा न की (डोमेज़लाइस का युद्ध १४३१) फिर १४३६ में हस के अनुयायियों और चर्च की नवीन कौंसिल के मध्य एक समझौता भी बेसिल नगर में जैसे-तैसे किया गया जिसमें लैटिन चर्च के बहुत से विधानों पर किये गये विशेष आक्षेपों को स्पष्ट रूप से मान लिया गया था।

पंद्रहवीं शताब्दी में तीव्र महामारी फैल जाने के कारण यूरोप भर में अत्यंत ही सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। फिर जनसाधारण में घोर अर्थ-संकट एवं असंतोष के कारण इँगलैंड तथा फ्रांस के किसान भी, इस समय, ज़मींदारों तथा धनाढ्यों के विरुद्ध थे। हस के अनुयायियों के उपरोक्त युद्धों के उपरांत इन किसान-विद्रोहों की हवा जर्मनी में भी ज़ोर पकड़ने लगी और वहाँ उन्होंने धार्मिक रूप ग्रहण कर लिया। इन प्रगतियों पर छापे के आविष्कार ने अब जलती हुई अग्नि में घृत का काम कर दिखाया। चल मुद्रण (Movable type) छापनेवाले पुरुष र्‌हाइनलैंड और हॉलैंड में भी पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य तक ख़ूब फैल गये थे। वहाँ से यह विद्या फिर इटैली और इँगलैंड में फैली और १४७७ में तो कैक्सटन का मुद्रणालय भी वैस्टमिनिस्टर में स्थापित हो चुका था। इसके तात्कालिक फलस्वरूप बाइबिल के प्रकाशन एवं प्रचार में अत्यंत वृद्धि हो गई और जनसाधारण को वादविवादों में ख़ूब सुविधा मिलने लगी। इस समय यूरोपीय जगत् में पढ़नेवालों की संख्या इतनी अधिक हो गई कि प्राचीन काल में वैसी किसी जाति में न हुई थी। स्पष्ट विचारों तथा सुलभ सूचनाओं द्वारा जनसाधारण के मस्तिष्क का यह

सिंचन भी ठीक उस समय हुआ जब गड़बड़ तथा भेदभाव फैलने के कारण चर्च अपनी यथावत् रक्षा करने में असमर्थ था और जब बहुत से राजकुमार अपनी राजसंपदा में चर्च का दाँत गड़ा हुआ देखकर उसकी शक्ति क्षीण करने की ताक-झाँक में लगे हुए थे।

चर्च पर यह आक्रमण जर्मन देश में भूतपूर्व मठाधिवासी मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६) के व्यक्तित्व में प्रसारित हुआ। विटेनबर्ग नामक नगर में १५१७ में आकर इस पुरुष ने कट्टरवादियों के सिद्धांत और पद्धतियों पर तर्क द्वारा आपत्ति उठानी प्रारंभ की। सर्वप्रथम लूथर ने भी मध्यकालीन विद्वानों की भाँति लैटिन भाषा ही में विवाद किया था; परंतु कुछ काल के अनंतर छपे हुए अक्षर-रूपी नवीन अस्त्र का सहारा ले इसने जर्मन भाषा में अपनी सम्मति का जनता में विस्तृत रूप से प्रचार किया। हस की भाँति इसको भी दबाने का प्रयत्न किया गया, परंतु छापाखाने के अस्तित्व से दशा परिवर्तित हो जाने तथा बहुत से जर्मन राजकुमारों की प्रकाश्य एवं गुप्त रूप से मैत्री होने के कारण इसके भाग्य का उस भाँति निपटारा न हो सका।

विचार-बाहुल्य और धर्म में श्रद्धा की शिथिलता के कारण बहुत से शासकों ने रोम से अपनी प्रजा को बंधनमुक्त करने का यह अवसर अपने लिए अत्यंत लाभदायक समझा। चर्च के स्थान में स्वयं ही जातीय धर्म (Nationalized Religion) के अधिष्ठाता बन जाने का इन राजाओं ने प्रयत्न किया। इँगलैंड, स्कॉटलैंड, स्वीडन, नॉरवे, डेनमार्क, उत्तरीय जर्मनी और बोहिमिया सब एक-एक कर 'रोमन कम्यूनियन' (Roman Communian) अर्थात् रोम के धर्म-संघ से पृथक् हो गये और आज पर्यंत वैसे ही स्वतंत्र चले जाते हैं।

इन बहुत से पृथक् होनेवाले राजाओं के मन में अपनी प्रजाओं की बौद्धिक और नैतिक स्वतंत्रता का भाव तनिक भी न था। उन्होंने जनसाधारण की धार्मिक शंकाओं और असंतोष का रोम के प्रतीकार में उपयोग तो किया, परंतु जनसाधारण की प्रगतियों को अपने चंगुल में पूर्णतया बनाये रखने का सफल प्रयत्न करते रहे और रोम से संबंध-विच्छेद होते ही राजकीय छत्रछाया में चर्च की स्थापना कर दी गई। ऐहलौकिक अथवा पारलौकिक भक्ति या अधीनता पर सत्य विचार तथा आत्मगौरव की श्रेष्ठता—यही जीसस के ऐसे उपदेश हैं, जिनमें सदा से विचित्र जीवनदायिनी शक्ति भरी पड़ी है। इन राजकीय चर्चों का संबंध-विच्छेद होते ही अनेक ऐसे छोटे छोटे पंथों का भी रोम से विच्छेद हो गया जिनके सिद्धांतानुसार राजकुमार अथवा पोप किसी भी व्यक्ति की ईश्वर और मनुष्य के बीच मध्यस्थ बनने की आवश्यकता न थी। उदाहरणार्थ इँगलैंड और स्कॉटलैंड ही में बहुत से ऐसे पंथ वर्तमान थे जो केवल बाइबिल ही को अपने

जीवन और विचारों का पथ-प्रदर्शक मान उसी पर दृढ़ बने हुए थे। राजकीय चर्च की आज्ञाओं को इस पंथ के अनुयायी स्वीकृत न करते थे। ये असम्मत लोग 'नॉनकन-फ़रमिस्ट' कहलाते थे। इन पंथानुयायियों ने सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दी में इँगलैंड की राजनीति में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। वहाँ पर चर्च के अधिपति सम्राट् को मानने में भी इनको अत्यंत आपत्ति थी जिसके कारण इन्होंने १६४९ में चार्ल्स प्रथम का सिर काट डाला; और तत्पश्चात् ग्यारह समृद्धिशाली वर्ष पर्यंत इँगलैंड में नॉन-कनफ़र्मिस्ट सम्प्रदाय का प्रजातंत्र स्थापित रहा।

उत्तरीय यूरोप के अधिक भागों का इस प्रकार से लैटिनीय क्रिश्चियन धर्मावलंबियों का संबंध-विच्छेद ही साधारण लोगों में सुधार अथवा रिफ़ॉरमेशन के नाम से प्रसिद्ध है। परंतु इस क्षोभ तथा पराभव के प्रभाव से रोम के चर्च के भीतर भी प्रभावोत्पादक महान् परिवर्त्तन हो गये। और चर्च का पुनस्संगठन हुआ जिससे उसके जीवन में एक नवीन आत्मा का प्रवेश हो गया। इस पुनरुत्थान में अत्यंत प्रबल मूर्त्ति थी स्पेन देशीय एक नवयुवक की जिसका वास्तविक नाम तो इनिगोलोपेज़ देरिकाल्डे था, पर संसार में वह सेंट इगनेशियस लौयोला के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। कुछ समय तक विचित्र जीवन व्यतीत करने के अनंतर इस व्यक्ति ने पुरोहित बन (१५३८) सोसायटी ऑव् जीसस नामक एक ऐसी संस्था की पोप से आज्ञा प्राप्त की जिसमें सैनिक शासन के परंपरागत औदार्य और साहस को धर्म की सेवा में उपयोग करने का स्पष्टतया प्रयत्न किया गया था। जेसुइट्स अर्थात् सोसाइटी ऑव् जीसस नामक यह संस्था आगे चलकर संसार में शिक्षा तथा धर्म प्रचार करनेवाली अभूतपूर्व संस्था हो गई। इसी ने भारत, चीन और अमेरिका में क्रिश्चियन धर्म का प्रचार किया और इसी ने रोमन चर्च को शीघ्रतया छिन्न-भिन्न होने से रोक दिया। इसी ने समस्त कैथोलिक संसार में शिक्षा का आदर्श ऊँचा किया और कैथोलिक संप्रदाय की बुद्धि को उन्नत किया, उसकी सदसद्-विचार-शक्ति द्रुत कर दी। इसी ने प्रोटेस्टेंट पंथानुयायी यूरोप में शिक्षा-संबंधी विषय में प्रतिस्पर्धा विकसित की। (कहाँ तक कहें) प्रबल एवं प्रथमापकारी कैथोलिक चर्च का वर्त्तमान स्वरूप भी अधिकतया इसी जेसुइट पुनरुत्थान का फल है।

---

(५१)

सम्राट् चार्ल्स पंचम

सम्राट् चार्ल्स पंचम के राजत्व में पवित्र रोम-साम्राज्य एक प्रकार से उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया था। यह सम्राट् यूरोप के अद्भुत एवं अभूतपूर्व शासकों में गिना जाता है। और कुछ काल तक तो उसका रोब-दाब (भावभंगी) भी शार्लमेन के पश्चात्कालीन सबसे बड़े सम्राट् सरीखा ही रहा।

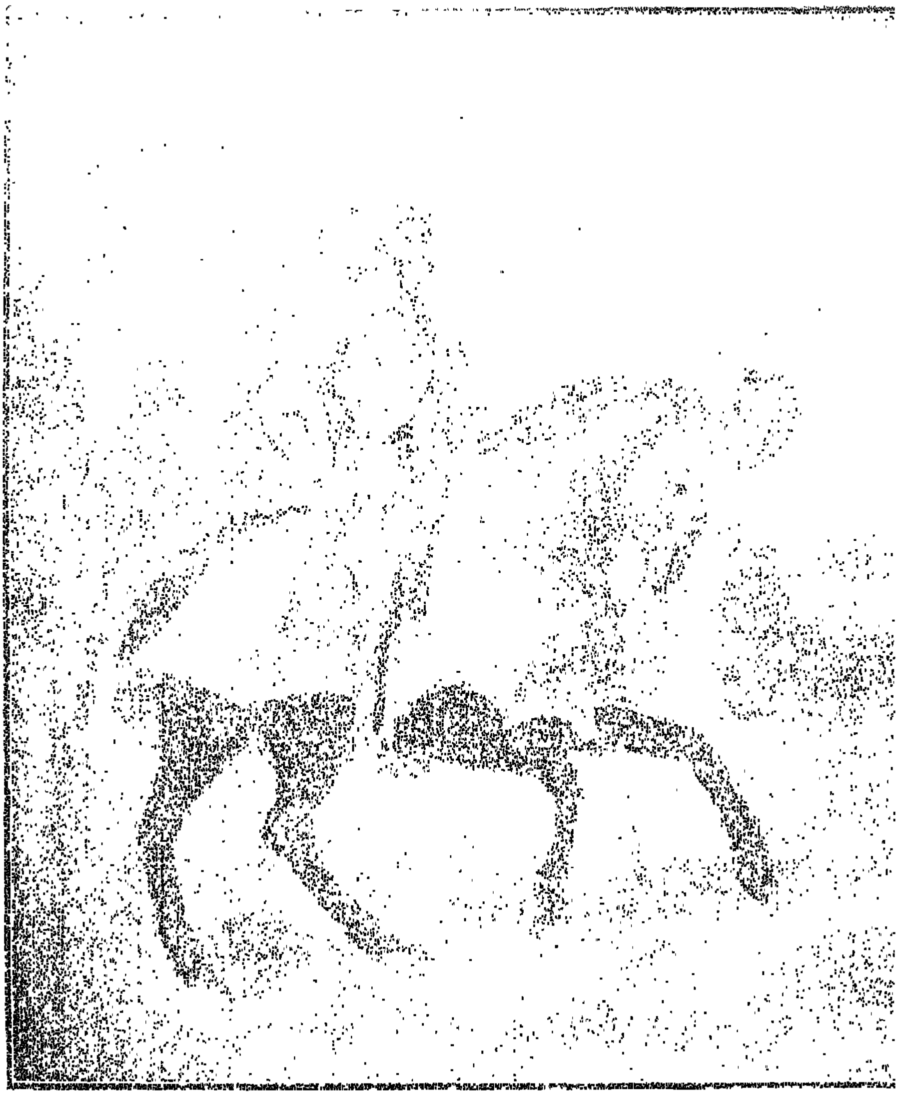
इस महत्ता के लिए उसका अपना कुछ भी न था। यह संपूर्ण कृति प्रधानतया उसके दादा सम्राट् मैक्समिलियन प्रथम (१४५९-१५१९) ही की थी। संसार में कुछ वंशों की उन्नति उन्हीं के उद्योग के कारण हुई है और कुछ एक की नीति-कौशल से; परंतु यह हैप्सबर्ग (वंश) तो विवाह-संबंध द्वारा ही यथेष्ट उन्नत हो गया। मैक्समिलियन की जीवन-यात्रा के प्रारंभ में, हैप्सबर्ग की पैतृक संपदा ऑस्ट्रिया, स्टीरिया (Styira) ऐलसैस का कुछ भाग तथा अन्य कतिपय ज़िलों तक ही परिमित थी। नैदरलैंड और बरगैंडी की संपदा विवाहोपलक्ष्य में उसके हाथ आ गई। (महिषी का नाम जानना हमारे लिए सर्वथा व्यर्थ है) प्रथम पत्नी के जीवन का अंत होने पर बरगैंडी का बहुत सा भाग उसके हाथों से निकल गया, परंतु नैदरलैंड उसके अधिकार में रहा। उसने फिर, विवाह द्वारा ब्रिटैनी हस्तगत करने का निष्फल प्रयत्न किया। अपने पिता फ्रैडरिक तृतीय की मृत्यु के उपरांत १४९३ में सम्राट् पद पर अभिषिक्त हो जाने के पश्चात् विवाह के उपलक्ष्य में उसको 'मिलन' की डची प्राप्त हुई। और अंत में उसने अपने पुत्र का विवाह एक निर्बल मस्तिष्कवाली कन्या से कर दिया, जिसके माता-पिता आइसावेला और फ़र्दिनंद थे, जिनकी ख्याति कोलम्बस के नाम से है। इनका राज्य न केवल संयुक्त स्पेन, सार्डिनिया और सिसली के दोनों राज्यों में अपितु समस्त अमेरिका और ब्राज़ील के पश्चिमीय प्रदेशों में भी फैला हुआ था। यही कारण था कि उसके पौत्र पंचम चार्ल्स ने, अमेरिका महाद्वीप का बहुत अधिक अंश और तुर्कों की अधीनता से

बचा हुआ यूरोप, जो एक तिहाई से अधिक और आधे से कम था, पैत्रिक दाय में प्राप्त किया। १५०६ में वह नेदरलैंड के राजसिंहासन पर जा बिराजा। माता का मस्तिष्क ख़राब होने के कारण नाना फ़र्दिनंद की मृत्यु के उपरांत १५१६ में नाना का राज्य भी व्यावहारिक रूप में चार्ल्स को प्राप्त हो गया। और अंत में दादा मैक्स-मिलियन का १५१९ में देहांत हो जाने पर बीस वर्ष की थोड़ी सी अवस्था में वह सम्राट् पद के लिए भी निर्वाचित हो गया। (१५२०)

इस गौरांग नवयुवक के मुखमंडल से बहुत अधिक बुद्धिमत्ता प्रकट न होती थी। इसका ऊपर का ओंठ मोटा और आगे को निकली हुई ठोड़ी बहुत भद्दी थी। इसने संसार को अपने सरीखे युवा एवं साहसी व्यक्तियों से ही घिरा हुआ पाया। वह ज़माना तो योग्य एवं युवा सम्राटों का था। १५१५ में इक्कीस वर्ष की अवस्था में फ्रैंसिस प्रथम फ्रांस की गद्दी पर आरूढ़ हुआ और इँगलैंड के सम्राट् अष्टम हेनरी को अठारह वर्ष ही की अवस्था में (१५०९ ई०) राज्य प्राप्त हो गया था। यही समय था कि जब भारत में बाबर (१५२६-१५३०) और तुर्की में महाप्रतापी सुलेमान सरीखे अद्वितीय योग्य शासक राज्य-भार वहन कर रहे थे। यही नहीं, प्रत्युत ख्यातनामा पोप, लियो (दशम) इसी समय (१५१३ में) महान् धर्माचार्य की गद्दी पर सुशोभित था। एक ही मनुष्य के हाथ में इतनी अधिक शक्ति केन्द्रीभूत होती देख पोप और फ्रैंसिस प्रथम दोनों ही ने भय खाकर चार्ल्स के सम्राट् न चुने जाने का प्रयत्न किया और स्वयं प्रार्थी होकर फ्रैंसिस प्रथम तथा अष्टम हेनरी ने मत-दाता राजाओं से याचना भी की। परंतु बहुत काल पर्य्यन्त (१२७३ से) हैप्सबर्ग-वंशीय पुरुषों के सम्राट् चुने जाने के कारण और प्रयत्न-शीलता से घूँस दे चार्ल्स ने इस पद पर निर्वाचित होने में सफलता प्राप्त की।

प्रारंभ में तो यह नवयुवक अपने मंत्रियों के हाथों में सुन्दर कठपुतली की भाँति रहा; परन्तु कुछ काल के अनंतर धीरे धीरे अधिकार जमा इसने शासन की बागडोर स्वयं अपने हाथों में ले ली और उस समय इसको कुछ कुछ पता चलने लगा कि मेरा यह श्रेष्ठ पद कैसे कैसे भयङ्कर एवं विघातक रहस्यों से भरा पड़ा है। सच पूछा जाय तो सम्राट्-पद इस समय शानदार होने के साथ ही साथ एक प्रकार से अनुपयुक्त एवं सारहीन हो गया था।

शासन का आरंभ होते ही उसको जर्मन देश में लूथरोत्पादित उद्वेगों का सामना करना पड़ा। सम्राट्-पद के निर्वाचन में पोप उसका विरोधी था। इस कारण उसको धर्मसुधारकों का पक्षपाती होना चाहिए था, परंतु स्पेन सरीखे अत्यन्त कट्टर कैथोलिक धर्मानुयायी देश में लालित पालित होने के कारण सम्राट् ने लूथर का विरोध करना ही ठाना। और इस



चार्ल्स पञ्चम

कारण प्रोटेस्टेंट पंथानुयायी राजकुमारों और विशेषतया सैक्सनी के इलैक्टर (मतदाता) से उसका झगड़ा छिड़ गया। सम्राट् के सम्मुख इस समय जर्जरीभूत क्रिश्चियन धर्म की रचना में एक ऐसा छिद्र उपस्थित था कि जिसके कारण अंत में वह दो परस्पर-विरोधी दलों में विभक्त हो गया। इस छिद्र को बंद करने के सम्राट् के सच्चे एवं अथक प्रयत्न भी सर्वथा निष्फल ही रहे। इसी समय जर्मनी में किसानों का एक विस्तृत विद्रोह आ उपस्थित हुआ, जिसके कारण इस राजनैतिक एवं धार्मिक अव्यवस्था-रूपी अग्नि में और आहुति पड़ गई। पूर्व और पश्चिम की ओर के बाह्य आक्रमणों के कारण ये आंतरिक आपत्तियाँ साम्राज्य के लिए अब और भी अधिक दुरूह एवं जटिल हो गई थीं। पश्चिम की ओर तो फ्रैंसिस प्रथम चार्ल्स का शक्तिशाली प्रतिस्पर्धी था और पूर्व की ओर थी सदा आगे की ओर बढ़नेवाली तुर्क जाति, जो इस समय फ्रांस की सहायता से ऑस्ट्रियन प्रदेश से राजस्व ऋण शेष लेने के लिए हंगेरी देश में आ ऊधम मचा रही थी। चार्ल्स के पास इस समय धन भी था और स्पेन-देशीय सेना भी; परन्तु जर्मनी से एक पैसा तक सहायता रूप वह प्राप्त न कर सका। राजनैतिक और सामाजिक विपत्तियाँ सम्राट् के आर्थिक कष्ट के कारण अब और भी भीषण एवं जटिल हो गई थीं और अन्त में लाचार हो उसको सत्यानाशी ऋण की शरण लेनी पड़ी।

अन्त में चार्ल्स ने अष्टम हैनरी की सहायता से फ्रैंसिस प्रथम और तुर्क जाति पर विजय प्राप्त की। उत्तरीय इटैली इन युद्धों का प्रधान रणक्षेत्र था। दोनों ओर का सैन्य-सञ्चालन मन्द था। आक्रमण अथवा पीछे की ओर हटना नवीन दल की सहायता पर निर्भर था। धावा मारकर फ्रांस में घुस जाने पर भी जर्मन सेना मार्सेल्स को न ले सकी। उलटे पैर उसको इटैली लौटना पड़ा और वहाँ जाने पर मिलन उसके हाथों से निकल गया तथा पविया में शत्रु-सैन्य ने उसको घेर लिया। परन्तु सुदीर्घ काल तक भी घेरा डालकर जब फ्रैंसिस प्रथम नगर को न ले सका, तो एक बार जर्मन सैन्य-दल ने सहसा आक्रमण द्वारा पराजित और घायल कर सम्राट् को अपना बंदी बना लिया। परन्तु चार्ल्स को अधिक बल प्राप्त करते देख अब पोप और हैनरी (अष्टम) दोनों ही भय खाकर उसके विरोधी हो गये। इसी अवसर पर मिलन नगरस्थ जर्मन सेना ने वेतन न मिलने के कारण बोरबौन के काँस्टेबिल की अध्यक्षता में सेना-नायक की आज्ञा के विरुद्ध रोम पर आक्रमण करने के लिए उसको विवश किया। इधर तो पोप सेंट एंजिलो में जाकर छिपे और उधर उन्होंने नगर पर धावा बोल सन् १५२७ में उसको खूब ही लूटा। अन्त में पोप से चार लाख ड्यूकैट (अर्थात् सुवर्ण-मुद्रा जिसमें प्रत्येक का मूल्य आधुनिक नौ शिलिंग है) लेकर जर्मन सेना ने पिंड छोड़ा। इस प्रकार अव्यवस्थित

रूप में होनेवाले दस वर्ष के युद्ध ने समस्त यूरोप की शक्ति क्षीण कर दी। अन्त में सम्राट् को इटली पर विजय प्राप्त हो गई और बोलोना नामक नगर में पोप ने स्वयं अपने हाथों से सम्राट् को राज-मुकुट पहिरा दिया (१५३०)। स्मरण रखना चाहिए कि यह सम्राट् अंतिम जर्मन नृपति था, जिसको इस प्रकार मुकुट पहिराया गया।

तुर्क इस समय हंगेरी में बहुत विजयी हो रहे थे, और उन्होंने १५२६ में पराजित कर वहाँ के राजा का युद्ध में वध कर दिया; १५२९ में बुदापेस्ट उनके हाथ में आ गया था। वियेना का प्रसिद्ध नगर प्रतापी सुलैमान के हाथों आते-आते रह गया। तुर्कों को इस प्रकार आगे बढ़ता हुआ देखकर सम्राट् चिंतित था और उसने इन शत्रुओं को पीछे हटाने के भरसक प्रयत्न किये। परंतु सीमा पर खड़े हुए प्रबल शत्रुदल का प्रतीकार करने के लिए जर्मन राजकुमारों को एकत्रित करने में सम्राट् को बड़ी भारी दिक़तों का सामना करना पड़ा। कुछ काल पर्य्यंत तो फ़्रैंसिस प्रथम ही अचल बना रहा; और फ़्रांस से उसका (सम्राट् का) पुनः युद्ध छिड़ गया। परंतु दक्षिणीय फ़्रांस का सत्यानाश करने के अनंतर सम्राट् ने अपने प्रतिस्पर्धी को समझा बुझाकर १५३८ में कुछ अंश में मित्र बना लिया; और अब चार्ल्स तथा फ़्रैंसिस दोनों ने सम्मिलित हो तुर्कों का सामना करने का निश्चय किया। परंतु इसी समय प्रोटेस्टेंट तथा जर्मन राजकुमारों ने, जो रोम से बंधन मुक्त करने के लिए तुले हुए थे, श्मालकालडिक (Schmalkaldic) नामक संस्था सम्राट् के विरुद्ध स्थापित कर ली और चार्ल्स ने क्रिश्चियन धर्मावलंबियों के निमित्त हंगेरी का तुर्कों से उद्धार करने के स्थान में अपना ध्यान उस आंतरिक कलह के सुलझाने की ओर लगाया जो जर्मनी में फैलता जा रहा था। इस गृहकलह-रूपी युद्ध का तो उसने प्रारंभ मात्र ही देखा। राजकुमारों के प्रभुत्व प्राप्त करने की, यह न्यायरहित, रक्तस्रावी कलहाग्नि कभी तो लपलपाती हुई जिह्वाओं द्वारा प्रचंड रूप धारण कर क्षयकारी युद्ध में परिवर्त्तित हो आगे को बढ़ती थी और कभी कूटयुक्ति और नीति में परिवर्त्तित हो पीछे की ओर हट जाती थी। राजकुमारों की यह कूटनीति, वास्तव में थैले के सर्पों के सदृश रेंग-रेंगकर बाहर आ उन्नीसवीं शताब्दी पर्य्यंत मध्य यूरोप को असाध्य रूप से डँस-कर निर्जीव करती रही।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस कलह को उत्तरोत्तर बढ़ानेवाली वास्तविक शक्तियों को सम्राट् समझ ही न सका। अपने समय तथा पद-मर्यादा के विचार से तो वह अद्वितीय योग्यता रखनेवाला पुरुष था और इन धार्मिक विरोधों को, जो युद्ध द्वारा यूरोप को छिन्न-भिन्न कर विभाजित कर रहे थे, वह सदा दार्शनिक मतभेद समझता रहा। राज्य-सभा (डायट) तथा मंत्रणा-सभा (काउंसिल) द्वारा इन सिद्धांतों को सुलझाने के उसने कई

असफल प्रयत्न भी किये और बहुत से धार्मिक सूत्र एवं नियम भी बनाये गये पर वे सब व्यर्थ हुए। जर्मन इतिहास के पाठकों का यह कर्त्तव्य है कि वे नूरेमबर्ग (Nuremberg) की धार्मिक संधि के विवरण, रैटिसबन की डायट अर्थात् राज्य-सभा के समझौते और आॅग्ज़बर्ग की (Interim) इंटेरिम अर्थात् अस्थायी संधि इत्यादि सभी पत्रों को ध्यान-पूर्वक पढ़ें। पराकाष्ठा को पहुँचे हुए इस सम्राट् के दुःखमय जीवन की घटनाओं की सविस्तर सूची देकर ही हम यहाँ बस करते हैं। वास्तव में बात तो यह है कि तत्कालीन यूरोपीय समस्त राजकुमार तथा शासक-समूह में शुद्ध हृदय से कार्य करनेवाला कोई विरला ही रहा होगा। संसार में फैला हुआ क्षोभ जनसाधारण द्वारा सत्य और यथार्थ व्यवहार की आकांक्षा और तत्कालीन उन्नतशील ज्ञान, सभी राजकुमारों की कूटनीति-रूपी कसौटी पर कसे जाते थे। इँगलैंड का राजा अष्टम हैनरी, जिसने शासनारंभ में नास्तिकों के विरुद्ध एक पुस्तक लिखकर पोप से धर्मरक्षक की उपाधि पाई थी, अब स्वयं अपनी प्रथम पत्नी को तलाक़ देकर, ऐन बोलेन नामक एक नवयौवना से विवाह करने का इच्छुक हो, इँगलैंड के चर्च की संपत्ति लूटने की नीयत से १५३० में प्रोटैस्टैंट राजकुमारों से जा मिला। इसके अतिरिक्त स्वीडन, डेनमार्क और नॉरवे भी पहले से उस पंथ की ओर हो गये थे।

मार्टिन लूथर की मृत्यु के कुछ मास पश्चात् १५४६ में ही जर्मन-धार्मिक युद्ध छिड़ गया। परंतु उसका यहाँ विवरण देना व्यर्थ है। लोचाऊ नामक स्थान में प्रोटेस्टैंट पंथानुयायी सैक्सन दल की बुरी तरह हार हुई और सम्राट् का एकमात्र अवशिष्ट प्रबल शत्रु फिलिप ऑव् हैस एक योजना द्वारा, जो विश्वासघात सी प्रतीत होती है, पकड़ा जाकर बंदी बना लिया गया। सम्राट् ने अब तुर्कों को भी वार्षिक राजस्व देने की प्रतिज्ञा कर अपनी ओर कर लिया। फिर फ्रैंसिस प्रथम की मृत्यु हो जाने से (१५४७) सम्राट् के हृदय का बोझ और भी हलका हो गया। इस प्रकार एक तरह की शांति प्राप्त कर संधि न होते हुए भी संधि-स्थापन करने का सम्राट् ने एक और अंतिम प्रयत्न किया। १५५२ में समस्त जर्मनी में पुनः युद्धज्वाला प्रज्वलित हो गई और इन्सब्रुक नामक स्थान से ताबड़-तोड़ भागने के कारण सम्राट् बंदी होते-होते बाल-बाल बचा, परंतु पसाऊ की संधि हो जाने पर इस बार फिर अस्थायी रूप से युद्ध स्थगित हो गया...... ।

साम्राज्य में बत्तीस वर्ष पर्यंत व्यवहार की जानेवाली राजनीति की यह रूपरेखा है। और मज़े की बात यह है कि समस्त यूरोपीय मस्तिष्क यूरोपीय प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए कैसे दत्तचित्त होकर जुट रहे थे। न तो तुर्क और न फ्रांसीसी, न अँगरेज़ और

न अर्थन, किसी जाति ने अभी तक अमेरिका महाद्वीप में न तो किसी सत्त्व का आविष्कार किया था और न एशिया को जानेवाले नये समुद्र-पथ में कुछ विशेष प्रयोजन समझा था। अमेरिका में इस समय बड़ी मार्के की बातें हो रही थीं, कार्टेज ने केवल मुट्ठी भर पुरुषों की सहायता से मेक्सिको के उत्तर-पाषाण-युगीय साम्राज्य को स्पेन के लिए जीत लिया था और पिज़ारो ने पनामा के स्थल-ग्रीव को पार कर (१५३०) पेरू नामक एक अन्य अद्भुत देश को अपने अधीन कर लिया था। परंतु अभी तक यूरोप की दृष्टि में इन घटनाओं का मूल्य इतना न था जितना स्पेन देशीय कोष में लाभकारी एवं उत्साह-वर्धक चाँदी की आयात का।

चार्ल्स के मस्तिष्क की अपूर्व प्रतिभा का दिग्दर्शन पसाऊ की संधि के अनंतर हुआ। राजकीय महत्ता से उसका चित्त अब बिलकुल ऊब गया था; और तज्जनित माया नष्ट हो गई थी। यूरोपीय प्रतिस्पर्धाओं की असारता का भी उसको बोध हो गया था। शरीर तो उसका वैसे ही कभी सुदृढ़ न था, उस पर उसका स्वभाव आलसी और देह गठिया-ग्रसित था; अतएव उसने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया; और जर्मनी का राज्याधिकार अपने भाई फ़र्दिनंद को दिया, तथा स्पेन व नैदरलैंड अपने पुत्र फिलिप को। तदनंतर वह टेगस नदी की घाटी की उत्तरीय पर्वत-उपत्यका में ओक तथा चैस्टनट नामक वृक्षों के वन में बने हुए यूस्टे के मठरूपी सुंदर मियान में ख़ंजर की भाँति जा घुसा और वहीं १५५८ में उसका देहांत हुआ।

संसार से ऊब अथवा क्लांत होकर समस्त राज्य-भार छोड़ एकांत में तपस्या द्वारा, परमेश्वर की आराधना में शांति प्राप्त करनेवाले इस परिश्रान्त टाइटन (अर्थात् ग्रीस की दंतकथाओं में वर्णित दिव्य महा शक्तिशाली पुरुष के सदृश) महाराज के उपरोक्त त्याग के संबंध में बहुत से लेख भावावेश में लिख दिये गये हैं। परंतु यदि वास्तव में देखा जाय तो सम्राट् के इस त्याग में न तो एकांतवास ही था और न तपस्या। यहाँ पर भी उसके पास लगभग डेढ़ सौ भृत्य थे। उसके भृत्यादि-वर्ग तथा आवास-स्थान का प्रताप एवं विलास-सामग्री यहाँ पर भी राजदरबार जैसी थी; नहीं था तो केवल वहाँ का क्लान्तिकारक कार्य (अर्थात् राजनैतिक कार्य)। इस पर तुर्रा यह है कि फिलिप द्वितीय भी ऐसा पितृभक्त था कि पिता का परामर्श उसके लिए सदा आज्ञा के तुल्य था।

यूरोपीय शासन से चार्ल्स को विराग हो गया था तो क्या; उसके हृदय में उथल-पुथल मचाने के लिए अधिक निकटस्थ कारण तो उपस्थित थे। प्रैसकौट कहता है कि क्विकज़ैडा, गैज़टेलू तथा वैलाडौलिड के राज-सचिव के दैनिक पत्र-व्यवहार में शायद ही कोई ऐसी चिट्ठी होती होगी जिसमें सम्राट् के रोग अथवा भोग का कुछ वर्णन न हो।

एक के पश्चात् दूसरे का ऐसी नैसर्गिक विधि से वर्णन पाया जाता है कि मानों एक दूसरे की धारावाहिक टीका है। इन बातों को राजकीय पत्र-व्यवहार में बहुत कम अवसरों पर प्राधान्य दिया जाता है। राजनीति तथा विलासमय भोजन-विधि का सम्मिश्रित पत्र-व्यवहार पढ़कर मंत्री के लिए अपनी गंभीरता बनाये रखना कोई सरल बात न थी। सम्राट् के भोजनार्थ उत्तम पदार्थ संग्रह करने के लिए वैलाडोलिड से लिसबन जानेवाले डाक-हरकारों को घूमकर जैरिंडल होकर जाने का आदेश था। आगामी जार मायगर (Jour maigre) नामक उपवास-दिवस के लिए उसको प्रति बृहस्पतिवार के दिन मछली लानी पड़ती थी। पास-पड़ोस की रोहू मछलियों को चार्ल्स अत्यंत छोटा समझता था; इसलिए वैलाडोलिड से अन्य जाति के भीमकाय मत्स्य उसके लिए मँगाये जाते थे। सब जाति की मछलियाँ और उन्हीं के सदृश प्रकृतिवाले अन्य जलजंतु भी सम्राट् को अत्यंत प्रिय थे। गैंड, मेंढक और सीप की महाराज की भोजन-सामग्री में विशेष महत्ता थी। (Potted fish) पौटेड फ़िश (प्रकार-विशेष की मछली) और उनमें भी (Anchovies) एँकोविस (जाति-विशेष की मछली) पर उसका अतीव अनुराग था। इस जाति की मछलियों के (लो कंट्री—Low Countries) निम्न देश अर्थात् बेलजियम और हॉलेंड से अधिक संख्या में अपने साथ न लाने का उसको दुःख बना रहता था। जाल-व्याल (eel-pasty) के मांस-पूप पर तो चार्ल्स मानों जान ही देता था*।

१५५४ में तृतीय ज्यूलियस नामक पोप ने चार्ल्स को व्रत से मुक्त करने का आदेश दे दिया कि वह प्रातःकाल सैकरे मेंट नामक संस्कार से प्रथम ही भोजन कर सके।

भोजन और ओषधि-सेवन इन्हीं प्राथमिक तत्त्वों पर वह अब पुनः लौटकर आ गया। स्वयं पढ़ने का स्वभाव न होने के कारण, शार्लमेन की भाँति, भोजन के समय पुस्तक पढ़वाकर सुनने की, जिसको एक कथाकार 'सुंदर स्वर्गीय व्याख्या' बतलाता है, उसकी टेव थी। यंत्र-निर्मित खिलौनों द्वारा मन बहलाने, गायन एवं धर्मोपदेश सुनने और अपने सम्मुख यदा-कदा प्रवाहित होकर आ जानेवाले राज-संबंधी कार्य को निपटाने में अब सम्राट् का समय बीतता था। सम्राज्ञी के देहांत के कारण—जिससे इसको अतीव स्नेह था—इसका चित्त धर्म की ओर फिर गया और यह सूक्ष्म नियमनिष्ठ वैदिक विधानों का पालन करने लगा। वसंतकालीन लैंट नामक चालीस दिवस पर्यंत होनेवाले व्रत के समय प्रत्येक शुक्रवार को, अन्य मठाधिवासियों के साथ, सम्राट् अपने

* रावर्टसन के 'हिस्ट्री ऑव दि चार्ल्स दि फ़िफ्थ' नामक ग्रंथ में प्रेसकौट-लिखित परिशिष्ट देखिए।

शरीर में अपने से इतने कोड़े मारता था कि रुधिर निकल आता था। इस आचरण और गठिया रोग के कारण ही चार्ल्स की धर्मान्धता प्रकट हो गई जो अब तक पॉलिसी



रोम के सेंट पिटर गिरजे का भीतरी दृश्य

से दबी हुई थी; और निकटवर्त्ती वैलाडौलिड में प्रोटेस्टैंट पंथानुयायियों को धर्मोपदेश देते देख सम्राट् का क्रोध उबल पड़ा और उसने (grand inquisitor) महान्

विचारक तथा उसकी मंत्रणा-सभा को आदेश दिया कि वह अपने अधिकार पर दृढ़ रहकर वृद्धि होने के प्रथम ही पाप-वृक्ष की जड़ पर परशु-प्रहार कर दे। उसकी धारणा थी कि ऐसे पापाचारों में साधारण न्याय-विधि का परित्याग और कठोरता का व्यवहार कहीं अधिक उत्तम है। क्योंकि क्षमा-प्रदान करने पर तो पापी को पुनः अपराध करने का अवसर मिल सकता था। अतएव जिस प्रकार उसने नेदरलैंड में हठात् अशुद्ध आचरण करनेवालों को अग्नि में जीता जला दिया था और पश्चात्ताप करनेवालों के सिर पृथक् करा दिये थे, उसी प्रकार अर्थात् अपनी नीति का अनुसरण करने का सम्राट् ने इस समय भी उपदेश दिया।

अपने स्थान के चिह्न-स्वरूप और इतिहास-रूपी नाटक में अपने अभिनय के अनुरूप ही अंत्येष्टि क्रियाओं में सम्राट् अब अनुरक्ति रखने लगा था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके हृदय में कुछ ऐसी आंतरिक भावनाएँ सी उठती थीं कि मानों यूरोप में किसी महान् व्यक्ति की जीवन-लीला समाप्त हो गई है। उसका समाधिस्थ होना अत्यन्त आवश्यक है और समाधि (लोथ) बहुत पहले तैयार हो जाना चाहिए था। मृत्यु-प्रेम यहाँ तक बढ़ा हुआ था कि यूस्टे में देह त्यागनेवाले प्रत्येक प्राणी की अंत्येष्टि क्रिया में केवल भाग लेकर संतुष्ट न हो सम्राट्, उस समय और वहाँ पर न मरनेवाले मृतकों की अंतिम संस्कार-संबंधी प्रार्थना भी करा देता था; उसकी अपनी पत्नी की प्रत्येक वर्षी पर भी स्मृति-रक्षणार्थ औध्वदैहिक संस्कार-संबंधी प्रार्थनाएँ होती थीं, और अंत में उसने अपने जीवन में अपना औध्वदैहिक संस्कार भी करा डाला।

इस अवसर पर गिरजा कृष्ण वस्त्रों से ऐसा आच्छादित किया गया था कि सैकड़ों मोमबत्तियों का प्रकाश भी उसके आंतरिक अंधकार को दूर करने में पर्याप्त न था। गिरजा के मध्य भू-भागस्थ, कृष्णवस्त्राच्छादित एक अस्थायी परन्तु महान् चैत्य के चारों ओर मठ-परिधान में परिवेष्टित मठाधिवासियों और गहरे शोक सूचक वस्त्र पहिरे हुए सम्राट् के भृत्यादि अनुयायियों के एकत्रित होने पर मृतक (शव) के गाड़ने का संस्कार किया गया और मठाधिवासियों के नैराश्य-पूर्ण करुण-क्रंदन के मध्य ही विगत आत्मा की स्वर्ग-प्राप्ति तथा शांति-लाभ करने के लिए उच्च स्वर से प्रार्थनाएँ होने लगीं। या तो स्वामी की मृत्यु के चित्र को इस भाँति चित्रित होते देख, या इस दयनीय दृश्य के दर्शन मात्र से हृदय द्रवीभूत होने के कारण बेचारे शोकमग्न भृत्यों की आँखों से अविरल अश्रु-धाराएँ बह चलीं। कृष्णाभिसारिका की भाँति वस्त्रावगुंठित हो हाथ में जलती हुई मोमबत्ती लिये चार्ल्स भी इस समय भृत्य-समूह के मध्य खड़े हुए अपने औध्वदैहिक संस्कार को स्वयं अपनी आँखों से देख रहा था और तत्पश्चात् आत्मा को परम पिता के समर्पण करने

के अनुरूप जलती हुई मोमबत्ती पादरी महोदय के हाथों में देते ही इस शोकमय संस्कार का अन्त हो गया।

इस स्वाँग के दो मास के भीतर ही चार्ल्स की मृत्यु हो गई और पवित्र रोम-साम्राज्य की क्षुद्र-कालीन महत्ता का भी उसके साथ सदा के लिए अन्त हो गया। रही उसके राज्य की बात सो वह तो पहले से ही पुत्र तथा भ्राता के मध्य विभाजित कर दिया गया था। पवित्र रोम-साम्राज्य वैसे तो नेपोलियन-प्रथम के समय तक जीवित रहा; परन्तु उस समय उसकी दशा एक दुर्बल एवं मरणासन्न रोगी के सदृश थी। श्मशानार्पित होने से बची हुई इस साम्राज्य की प्राचीन परंपराएँ आज तक राजनैतिक वायु-मंडल को विषाक्त किये डालती हैं।

(५२)

राजनैतिक प्रयोगों के युग, यूरोप में महान् स्वच्छन्द राजशासन, पार्लियामेंट और प्रजातंत्र

लैटिन चर्च छिन्न-भिन्न हो गया था, पवित्र रोम साम्राज्य अत्यंत हीन दशा में था, (ऐसी अवस्था में) सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ से, यूरोप का इतिहास निर्नोत्पन्न नवीन परिस्थितियों के उपयुक्त किसी नवीन शासन-व्यवस्था को अंधकार में टटोलती हुई जातियों का उपाख्यान मात्र है। प्राचीन समय में संसार की दशा यह थी कि कालांतरों में राजवंशों के और शासकों की जाति तथा भाषाओं के परिवर्त्तित होने पर भी नृपति एवं मंदिरों द्वारा शासन करने की प्रणाली में कुछ भी भेद न पड़ता था, और इससे भी अधिक अपरिवर्त्तनशील रहती थी तब जनसाधारण की जीवन-चर्या। इसके विपरीत, सोलहवीं शताब्दी से आधुनिक यूरोप में राजवंशों के परिवर्त्तन तो गौण हो गये, परंतु राजनैतिक एवं सामाजिक संस्थाओं के विस्तृत एवं दिन प्रतिदिन बढ़नेवाले विविध प्रयोगों को इतिहास में महत्त्व एवं प्रधानता प्राप्त हो गई।

हम कह चुके हैं कि संसार का राजनैतिक इतिहास सोलहवीं शताब्दी के अनंतर नवोत्थित परिस्थिति के उपयुक्त राजनैतिक और सामाजिक पद्धति की संयोजना करने के लिए मनुष्य-जाति का प्रयत्न—और वह भी अधिकतया अनभिज्ञता से किया हुआ प्रयत्न—मात्र था। परिस्थिति में स्वयं ही सुदृढ़ रूप से शीघ्र परिवर्त्तन होने के कारण उस समय संयोजन के प्रयत्न और भी अधिक जटिल हो गये थे। बहुधा अनभिज्ञता से और सर्वथा अनिच्छा-पूर्वक (क्योंकि जनसाधारण इच्छापूर्वक परिवर्त्तन करना नहीं चाहते) किया हुआ एक नया आयोजन जब तक स्वीकार किया जाता था, तब तक एक और ही नवीन परिस्थिति उत्पन्न हो जाती थी। इस प्रकार नवीन आयोजन सदैव परिवर्त्तित परिस्थिति के पीछे घिसटते रहे, कभी साथ न दे सके। सोलहवीं शताब्दी के अनंतर मानवेतिहास में, केवल सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं के अधिका-

धिक स्पष्टतया अनुपयुक्त और अल्प सुखप्रद तथा अधिक दुःखपूर्ण होने की गाथाएँ तथा मनुष्यों का समस्त सामाजिक व्यवस्था-संबंधी दृढ़ संयोजन की आवश्यकता के शनैःशनैः अनुभवों की कथाएँ हैं।

मानव-जीवन की परिस्थिति में वह कौन से ऐसे परिवर्त्तन हैं, जिनके कारण साम्राज्य और पुरोहित, किसान और व्यापारी, सभी का सम-तोलन (Balance)—जिस पर प्राचीन जगत् की मानवीय व्यवस्था सौ शताब्दियों से अधिक काल तक अवलंबित थी—समय-समय पर होनेवाले बर्बरों के आक्रमण की सहायता पाकर इस प्रकार अव्यवस्थित हो गया?

मानवीय व्यापारों के अत्यंताधिक जटिल एवं दुरूह होने के कारण, यह (परिवर्त्तन) भी विविध एवं नाना प्रकार के थे। परंतु प्रमुख परिवर्त्तनों का एक ही हेतु प्रतीत होता है अर्थात् पदार्थों के स्वभाव-संबंधी ज्ञान की वृद्धि और विस्तार। यह ज्ञान सबसे पहले बुद्धिमान् मनुष्यों की छोटी-छोटी टुकड़ियों ही को हुआ; फिर कुछ काल तक धीरे-धीरे वृद्धि पाकर, पिछले पाँच सौ साल में, यह अत्यंत द्रुत गति से जनसाधारण की अधिकाधिक संख्या में दिन दूना रात चौगुना फैल गया।

परंतु जीवन की वृत्तियाँ (Spirit) बदलते रहने के कारण, मानव-परिस्थिति में भी बहुत परिवर्त्तन हो गये हैं। और इसके साथ ही साथ ज्ञान की वृद्धि और विस्तार में भी—जो उनसे अतीव सूक्ष्म संबंध रखता है—ऐसे परिवर्त्तन हुए हैं कि अपनी साधारण भौतिकेच्छाओं की पूर्त्ति को जीवन का ध्येय मानकर संतुष्ट रहने के स्थान में एक बृहत्तर जीवन की सेवा तथा उससे संबंध स्थापित करने के प्रयत्न की लोगों में दिन प्रति दिन प्रबल इच्छा हो रही है। बौद्ध, क्रिश्चियन तथा इसलाम इत्यादि बीस-पच्चीस शताब्दियों से संसार में फैलनेवाले महान् धर्मों का समान रूप से यही ध्येय रहा है। मानवीय भावों को इन्होंने प्राचीन धर्मों से विपरीत, कुछ अनोखी रीति से बदला है। ये शक्तियाँ अपने स्वभाव एवं प्रभाव की दृष्टि से—पुरोहित तथा मंदिरों के रुधिर-बलिदान-मय प्राचीन धर्म से जिनको इन्होंने कुछ बदल दिया या उड़ा दिया है—नितांत भिन्न हैं। इन धर्मों के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति में धीरे-धीरे आत्म-सम्मान और सार्वजनिक कार्यों में भाग लेकर ज़िम्मेदार बनने के कुछ ऐसे भाव उत्पन्न हो गये हैं जो प्राचीन सभ्यता के मानव-समाज में बिलकुल न थे।

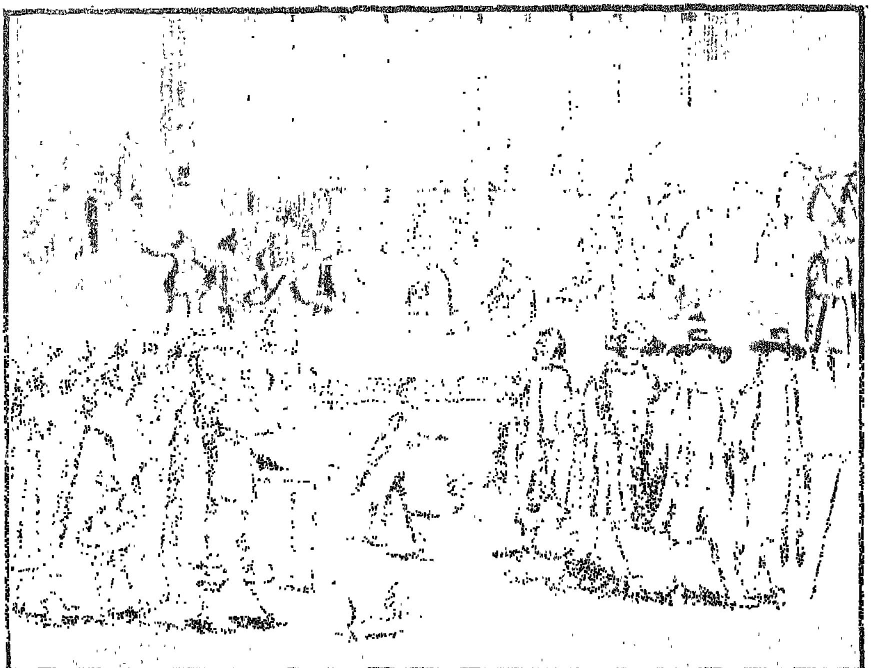
अतीतकालीन सभ्यता की राजनैतिक और सामाजिक जीवन-परिस्थिति में प्रथम बड़ा परिवर्त्तन लेखन-कला के सरल एवं विस्तृत प्रचार के पश्चात् हुआ और इसी के कारण विस्तृत साम्राज्य तथा अधिक उदार राजनैतिक समझौते साध्य और अपरिहार्य हो

सकें। घोड़ों और उनके कुछ काल पश्चात् ऊँटों को स्थानांतर में जाने का साधन बनाने के कारण उन्नति की इस बाढ़ में दूसरी लहर आई। तदनंतर पहियेदार गाड़ियाँ तथा विस्तृत सड़कें भी चल पड़ीं और वसुंधरा के गर्भ में स्थित लोहे के आविष्कार के कारण सैन्य-नैपुण्य भी खूब बढ़ गया। इसके पश्चात् 'मुद्रा' के चलन ने गहरा आर्थिक क्षोभ उत्पन्न कर दिया; और इस सरल परंतु भयंकर संकेत (Convention) के कारण अधिकार, वाणिज्य और ऋणरीति में भी परिवर्त्तन हो गया। फिर साम्राज्यों के परिमाण एवं विस्तार के साथ ही साथ मनुष्यों के विचार भी इन पदार्थों के अनुरूप विशद हो गये। स्थानीय देवताओं के लोप होते ही अब एकेश्वर के प्रभुत्व एवं संसार के महान् धर्मों के उपदेशों का युग आ गया। युक्ति-युक्त तथा लेखबद्ध इतिहास एवं भू-वर्णन (Geography) का प्रारंभ तथा मनुष्यों को अपनी नितांत अनभिज्ञता का सर्वप्रथम बोध होने पर क्रमबद्ध वैज्ञानिक जिज्ञासा का प्रारंभ इसी समय हुआ।

यूनान और ऐलेकज़ैंड्रिया में प्रदीप्त की हुई वैज्ञानिक प्रयोग-विधि में कुछ काल के लिए बाधा खड़ी हो गई थी। ट्यूटन (teuton) जातीय बर्बरों के आक्रमण और मंगोलों के पश्चिम ओर अग्रसर होने तथा क्षोभकारी धार्मिक पुनर्निर्माण और महामारी इन सब हेतुओं के कारण राजनैतिक एवं सामाजिक क्रमों या विभागों पर गहरा आकर्ष था। मानव-सभ्यता जब इस संग्राम और अव्यवस्था की ग्रहदशा को पार कर बाहर निकली तो आर्थिक जीवन का आधार—दासत्व—न रह गया। और सर्व-प्रथम स्थापित होनेवाले काग़ज़ के कारख़ानों में सामूहिक शिक्षा, और सहयोग के नये साधन (अर्थात्) छपे हुए काग़ज़ के रूप में तैयार किये जा रहे थे। क्रमबद्ध वैज्ञानिक खोज, इसी समय, यदा-कदा पुनः प्रारंभ हुई।

विधिवत् चिन्तन करने का अवश्यम्भावी परंतु गौण रूप से फल यह हुआ कि सोलहवीं शताब्दी (अर्थात् वैज्ञानिक रीति से विचार करने के समय) के पश्चात् नित्य प्रति उन्नति करनेवाले, बहुत से ऐसे आविष्कार और साधन निकले जिनसे आवागमन तथा व्यापार का विकास हुआ। इन सबका उद्देश्य, कार्य-क्षेत्र का विस्तार, पारस्परिक हानि-लाभ की शक्ति में वृद्धि और अधिकाधिक सहयोग था। मानव-मस्तिष्क में इस प्रकार की वस्तुओं को ग्रहण करने की क्षमता तब न थी; यही कारण है कि ऐतिहासिकों को बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में महान् आपदाओं द्वारा उनकी स्फूर्ति बढ़ जाने के समय तक, दिन प्रति दिन बाढ़ के समान बढ़नेवाले इन आविष्कारों द्वारा उत्पन्न की हुई नई परिस्थितियों के अनुरूप, सोच-समझकर निकाली हुई नई योजनाओं के वर्णन करने योग्य कुछ भी सामग्री नहीं मिलती। गत चार शताब्दियों में मनुष्य-जाति

की दशा बंदीगृह में सोये हुए उस क़ैदी के समान है जो अपने नियंत्रित करनेवाले आश्रयस्थान—जेलखाने—में आग लग जाने पर अवसर का उपयोग करने के स्थान में बेचैनी में यों ही मूर्ख की भाँति करवटें बदलता हुआ—सजग न होकर—अग्नि की चटचटाहट और उष्णता को अतीतकालीन असंबद्ध स्वप्न की घटना का अंश समझता है या समझता रहे।



क्रामवेल दीर्घ पार्ल्यामेंट को भंग करके इँग्लैंड के कामनवेल्थ का सर्वेसर्वा बन रहा है।

इतिहास जातियों की कथाओं का वर्णन करता है न कि व्यक्तियों की। इसी कारण, मानव-संसर्ग में परिवर्त्तन करनेवाले आविष्कारों को ही इतिहास में विशेष महत्त्व प्राप्त होता है। सोलहवीं शताब्दी के आविष्कारों में हमारे ध्यान देने योग्य एक तो है छपे हुए काग़ज़ों का चलन; और दूसरा है समुद्रयात्रा करनेवाले जहाज़ों में मल्लाहों द्वारा दिक्-सूचक यंत्र के व्यवहार करने की नई योजना। पहले आविष्कार ने शिक्षा,

सर्वसाधारण की जानकारी, वादविवाद और राजनैतिक प्रगतियों के प्रधान साधनों को सस्ता एवं विस्तृत कर क्रांति उत्पन्न कर दी। और दूसरे नये साधन ने समस्त भू-मंडल को एक कर दिया। परंतु तेरहवीं शताब्दी में मंगोलों द्वारा पश्चिमीय देशों में लाई हुई बारूद, तोपों की उन्नति और उनका अधिकाधिक व्यवहार भी कम महत्त्वपूर्ण न था। प्राकारस्थ नगरों और गढ़ों में अब तक सुरक्षित बैठे हुए 'बैरन' नामधारी जागीरदारों की निर्भयता इन्हीं के कारण भंग हुई। जागीरदारी प्रथा को तो तोपों ने ही उड़ाकर भस्मसात् किया था। कुस्तुनतुनिया का प्रधान नगर इन्हीं के बल से धराशायी हुआ। और मैक्सिको तथा पेरू प्रदेश भी स्पेनदेशीय तोपों से त्रस्त कर जीत लिये गये।



वेसलीज़ की अदालत

नियमित रूप से भौतिक विज्ञान-संबंधी प्रकाशन सत्तरहवीं शताब्दी में ही प्रारंभ हुआ। और आदि में असार सा प्रतीत होने पर भी यह नूतन मार्ग अंत में अत्यंत सारगर्भित सिद्ध हुआ। इस दिशा में, सबसे आगे पैर बढ़ानेवाले नेताओं में सर फ्रैंसिस

बेकन (१५६१-१६२६) का नाम, जो पीछे से लॉर्ड वेरुलम की उपाधि से विभूषित हो इंगलैंड का लार्ड चान्सलर हो गया था, अत्यंत उत्कर्ष से लिया जायगा। यह व्यक्ति कॉलचैस्टर-निवासी डा० गिलबर्ट नामक वैज्ञानिक (भौतिक) (१५४०-१६०३) का शिष्य था और शायद उसकी मुखनालिका (Mouthpiece) का काम करता था। अपने नामराशि प्रथम बेकन की भाँति, यह भी प्रयोग करने और पदार्थों को गवेषणा-पूर्वक देखने का उपदेश देता था। और विज्ञान-संबंधी अनुसंधानों द्वारा भविष्य में होनेवाले महान् उपकार को प्रदर्शित करने के लिए अपने सुख-स्वप्न का वर्णन सर फ्रैंसिस ने अपनी यूटोपिया की उत्साह-वर्धक एवं फलप्रद न्यू एटलांटिस (The New Atlantis) नामक कहानी में किया है।

फिर अनुसंधान-कार्य को प्रोत्साहन देने तथा ज्ञान-संबंधी विचार-विमर्श को प्रकाशित करने के लिए लंदन की रायल सोसायटी और फ़्लोरेंस की फ़्लौरेनटाइन सोसायटी तथा अन्य जातीय सोसायटियाँ भी कुछ काल के अनंतर स्थापित हो गईं। यूरोप की इन विज्ञान-सभाओं का निर्झर न केवल आविष्कार-रूपी नदियों का, वरन् बहुत शताब्दियों पर्यंत मानव-विचारों को पंगु बना उन पर शासन करनेवाले धार्मिक इतिहास पर पानी फेरनेवाली विघातात्मक आलोचनाओं का भी उद्गम-स्थान था।

सतरहवीं और अठारहवीं शताब्दी में काग़ज़ की छपाई और समुद्रों में यात्रा करनेवाले जहाज़ों द्वारा मानव-परिस्थिति में जितनी शीघ्रता से क्रांति हुई उतनी शायद किसी अन्य नूतन पद्धति के कारण नहीं हुई। परंतु उस समय के स्थिरता-पूर्वक किये हुए ज्ञानार्जन और वैज्ञानिक शक्ति के संचय का पूर्ण फल उन्नीसवीं शताब्दी में प्रत्यक्ष हुआ। खोज-खोजकर पृथ्वी के मानचित्र बनाने का कार्य प्रारंभ हो जाने के कारण, अब टैसमैनिया, ऑस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड भी संसार के नक़शों में दीखने लगे। अठारहवीं शताब्दी में, धातुओं को गलाकर साफ़ करने के लिए, ग्रेट-ब्रिटेन में लकड़ी के कोयले के स्थान में—कोल-कोक अर्थात् पत्थर का कोयला उपयोग में आने के कारण—लोहा बहुत ही सस्ता हो गया था। और पूर्वकाल की अपेक्षा, जब लकड़ी के कोयले द्वारा धातु-शोधन होता था, अब अधिक बड़े-बड़े कार्यों में इसको ढालकर व्यवहार करने की संभावना हो गई। यह आधुनिक कल-पुर्ज़ों (Machinery) का उषःकाल था।

कल्प-वृक्ष के समान विज्ञान में भी कलियाँ, फूल और फल सब एक साथ और सदैव लगा करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारंभ होते ही इस विज्ञान-रूपी वृक्ष में कभी न मुरझानेवाले फलों के लगने का समय आया। और सर्वप्रथम आविर्भाव हुआ, वाष्प का और स्टील (फ़ौलाद इस्पात) का, रेलवे का और समुद्र पार करनेवाले बड़े

जहाज़ों का, बड़े-बड़े पुलों का, विशाल भवनों का, और अनंत शक्तिशाली यंत्रों का, जिनके कारण मनुष्यों की प्राय: समस्त भौतिक आवश्यकताओं की बाहुल्य के साथ पूर्ति की संभावना थी। तदनंतर विद्युत्-विज्ञान की अत्यंत अधिक आश्चर्यजनक एवं गूढ़ निधि का द्वार भी मानव-जगत् के लिए खुल गया।

सोलहवीं शताब्दी के अनंतर के राजनैतिक एवं सामाजिक मानव-जीवन की उपमा हमने अभी दी है वंदीगृह में आग लग जाने पर वहाँ स्वप्न देख रहे क़ैदी से। इस शताब्दी में यूरोपीय जातियों के मस्तिष्क लैटिनीय राजस्वप्न में पड़े थे, वह स्वप्न कैथोलिक चर्च की अधीनता में संयुक्त पवित्र रोम-साम्राज्य का था। परंतु शरीर में किसी अनियंत्रणीय दोष के होने पर जिस प्रकार हमारे स्वप्नों में अत्यन्त असंगत एवं विघातात्मक आलोचनाएँ बलात् प्रत्यक्ष होने लगती हैं, ठीक उसी प्रकार हमको इस यूरोपीय स्वप्न में एक ओर तो सम्राट् पंचम चार्ल्स का फैला हुआ सुप्त बदन और लालायित जठर हठात् लक्षित होता है, और दूसरी ओर इँगलेंड के राजा अष्टम हैनरी और लूथर, कैथोलिक सम्प्रदाय के ऐक्य की धज्जियाँ उड़ाते प्रतीत होते हैं।

सतरहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यह स्वप्न व्यक्तिगत स्वच्छन्द शासन में परिवर्तित हो गया। उस समय का प्राय: समस्त यूरोपीय इतिहास, राजाधिपत्य की नींव दृढ़ करने के प्रयत्न की कुछ घट-बढ़ के साथ एक ही कथा वर्णन करता है। अर्थात् एक ओर तो राज-शासन को स्वच्छन्द और दृढ़ कर पास-पड़ोस के दुर्बल भू-भागों तक (उसको) फैलाने के प्रयत्नों का वर्णन है तथा दूसरी ओर है राजाओं के इस बल-प्रयोग और हस्तक्षेप करने की नीति का; तथा जागीरदार और तत्पश्चात् देशी कला-कौशल एवं विदेशी व्यापार-वृद्धि होने पर दिन प्रतिदिन उन्नति करनेवाले व्यवसायी और धनिकों के दृढ़ता-पूर्वक विरोध का उल्लेख। परंतु एक ही पक्ष की विजय सर्वत्र नहीं हुई; कहीं राजत्व प्रबल रहा तो कहीं वैयक्तिक संपदाधिकार ने राजा को धर दबाया; किसी स्थान पर यदि हमको कोई राजा जातीय जगत् का, सूर्य समान केन्द्रस्थान बना हुआ प्रतीत होता है तो उसी देश की सीमा पार दूसरी जगह हमको दृढ़ व्यवसायियों द्वारा संचालित एक प्रजातंत्र दीख पड़ता है। इस प्रकार के महान् भेदों से पता चलता है कि उस समय की शासन-विधि किस प्रकार नितांत प्रयोगमय और स्थानीय घटनाओं पर अवलंबित थी।

इन जातीय नाटकों में एक अत्यन्त व्यापक मूर्ति दिखाई देती है राज-मंत्री की, जो तत्कालीन कैथोलिक राज्यों में प्राय: पादरी हुआ करते थे। राजा को छोड़कर यही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझे जाते थे और अपरिहार्य सेवाओं के कारण इनका प्रभाव अपने स्वामियों पर भी होता था।

इन विविध जातीय नाटकों का इस छोटे से ग्रंथ में सविस्तर वर्णन करना हमारे लिए असंभव है। हालैंड की व्यावसायिक जनता ने प्रोटेस्टैंट पंथानुयायी एवं प्रजातंत्रवादी हो स्पेन के शासक—सम्राट् चार्ल्स पंचम के पुत्र—फिलिप द्वितीय का शासन-जुआ फेंक दिया। इँगलैंड में अष्टम हेनरी और उसके मंत्री तथा महारानी ऐलिज़ाबेथ और उसके मंत्री बरले ने स्वच्छंद शासन की नींव डाली जो जेम्स प्रथम तथा चार्ल्स प्रथम की मूर्खताओं के कारण नष्ट हो गई। प्रजा के विरुद्ध विद्रोह करने के अपराध में चार्ल्स प्रथम का सिर काट दिया गया (१६४९) जो इस बात का लक्षण था कि यूरोपीय विचारों ने नया पलटा खा लिया था। इस घटना के पश्चात् बारह वर्ष तक (१६६०) ब्रिटेन प्रजातंत्र रहा। और फिर अस्थायी राजमुकुट की शक्ति और मर्यादा उस समय तक सदा पार्लियामेंट की बल-छाया ही में दबी रही जब तक कि तृतीय जॉर्ज (१७६०–१८२०) ने प्राचीन शक्ति और महत्ता प्राप्त करने के कठिन कार्य में घोर प्रयत्नों द्वारा किंचित् सफलता प्राप्त न कर ली। इसके विपरीत समस्त यूरोपीय नरेशों की अपेक्षा केवल फ़्रांस का राजा ही परिपूर्ण स्वच्छन्द शासन स्थापित करने में सबसे अधिक सफल हुआ। तद्देशीय राजमुकुट को बल और शक्ति प्रदान करने में सहायता दी थी रिशेलू (१५८५-१६४८) और मैज़ारीं (१६०२–१६६१) नामक दो महान् अमात्यों ने और उनके इस कार्य में सहारा मिला था 'प्रतापी-नृपति' की उपाधि से विभूषित सम्राट् चौदहवें लुई (१६४३–१७१५) की महान् योग्यता और सुदीर्घकालीन शासन का।

चौदहवाँ लुई वास्तव में यूरोप में एक आदर्श शासक हो गया है। परिमित परिस्थिति में भी यह असाधारणतया योग्य शासक था। गर्हित कामुकता की अपेक्षा कीर्त्ति-स्पृहा ही उसमें अधिक बढ़ी-चढ़ी थी। अपनी दुरूह एवं उत्साहपूर्ण वैदेशिक नीति द्वारा देश को दीवालिया बनाते हुए भी वह ऐसे मान-मर्यादा से पार ले गया कि वर्त्तमान काल में भी हमको उसकी बरबस प्रशंसा करनी पड़ती है। र्‌हाइन नदी और पिरेनीज़ पर्वतमाला तक फ़्रांस देश को संगठित एवं बढ़ा कर स्पेन राज्यान्तर्गत नैदरलैंड को भी उसमें सम्मिलित करने की उसकी उत्कट अभिलाषा थी। और पुनः संगठित पवित्र रोम-साम्राज्य के सिंहासन पर भी—शार्लमेन के संभवनीय उत्तराधिकारी के नाते फ़्रैंच शासकों का अधिकार मानकर—उसकी दृष्टि लगी हुई थी। उसी ने, राजकीय साधन में, युद्ध की अपेक्षा घूँस को अधिक महत्त्व दिया। पोलैंड के बहुत से सरदार (जिनका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे) तथा इँगलैंड के राजा चार्ल्स द्वितीय तक इसके वेतनभोगी थे। इसका रुपया—अथवा यों कहो कि फ़्रांस के करदाताओं का रुपया—सर्वत्र पहुँचता था। परंतु जिसने सम्राट् के अन्य व्यवसायों को ग्रसित कर लिया वह था उसका वैभव-

प्रदर्शन। वरसाई (Versailles) नामक स्थान में बने हुए उसके प्रकांड प्रासाद, बड़े हॉल, अतिथियों का स्वागत करने के लिए उसके बड़े-बड़े कमरे, सुंदर दर्पण, सुहावने अलिंद और धारायंत्र (फ़व्वारे), क्रीडोद्यान तथा मनोरम दृश्य, समस्त संसार में विस्मय एवं ईर्ष्या उत्पन्न करते थे।

सम्राट् का अनुकरण करने की तब सभी को उत्कट इच्छा थी। यूरोप का प्रत्येक राजा और छोटे से छोटा राजकुमार मर्यादा से कहीं अधिक ऋण लेकर अथवा अपने राजकोष से जितना हो सकता था उतना धन व्यय कर अपना-अपना वरसाई बना रहा था। देखादेखी सरदारों ने भी प्रायः सर्वत्र ही अपने-अपने जागीरदारी के प्रासाद या तो पुनर्निर्मित किये या उनको बढ़ाकर 'नवीन आदर्श' के समान कर दिया। फल उसका यह हुआ कि सुंदर तथा अत्यन्त परिश्रम से बननेवाले वस्त्रों तथा भवनों को सुसज्जित करनेवाले अन्य पदार्थों के व्यवसाय बढ़ने लगे। विलास-युक्त कलाओं की अर्थात् एलबैस्टर नामक पाषाण-विशेष की बनी हुई मूर्त्तियाँ, मिट्टी के वार्निश किये हुए खिलौने, स्वर्णपत्रों से मढ़ा हुआ लकड़ी का काम, तारकशी का काम, धातुनिर्मित पदार्थ, चमड़े पर ठप्पे का काम, बहुल-गायन, मनोरम चित्र, सुंदर छपाई और जिल्दसाज़ी, मिट्टी के दर्शनीय पात्र और अंगूर की मधुर मदिरा इत्यादि विलासमय सामग्रियों की सर्वत्र उन्नति होने लगी। इन भवनों के सुंदर दर्पणों और अन्य परिच्छदों के मध्य, पाउडर-युक्त लंबे नकली बाल लगाये, लैसदार रेशमी वस्त्राच्छादित ऊँचे लाल एड़ियों के जूते पहिरे, और विचित्र बेंत हाथ में लिये हुए एक अनोखी जाति के 'भद्र पुरुष' घूमा करते थे; और इनसे भी अधिक विचित्र लख पड़ती थीं वहाँ की 'सभ्य' स्त्रियाँ, जिनके सिर पर तो पाउडर-युक्त बालों का अट्ट होता था, और शरीर पर होते थे तार द्वारा तने, रेशम और साटिन के विस्तृत परिधान। इन नर और नारीरत्नों के मध्य विराजते थे अपने जगत् के सूर्य महान् लुई जिनको नीचे के अन्धलोकवासियों के दुर्बल एवं उग्रवदनों की कुछ भी खबर न थी और जहाँ उनका रश्मि-प्रकाश तक न पहुँच सकता था।

इस समस्त राज-शाही तथा शासन-प्रयोगों के युग में राजनैतिक रूप से विभाजित रहने पर भी, जर्मनी के बहुत से ड्यूक और राजकुमारों की राजसभाएँ वरसाई के वैभव का न्यूनाधिक परिमाण में अनुकरण कर रही थीं। जर्मन, स्वीडन और बोहिमिया के निवासियों का न्यूनाधिक राजनैतिक लाभों की प्राप्ति के लिए तीस वर्ष तक (१६१८-४८) ऐसा विध्वंसकारी युद्ध छिड़ा रहा कि उसके कारण, आगामी सौ वर्ष तक, समस्त जर्मन बल का शोषण हो गया। यूरोप का मानचित्र देखने पर पता लगेगा कि जर्जर वस्त्र को जिस प्रकार गाँठ-गूँठकर ठीक किया जाता है वैसे ही इस

कलह का अंत भी, वैस्टफेलिया की संधि द्वारा हुआ (१६४८)। इस समय देख पड़नेवाले जटिल मांडलिक राज्य, ज़मींदारियाँ और स्वतंत्र प्रान्त इत्यादि में से कुछ तो साम्राज्य के अंतर्गत थे और कुछ बाहर। पाठक स्वयं देखेंगे कि स्वीडन का हाथ किस प्रकार उस समय, जर्मन देश में दूर तक घुसा हुआ था; और साम्राज्यान्तर्गत कुछ एक द्वीपवत् स्थानों को छोड़ फ्रांस की सीमा उस समय तक, र्‌हाइन नदी से बहुत दूरी पर थी। इस लीप पोत में प्रशिया—जो १७०१ में राज्य कहलाने लगा था—अनेक युद्धों में सफल हो धीरे धीरे दृढ़तापूर्वक महत्त्व प्राप्त करता जाता था; प्रुशिया के राजा महान् फ्रेडरिक (१७४७-८६) का बरसाई पौटसडम में था; उसकी राजसभा में फ्रेंच भाषा ही बोली और पढ़ी जाती थी और वहाँ पर फ्रेंच नरेशों से संस्कृति में प्रतिस्पर्धा की जाती थी।

१७१४ में हनोवर का ऐलैक्टर (सम्मतिदाता) जब इँगलैंड का राजा हो गया तो (एक ही साथ) साम्राज्याधीन और स्वतंत्र शासकों की संख्या में एक और वृद्धि हो गई।

पंचम चार्ल्स की ऑस्ट्रियन शाखा अभी तक सम्राट् ही की उपाधि धारण करती थी; स्पेन-देशीय शाखा का स्पेन पर अधिकार था। परन्तु इस समय पूर्व में एक और सम्राट् विद्यमान था। कुस्तुनतुनिया के पराभव (१४५३) के पश्चात् अब मॉस्को का ग्रांड ड्यूक महान् आइविन (१४६२-१५०५) बैज़ण्टाइन के सिंहासन का उत्तराधिकारी होने का दावा करता था और इसी कारण वहाँ उसने बैज़ण्टाइन के द्विमुखी स्वर्ण-गरुड़ को भी अपने ध्वज पर अंकित कर लिया था और फिर उसके पोते भयंकर आइविन के नाम से प्रसिद्ध चतुर्थ आइविन ने (१५३३-१५४८) सीज़र (अर्थात् ज़ार) की राज-उपाधि भी धारण कर ली। परन्तु इतना करने पर भी सतरहवीं शताब्दी के अंतिमार्ध तक यूरोपीय जातियाँ रूस को दक़ियानूसी एवं एशिया-निवासी ही समझती रहीं। महान् पीटर नामक ज़ार (१६८२-१७२५) ही इस देश का राज्य-व्यवहार पश्चिमीय अखाड़े में सर्वप्रथम लाया। इस सम्राट् ने नीवा नदी पर अपने साम्राज्य की पीटर्सबर्ग नामक एक नवीन राजधानी बसाई, जो यूरोप और रूस के मध्य एक खिड़की का काम देती थी। इसके अतिरिक्त सम्राट् ने अपना वर्साई अठारह मील दूर पीटरहॉफ़ नामक स्थान में स्थापित किया, जहाँ फ्रांसीसी वास्तु-विद्या-विशारद द्वारा सम्राट् ने अलिंद, जलधारा-यंत्र, निर्झर, चित्रशाला और क्रीडोद्यान इत्यादि सम्राट्पदोपयुक्त प्राय: सभी पदार्थ निर्माण कराये थे। प्रुशिया की भाँति रूसी दरबार में भी अब फ्रांसीसी ही बोली जाने लगी।

ऑस्ट्रिया, प्रुशिया और रूस के बीच में अभाग्यवश बसा हुआ पोलैंड का राज्य था। इस दुर्व्यवस्थित राज्य के बड़े-बड़े ज़मींदार अपना अधिकार एवं वैभव बनाये रखने की

डाह से देश के निर्वाचित राजा को नाममात्र के ही अधिकार देते थे। फल यह हुआ कि स्वतंत्र परंतु मित्र राज्य बनाये रखने का फ्रांस द्वारा घोर प्रयत्न होने पर भी, कर्म-रेखा के अमिट होने के कारण, ये तीन पड़ोसी-राज्य ही इसको हड़प गये। स्विट्ज़रलैंड उस समय प्रजातांत्रिक ज़िलों का समूह-मात्र था। वेनिस में प्रजातंत्र था परंतु इटैली, जर्मनी की भाँति, छोटे-छोटे ड्यूक और राजकुमारों में विभक्त था। पोप उस समय राजपुत्रों की भाँति केवल राज्य का शासक था, अवशिष्ट कैथॉलिक राज्यों में अपनी राज-निष्ठा भंग हो जाने के भय से वह अब न तो राजाओं और प्रजाओं के मध्य के कलहों में हस्तक्षेप करता था और न संसार भर के क्रिश्चियन-राज्यों को एक ही गण-राज्य में सम्मिलित होने का उपदेश देता था। सच पूछा जाय तो समस्त यूरोप में उस समय सर्वसामान्य राजनैतिक विचार ही न था (और होता भी किस प्रकार)। उस समय तो वहाँ विभाग और वैचित्र्य ही का दौरदौरा था।

समस्त शासक, राजकुमार और प्रजातंत्र उस समय एक दूसरे पर उत्कर्ष प्राप्त करने की युक्तियों ही का अनुसरण कर रहे थे; पड़ोसियों पर आक्रमण करना ही प्रत्येक की वैदेशिक नीति हो रही थी, और उसी के लिए उन दिनों आपस में समझौते होते थे। यूरोपियन जातियाँ अभी तक इन विविध राजा-पालित राज्यों के युग के अंतिम चरण ही में चली जाती हैं। और इसी कारण तज्जनित घृणा, शत्रुता और शंका के भाव हमको वर्त्तमान काल में भी पीड़ित कर रहे हैं। आधुनिक विद्वानों को उस समय का इतिहास प्रत्यक्ष रूप से अधिकाधिक जाल्पिक, व्यर्थ और भ्रमजनक प्रतीत होता है। हमको बताया जाता है कि अमुक युद्ध किसी राजा की प्रेयसी के कारण क्योंकर छिड़ गया और अमुक युद्ध किसी राज्य के मंत्री के अन्य राष्ट्रमंत्री से डाह करने के कारण किस प्रकार प्रारंभ हुआ। इन प्रतिस्पर्धाओं और घूसखोरी की जल्पनाओं से बुद्धिमान् विद्यार्थियों के मन में बीभत्स रस का संचार हो उठता है। सबसे अधिक मार्के की बात यह है कि उस समय, बीसियों सीमाओं की रुकावट होते हुए भी, लिखना-पढ़ना और मानव-विचार दोनों ही दिन प्रति दिन बढ़ते और फैलते गये और आविष्कारों का प्राचुर्य होता गया। तत्कालीन नीति और राज्य-सभाओं को अत्यंत ही संशयात्मक और सदोष बतानेवाले साहित्य का अठारहवीं शताब्दी में ही जन्म हुआ। उदाहरणार्थ—वॉलटेयर की कैनडिड नामक पुस्तक में ही यूरोपीय संसार में दीख पड़नेवाले योजनाहीन विप्लव के प्रति असीम खेद प्रकट किया गया है।

---

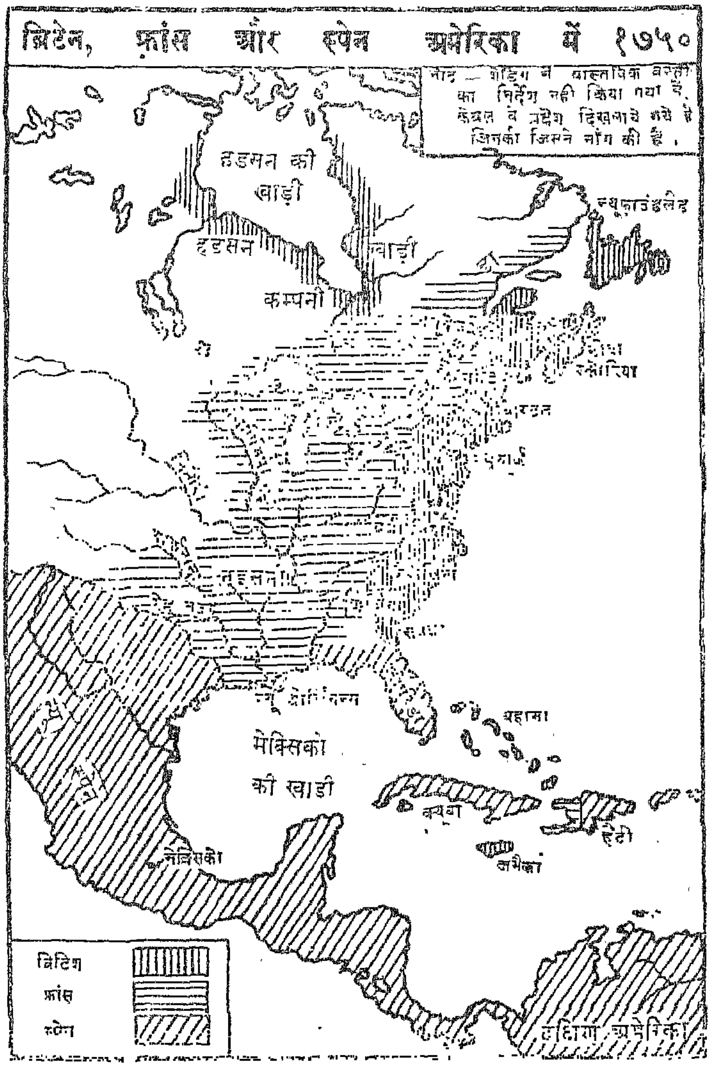
(५३)

एशिया और समुद्र पार देशों में नवीन यूरोपीय साम्राज्य

जिस समय मध्य यूरोप में भेद एवं आकुलता फैल रही थी उस समय पश्चिम-यूरोपीय जातियाँ और विशेषतया स्केंडिनेविया, स्पेन तथा पुर्तगाल निवासी, फ्रांसीसी, ब्रिटिश और डच, समुद्र पार समस्त भूमंडल में जा अपने युद्ध क्षेत्र को विस्तृत कर रहे थे। मुद्रणालयों के कारण इधर एक तो वैसे ही यूरोपीय राजनैतिक विचारों में अपरिमित एवं विशद रूप से ख़मीर उठ रहा था, तिस पर उधर समुद्र पार जानेवाले इन नवीन पोतों के आविष्कार से यूरोपीय जातियों के अनुभव का विस्तार लवण-पयोधि के पार दृढ़ हो रहा था।

डच तथा उत्तरीय एटलांटिक के तट पर रहनेवाली यूरोपीय जातियाँ इन समुद्र पार देशों में उपनिवेश स्थापित करने की इच्छा से सर्वप्रथम नहीं बसी थीं। उनके वहाँ जाने का उद्देश्य तो था वाणिज्य और खानों की खोज। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम पदार्पण करने के कारण स्पेन-निवासी उस समय अमेरिका के समस्त नवीन संसार पर अपना अधिकार जमा रहे थे। परंतु शीघ्र ही पुर्त्तगालवालों ने भी उसमें से कुछ भाग लेना चाहा। इस पर पोप ने वर्डे द्वीपसमूह से पश्चिम ३७० लीग की दूरी पर खींची हुई रेखा के पूर्व के समस्त प्रदेश और ब्राज़ील पुर्त्तगाल को और शेष समस्त प्रदेश स्पेनवालों को देकर इन नवागंतुकों के बीच समस्त नवीन जगत् का बँटवारा कर दिया। जगदधीश्वर की हैसियत से किया हुआ यह रोम का अंतिम कार्य था। पुर्त्तगाल-निवासी उस समय दक्षिण और पूर्व में समुद्र-पार के देशों में अद्‌भुत साहस प्रदर्शित करने में अग्रसर हो रहे थे। १४९७ में जहाज़ द्वारा लिसबन नगर से चलकर वासको-ड-गामा आधुनिक गुड-होप नामक अंतरीप की परिक्रमा कर ज़ंज़ीबार होता हुआ भारत के कालीकट नामक नगर में पहुँच गया। १५१५ में पुर्त्तगालवालों के जहाज़ मलका और जावा द्वीप पहुँच गये थे। और यह जाति भारतीय सागर पर व्यापारिक नगर स्थापित कर उनके चारों ओर प्राकार बना रही थी। मुज़म्बीक़ तथा गोआ एवं दो अन्य क्षुद्र

भारतीय स्थान, चीनदेशीय मकाओ और तिमोर का कुछ भाग—यही स्थान इस समय तक पुर्त्तगाल-निवासियों के पास हैं।



ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन अमेरिका में १७५०

पोप-निर्णय द्वारा अमेरिका के अधिकार से बहिष्कृत की जानेवाली जातियों ने स्पेन और पुर्त्तगाल के स्वत्वों की तनिक भी परवाह न की। उस समय न केवल इँगलेंड वरन् डेनमार्क तथा स्वीडन निवासी और फिर शीघ्रतया डच लोग भी पश्चिमीय द्वीप-समूह और उत्तरीय अमेरिका में अपने स्वत्व जताने लगे। तदनंतर फ्रांस के सम्राट् सदृश सर्व-प्रधान कैथोलिक सम्राट् ने भी प्रोटेस्टेंट जातियों की भाँति इस समझौते की अवहेलना की। इन स्वत्वों एवं अधिकारों के लिए भी अब यूरोप में लड़ाइयाँ छिड़ने लगी थीं।



भारत में यूरपवालों का शेर का शिकार

इन समुद्र-पार के अधिकारों की कलह में अंत को अँगरेज़ जाति ही सबसे अधिक सफल रही। जर्मनी की दुरूह आंतरिक अवस्था में बुरी तरह जकड़ी होने के कारण डेन तथा स्वीड जातियों के लिए तो इन बाह्य आक्रमणों में अधिक काल तक प्रभावोत्पादक युद्ध करना ही अशक्य था। 'उत्तरीय सिंह' कहलानेवाले, प्रोटेस्टैंट पंथानुयायी, गुस्टावस-ऐडौल्फ़स' नामक विचित्र राजा के कारण स्वीडन के नर-पुष्प जर्मन युद्धक्षेत्र में बुरी तरह मसल-कर नष्ट कर दिये गये थे और तद्देशीय अमेरिका-स्थित यत्किंचित् उपनिवेशों के उत्तरा-

धिकारी डच हो गये। परंतु फ्रेंच आक्रमणों के अत्यंत निकटवर्ती होने के कारण यह जाति बृटिश का सामना न कर सकती थी। सुदूरपूर्व में साम्राज्य-प्राप्ति के लिए प्रतिद्वंद्वी थे अँगरेज़, फ्रेंच और डच, और अमेरिका में प्रतिद्वंद्वी थे अँगरेज़, फ्रेंच और स्पेन-निवासी। रजतरेखावत् इँगलिश-खाड़ी की जल-सीमा के कारण अँगरेज़ जाति को समस्त यूरोप की अपेक्षा अधिक विशेषता प्राप्त थी। लैटिन-साम्राज्य के परंपरागत विचारों में यही लोग सबसे कम फँसे थे।

फ्रांस की दृष्टि में यूरोपीय अधिकार सदैव अधिक महत्त्वपूर्ण रहे। समस्त अठारहवीं शताब्दी में स्पेन, इटैली और अव्यवस्थित जर्मन जाति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य से उसने पूर्व एवं पश्चिम दिशाओं की ओर राज्य-विस्तार के अच्छे अवसरों को खो दिया। अपने राजनैतिक तथा धार्मिक झगड़ों-टंटों से उकताकर बहुत से अँगरेज़ सतरहवीं शताब्दी ही में स्वदेश छोड़ अमेरिका में सदैव के लिए बसने को विवश हो गये थे। कालांतर में संख्या की वृद्धि एवं उन्नति होने पर इनकी जड़ उस देश में ख़ूब जम गई जिससे अमेरिका के आगामी युद्ध में अँगरेज़ों को अत्यंत सुलभता (Advantage) रही। १७५६ और १७६० में कैनेडा नामक प्रदेश फ्रांस के हाथ से निकलकर अँगरेज़ों और उनके प्रवासी बंधुओं के हाथ में आ गया और इसके कुछ ही काल पश्चात् एक बृटिश व्यापारी कंपनी फ्रेंच, डच और पुर्त्तगाल निवासियों की अपेक्षा समस्त भारत प्रायद्वीप पर प्रबल हो गई। बाबर, अकबर और उनके उत्तराधिकारियों का तद्देशीय मंगोल (मुग़ल ?) साम्राज्य तब अवनति के गड्हे में जा पड़ा था, और बृटिश ईस्ट इंडिया कंपनी नामक लंदन की व्यवसाय-परिषद् द्वारा उस बृहत् साम्राज्य का हस्तगत करना भी समस्त आक्रमणेतिहास में अत्यंत रोचक एवं अपूर्व घटना है।

रानी ऐलिज़ाबेथ के शासनकाल में अर्थात् अपने निर्माण के समय यह ईस्ट इंडिया कंपनी सामुद्रिक-व्यवसायियों की एक संस्थामात्र थी। क्रमशः इन व्यापारियों को विवश होकर सेना रखनी पड़ी और जहाज़ों को शस्त्रास्त्र से सुसज्जित करना पड़ा। अंत में वह समय भी आ गया जब धन का लोभी यह वणिक्-संघ परंपरागत मसाले, रंग, चाय और जवाहरात ही नहीं वरन्, राजकुमारों के राजस्व व रियासतों के सौदे कर भारत का भाग्य-विधाता बन बैठा। ये लोग आये तो थे यहाँ क्रय-विक्रय करने, परंतु करने लगे लूट। और उनके कृत्यों को पूछने या टोकनेवाला वहाँ कोई न था। ऐसी दशा में यदि उसके कप्तान, सेनाध्यक्ष और उच्च कर्मचारी ही नहीं वरन् क्षुद्र क्लर्क और साधारण सैनिक तक लूट के धन से मालामाल हो इँगलैंड को लौटे तो आश्चर्य ही क्या है ?

बृहत् एवं धनाढ्य देश को इस प्रकार अपने वश में पड़ा देख ये लोग ऐसी दशा में यह निश्चय न कर सके कि इनको क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। भारत इनके लिए एक विचित्र देश था। वहाँ की धूप अनोखी थी; वहाँ के गेहुएँ रंग के निवासी, इनको अपने से भिन्न जाति के प्रतीत होते थे जो कदापि इनकी दया के पात्र होने के योग्य न थे, और वहाँ के रहस्यमय मंदिरों के आचार इनको विलक्षण प्रतीत होते थे। इँगलैंड लौटने पर कंपनी के जनरल और अन्य उच्चपदस्थ कर्मचारी जब एक दूसरे के पर अत्याचार और बलात् धनापहरण करने के जघन्य आरोप लगाते थे तो इँगलैंड की जनता अकुला उठती थी। पार्लियामेंट में क्लाइव पर निंदात्मक प्रस्ताव पास किये जाने के कारण उसने १७७४ में आत्मघात कर लिया। १७७८ में वारेन हेस्टिंग्ज़ नामक एक अन्य महान् भारत-शासक पर भी दोषारोपण किया गया, परंतु वह निर्दोष ठहराया गया (१७९२)। संसार के इतिहास में यह स्थिति भी अत्यंत ही विचित्र एवं अपूर्व थी। लंदन की व्यापारिक कंपनी का शासन तो इँगलिश-पार्लियामेंट के अधीन था, और स्वयं व्यापारिक कंपनी बृटिश द्वीप से भी कहीं अधिक बड़े और जनाकीर्ण देश पर अपना अधिकार जमाये हुए थी। अँगरेज़ जनता के लिए तो सुदूर भारत एक विचित्र एवं अगम्य देश था जो निर्धन साहसी युवकों ही के जाने योग्य था और जहाँ से वे बरसों बाद वृद्धावस्था में सुलभ कोप-स्वभाव और प्रचुर धन लेकर लौटते थे। पूर्वदेशीय सूर्य-प्रकाश में रहनेवाले गेंहुए रंग के असंख्य मनुष्यों की जीवन-समस्या को समझना अँगरेज़ों के लिए अतीव कठिन कार्य था। अंत में लाचार होकर उनका मस्तिष्क ही उस कार्य के योग्य न रहा। भारत उनके लिए एक आश्चर्य-कारी माया-जाल था। इन हेतुओं के होते हुए कपनी की कार्रवाइयों की जाँच-पड़ताल और उस पर सफलता-पूर्वक नियंत्रण अंगरेज़ों के लिए असंभव था।

पश्चिमीय यूरोप की शक्तियाँ जिस समय समुद्र पार के अद्भुत साम्राज्यों के लिए संसार के समस्त समुद्रों में इस प्रकार युद्ध कर रही थीं उसी समय, स्थल-मार्ग द्वारा एशिया पर दो महान् आक्रमण हुए। १३६० में मंगोल जाति का शासन-जुआ फेंक चीन ने मिंग नामक महान् स्वदेशीय वंश के शासन-काल में १६४४ तक अत्यंत ही उन्नति की थी। इसके पश्चात् मंचू नामक अन्य मंगोल जाति चीन को पुनः जीतकर १९१२ तक वहाँ शासन करती रही। उसी समय रूस भी पूर्व की ओर अग्रसर हो दिन पर दिन वृद्धि प्राप्त कर संसार-व्यापार में महत्त्व प्राप्त कर रहा था। प्राचीन संसार की इस पूर्वा-पर महाप्रधान शक्ति का अभ्युदय मानव-भाग्य-विधान में अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 'स्टैप्पी' नामक रूस के विस्तृत पठारों के निवासी क्रिश्चियन मतावलंबी

'कॉसकों' (क़ज़ाकों) के कारण ही—जो एक ओर तो पोलैंड के खेतिहर ज़मींदारों तथा पश्चिमीय हंगेरी को और दूसरी ओर पूर्वीय तातारों को रोक रहे थे—यह देश इस प्रकार उन्नति कर सका था। यूरोप की पूर्वीय बर्बर कॉसक जाति की दशा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य (अमेरिका के) संयुक्त राज्य के पश्चिमी भागवाले बर्बरों के समान थी। अपराधी तथा पीड़ित किये जानेवाले निरपराधी, विद्रोही, दास, कट्टर-धर्मवादी, चोर-बदमाश और प्राणापहारी अर्थात् जिनको रूस में रहने के लिए स्थान न था, वे सभी व्यक्ति इन दक्षिणीय पठारों का आश्रय ले—पोल-रूसी और तातारी—सबसे एक समान युद्ध कर जीवन-रक्षा तथा पुनः स्वातंत्र्य-प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे थे। कॉसकों की इस मिश्रित जाति में, पूर्व दिशा से भागे हुए तातारी भी निस्संदेह आकर सम्मिलित हो गये थे। जिस प्रकार स्कॉटलैंड के हाइलैंड नामक प्रांत में रहनेवाले वंश-समुदायों को वृटिश सरकार ने सेना में भर्ती कर लिया था, ठीक उसी प्रकार परंतु धीरे-धीरे इन सीमान्त-प्रदेश-वासियों को भी रूस के 'ज़ारों' ने अपने यहाँ नौकर रख लिया। एशिया महाद्वीप में इनको नवीन भूभाग दिये गये और इन्हीं के द्वारा दिन-प्रतिदिन क्षीण होनेवाले पशुचारणोपजीवी मंगोलों के शक्ति-बल का तुर्किस्तान और साइबीरिया प्रदेश में आमूर नदी तक सर्वथा विध्वंस हो गया।

सतरहवीं और अठारहवीं शताब्दी में मंगोलशक्ति का ह्रास किन कारणों से हुआ यह बताना अत्यंत कठिन है। चंगेज़ खाँ और तैमूर लंग के दो अथवा तीन शताब्दी पश्चात् ही मध्यएशिया सार्वभौमिक प्रभुत्व के ऊँचे शिखर से राजनैतिक नपुंसकता के गहरे गड्हे में जा पड़ा था। बहुत संभव है कि जल-वायु परिवर्त्तन, अलिखित महामारी, अथवा मलेरिया के समान रोगों की छूत के कारण ही मध्यएशिया-वासी जातियों में ऐसी निवृत्ति उत्पन्न हो गई जो हमारे संसार के इतिहास की व्यापक दृष्टि से शायद अस्थायी ही हो। कुछ लेखक चीन देश में बौद्ध धर्म का प्रचार ही इस शांति का हेतु बताते हैं। जो हो, सोलहवीं शताब्दी का प्रारंभ होते न होते इन मंगोल, तातार तथा तुर्क जातियों का अग्रसर होना तो एक ओर रहा, उलटे इन्हीं को आक्रमण द्वारा पराजित कर पश्चिम की ओर से ईसाई धर्मानुयायी रूस तथा पूर्व से बौद्ध मतावलंबीय चीन दोनों ही पीछे हटा हटाकर अपने अधीन कर रहे थे।

समस्त सतरहवीं शताब्दी में कॉसक जाति यूरोपीय रूस से निकलकर पूर्व दिशा में जहाँ कहीं खेती का सुभीता देखती वहीं पड़ाव डाल देती थी। इन पड़ावों के दक्षिण ओर तो ऐसी गढ़-पंक्तियों तथा सैनिक चौकियों का आयोजन किया गया जो निरंतर आगे ही आगे बढ़कर साहसी एवं बलिष्ठ तुर्कों को रोकती थीं। उत्तर-पूर्वीय कोण में प्रशांत महासागर पर्यंत रूस को कोई भी उचित सीमा न मिली।

---

(५४)

अमेरिका का स्वातंत्र्य-युद्ध

अठारहवीं शताब्दी के तृतीय पाद में यूरोप में आंतरिक विभिन्नता का ऐसा अद्भुत एवं अस्थायी दृश्य उपस्थित हो गया था जो ऐक्य स्थापित करनेवाले राजनैतिक एवं धार्मिक विचारों से सर्वथा शून्य था। मुद्रित पुस्तकों, मानचित्रों तथा अवसर पा समुद्र चीरकर जानेवाले जहाज़ों द्वारा विचारों में स्फूर्ति उत्पन्न हो जाने के कारण अव्यवस्थित रूप से पारस्परिक विरोध होने पर भी वह संसार के समस्त समुद्र-तटों पर अपना ही अधिकार जमा बैठे। शेष जाति पर आकस्मिक एवं अस्थायी विशेषताएँ प्राप्त होने के कारण ही यह कल्पना-हीन एवं असंगत फेनवत् उत्साह सफल हुआ था। इन्हीं विशेषताओं के कारण पश्चिमीय यूरोपीय जातियाँ नवीन परंतु शून्यप्राय अमेरिका महाद्वीप में प्रधानतया बस गई थीं और इन्हीं हेतुओं से दक्षिणीय ऑस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड के क्षेत्रफल तक यूरोप की भावी जनता के लिए वासस्थान निर्धारित कर दिये गये।

कोलम्बस के अमेरिका तथा वासको-द-गामा के भारत जाने का हेतु व्यवसायोन्नति था जो आदि काल से ही सर्वदा प्रत्येक समुद्रगामी के हृदय में रहता है। परंतु पूर्व की ओर जन-संख्या तथा उपज के आधिक्य के कारण, यूरोपीय जातियों का लक्ष्य व्यापार ही की ओर रहा और तद्देशीय यूरोपियन-उपनिवेश व्यापारी कोठियाँ मात्र ही थे, जहाँ से यूरोपनिवासी ख़ूब धनोपार्जन कर स्वदेश लौट मुक्तहस्त से खर्च करने की आशा रखते थे। परंतु अमेरिका की दशा ऐसी न थी। यहाँ उनका वास्ता ऐसी जातियों से था, जिनकी अर्थोत्पादक शक्तियाँ अपेक्षतया क्षीण थीं अतएव, सोना-चाँदी खोजने की लालसा ने इन गोरी जातियों के हृदय में उस देश में रहने की चाह और दृढ़ कर दी। चाँदी विशेषतया स्पेनिश अमेरिका की खानों में निकलती थी। यूरोपीय जातियों को, न केवल शस्त्रास्त्र से सुसज्जित व्यापारी की भाँति वरन् माणिक-खोजी, खनिक एवं प्राकृतिक पदार्थों के खोजक के रूप में और धीरे-धीरे बाग़बानी के व्यवसाय के

लिए भी अमेरिका महाद्वीप में जाना पड़ा था। उत्तरीय भागों में ये लोग पशु-लोम ढूँढ़ते थे। खान खोदने तथा खेती-बाड़ी करने के लिए वस्तों की आवश्यकता होने के कारण लोगों ने विवश होकर समुद्र-पार देशों में घर बनवाकर स्थायी रूप से रहना प्रारंभ कर दिया था। अंत में कुछ दशाओं को छोड़कर—जब कि प्यूरिटैन (Puritans) नामक समुदाय के अनुयायी सतरहवीं शताब्दी के अंत में धार्मिक उत्पीड़न से बचने के लिए, न्यू इँगलैंड नामक प्रान्त में जाकर बसे थे या ओगल थॉर्प द्वारा ऋणी अँगरेज़-बंदी जॉर्जिया नामक प्रांत में भेजे गये थे या अठारहवीं शताब्दी के अंत में डच लोगों ने अनाथों को केप ऑव गुडहोप नामक अफ्रीका के अंतरीप में भेज दिया था—शेष समस्त यूरोपीय जातियाँ सदा के लिए समुद्र-पार कर नवीन वास-स्थानों की खोज में ही वहाँ गई थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में—और विशेषतया, भाप द्वारा चलनेवाले जहाज़ों के चलने के उपरांत—तो यूरोपीय जातियाँ दशों वर्ष तक अमेरिका और आस्ट्रेलिया के जन-शून्य नवीन भूभागों के लिए इतनी अधिक संख्या में गईं कि उनका यह कार्य महान् देशान्तर-गमन (Migration) प्रतीत होता है।

यूरोपीय जातियों ने इस प्रकार बढ़कर समुद्रपार देशों में स्थायी रूप से बस्तियाँ बसाईं और स्थानांतरित हो यूरोपीय संस्कृति भी वहाँ पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत क्षेत्र में प्ररोहित हो गई। पूर्वोपस्थित सभ्यता को अपने साथ लानेवाली ये नवीन जातियाँ भी इन नवीन भूभागों में योजनाहीन एवं अज्ञात रूप से बढ़ने लगीं, जिनका पूर्व-ज्ञान यूरोपियन राजनीतिज्ञों को न था। और इनके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए इसके लिए भी वे लोग तैयार न थे। अपनी इन प्रजाओं के हृदयों में स्वतंत्रता एवं पृथक् सामाजिक जीवन के उत्कट भाव उत्पन्न होने के पश्चात् भी बहुत समय पर्यंत यूरोप के राजनीतिज्ञ और मंत्रिगण इनको केवल व्यवसायियों की संस्था, धन-प्राप्ति के स्रोत और अपने भोग्य एवं अधीन देश ही समझते रहे। अन्तरदेश (Inland) में बस जाने के कारण जब इन लोगों को समुद्र-द्वारा प्रभावोत्पादक रीति से दंड देना अशक्य हो गया था तो उस समय के बहुत काल पश्चात् भी इनके साथ मातृभूमि की सहायहीन प्रजा की भाँति ही व्यवहार होता रहा।

यह बात स्मरण रखने योग्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी का अधिकांश बीत जाने तक, समुद्र-पार के साम्राज्यों से संबंध स्थापित रखने के लिए एकमात्र साधन, पालों द्वारा चलनेवाले जहाज़ ही थे। और स्थल पर सबसे अधिक शीघ्रगामी यान घोड़ा था। स्थल पर राजनैतिक संस्थाओं का एकीकरण और संयोग उस समय घोड़े की क्षुद्र आवागमन-शक्ति तक ही परिमित था।

अठारहवीं शताब्दी के तृतीय चरण के अंत में उत्तरीय अमेरिका का दो तिहाई उत्तरीय अंश बृटिश राज्य-मुकुट के अधीन था। फ्रांस ने यह महाद्वीप छोड़ दिया था। और पुर्त्तगाल-अधीन ब्राज़ील प्रदेश एवं फ्रेंच, बृटिश, डैनिश और डच सरकारों के कतिपय छोटे-छोटे द्वीपों और भूभागों के अतिरिक्त फ्लौरिडा, ल्यूशियाना, कैलिफ़ोरनिया और अमेरिका का समस्त दक्षिणीय भाग इस समय स्पेन ही की अधीनता में था। परंतु यह बात सर्वप्रथम मेन तथा औनटेरियो नामक झील के दक्षिण ओर बसे हुए बृटिश-उपनिवेशों द्वारा ही सिद्ध हुई कि समुद्र-पार की इन बस्तियों को उड़ते एवं फड़फड़ाते बादबानों के बल पर चलनेवाले जहाज़ों के आधार पर एक ही राजनैतिक संस्था से संबद्ध रखना अशक्य था।


जार्ज वाशिंगटन

बृटिश (अर्थात् अँगरेज़ सरकार के) उपनिवेशों की उत्पत्ति एवं प्रकृति विविध प्रकार की थीं। एक तो इनमें अँगरेज़, फ्रेंच, स्वीड (स्वीडन के रहनेवाले) और डचों की बस्तियाँ थीं, दूसरे मेरीलैंड के अँगरेज़ यदि कैथोलिक पंथानुयायी थे तो न्यू इँगलैंड में रहनेवाली बृटिश जनसंख्या कट्टर प्रोटेस्टैंट थी। और यदि न्यू इँगलैंडवाले स्वयं अपने हाथों से खेती करते थे, तो वरजीनिया तथा दक्षिण ओर के अँगरेज़ वाटिकेश्वर (Planters) के और अन्यदेशीय हबशी दासों को अधिकाधिक संख्या में मोल लेकर उन्हीं के द्वारा कार्य-संपादन करते थे। इन विविध राज्यों में तनिक सी भी नैसर्गिक एकता न थी। यहाँ तक कि तटस्थ 'समुद्र-मार्ग' के द्वारा एक राज्य से दूसरे राज्य में जाना एटलांटिक पार करने से कम कष्टदायक न था। परन्तु विभिन्नताओं, एवं नैसर्गिक हेतुओं के कारण एकता न होते हुए भी, इन

अमेरिका-निवासी अँगरेज़ों को लंदन की बृटिश-गवर्नमेंट ने स्वार्थ तथा मूर्खतावश, अंधा होकर, अंत में, ऐक्य स्थापित करने को विवश कर दिया। उन पर टैक्स या कर तो बाँधा जाता था परंतु उसके व्यय के समय उनकी सम्मति न ली जाती थी अर्थात् व्यय में उनका हाथ बिलकुल न था। उनके व्यापार का बलिदान बृटिश-गवर्नमेंट की स्वार्थ-सिद्धिरूपी वेदी पर किया जाता था।



बंकर हिल की लड़ाई (बोस्टन के समीप)

वरजीनिया-निवासियों के तीव्र प्रतिवाद करने पर भी—जो दास-व्यापार से सहमत न होते हुए भी कृष्ण वर्बरों की संख्या अधिक हो जाने के भय से इस (दास-) प्रथा का विरोध कर रहे थे—अँगरेज़ी सरकार ने अत्यन्त लाभदायक 'दास व्यापार' को जारी रखा।

इँगलैंड का झुकाव उस समय एक तो वैसे ही घोर स्वच्छन्द राज-शासन की ओर हो रहा था, उस पर हठीले सम्राट् तृतीय जॉर्ज (१७६०-१८२०) के व्यक्तित्व ने मातृ-भूमि एवं उपनिवेश-सरकारों के बीच इस युद्ध में और भी अधिक जलती हुई अग्नि में घृत का काम किया।

अमेरिकन जहाज़ियों को हानि पहुँचाकर लंदन की ईस्ट इंडिया कंपनी को लाभ पहुँचाने की नीयत से क़ानून बनाते ही यह विरोधाग्नि और भी शीघ्रता से भड़क उठी। और नवीन नियमानुसार जब चाय से लदे हुए तीन जहाज़ देश में आये तो उनका सब माल इंडियन का छद्म-वेश धरनेवाले एक समुदाय ने बोस्टन के बंदरस्थान (पट्टन) में समुद्र के अर्पण कर दिया (१७७३)। परन्तु लड़ाई वास्तव में १७७५ में प्रारंभ हुई जब बोस्टन के निकट लैक्सिंगटन नामक स्थान में बृटिश सरकार ने दो अमेरिकन नेताओं को पकड़ने का प्रयत्न किया था। लैक्सिंगटन में गोली का वार सर्वप्रथम अँगरेज़ों द्वारा ही हुआ और पहला युद्ध कनकॉर्ड नामक स्थान में छिड़ा।

इस प्रकार अमेरिका का स्वातंत्र्य-युद्ध प्रारंभ हुआ परन्तु इस पर भी एक वर्ष से अधिक समय बीत जाने तक उपनिवेशों में बसनेवाले लोग मातृभूमि से नाता तोड़ने के सर्वथा विरोधी थे। १७७६ का आधा भाग बीत जाने के उपरांत ही विद्रोही राज्यों की कांग्रेस ने स्वतंत्रता की घोषणा की थी और तत्कालीन अन्य प्रवासी नेताओं के समान फ्रांस-विरोधी युद्धों में रण-विद्या की शिक्षा प्राप्त करनेवाले जॉर्ज वाशिंगटन सेनानायक बनाये गये। १७७७ में बृटिश जैनेरल बरगोयन को, कैनेडा से न्यूयॉर्क पहुँचने का प्रयत्न करते हुए, फ्रीमैंस फ़ार्म नामक स्थान में हारकर विवश हो सैराटोगा में आत्म-समर्पण करना पड़ा। इसी वर्ष फ्रेंच तथा स्पेनिश सरकारों से युद्ध छिड़ जाने के कारण, ब्रिटेन को समुद्र की राह आने-जाने में अत्यन्त रुकावटें हुईं। फिर १७८१ में जैनेरल कॉर्नवालिस की अध्यक्षता में एक अन्य ब्रिटिश सेना को वरजीनिया के यॉर्क-टाउन प्रायद्वीप में विवश होकर आत्म-समर्पण करना पड़ा। अन्त में पेरिस नगर की संधि के अनुसार मेन से लेकर जॉर्जिया पर्यन्त तेरह उपनिवेश 'संयुक्त-स्वाधीन-राज्य' निर्धारित कर दिये गये (१७८३)। इस प्रकार इतिहास में अमेरिका के संयुक्त-राज्य का प्रारंभ हुआ। परन्तु कैनेडा पूर्ववत् ब्रिटिश पताका के नीचे ही रहा।

इन राज्यों के संयोजन के नियम कुछ ऐसे थे कि चार वर्ष तक इनका केन्द्रस्थ शासन अत्यंत ही क्षीण रहा। और भविष्य में इनका पृथक् हो स्वतंत्र होना निर्धारित सा था, परंतु ब्रिटेन के विद्वेष तथा फ्रांस के आक्रमण पर उतारू होने के कारण इनका पृथक्करण कुछ काल के लिए स्थगित रहा और यह भले प्रकार ज्ञात हो गया कि पृथक् होना कैसा प्रत्यक्षतया भयदायक है। अतएव नई व्यवस्था तैयार की गई और १७८८ में उसकी स्वीकृति हो जाने पर एक ऐसा अधिक कार्योपयुक्त संयुक्त शासन तैयार किया गया जिसमें प्रेसीडेंट को बहुत अधिक अधिकार प्रदान किये गये थे। जातीय ऐक्य के संबंध में जो थोड़ी बहुत निर्बलता

रह गई थी वह १८१२ के द्वितीय अंगरेज़ युद्ध द्वारा जाती रही। इन राज्यों का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत और इनके स्वार्थ इतने अधिक भिन्न थे कि आवागमन के साधन यदि पूर्ववत् बने रहते तो यह निश्चित था कि यूरोपीय राज्यों की भाँति ये भी निकट भविष्य में पृथक् हो स्वतंत्र हो जाते। सैनेट के सभासदों तथा कांग्रेसियों को दूर के ज़िलों से वाशिंगटन पहुँचने के लिए अत्यंत ही लम्बी, भयावह एवं श्रमपूर्ण यात्रा करनी पड़ती थी। उस समय सार्वजनिक शिक्षा एवं साहित्य तथा मस्तिष्क-विकास के साधनों की राह में अलंघनीय अड़चनों की भरमार थी। परंतु इन भेदकारक प्रवृत्तियों की गति रोकने के लिए संसार में कुछ और शक्तियाँ भी कार्य कर रही थीं। शीघ्र ही नदियों में भाप-संचालित नावें चलने लगीं और फिर रेलगाड़ी तथा बिजली के तार के आविष्कार ने अमेरिका के संयुक्त राज्यों को विभाजित होने से बचाकर, वहाँ की छिन्न भिन्न जातियों को पुनः संगठित कर आधुनिक जातियों में अग्रणी बना दिया।

अमेरिका के स्पेनिश उपनिवेशों ने भी बाईस वर्ष पश्चात् उपर्युक्त तेरह राज्यों का अनुकरण कर यूरोप से नाता तोड़ दिया। परंतु पर्वत-श्रेणी, मरुस्थल, घोर वन तथा पुर्तगाल-अधीन ब्राज़ील-साम्राज्य द्वारा एक दूसरे से पृथक् होने के कारण उस महाद्वीप पर फैले हुए ये राज्य आपस में वैसा मेल न कर सके। तारक-समूह-सम इन प्रजातंत्र राज्यों में क्रांति एवं पारस्परिक युद्ध-प्रवृत्ति सदा बनी रहती थी।

ब्राज़ील ने पृथक् होने के लिए एक नया रास्ता निकाला। १८०७ में जब नैपो-लियन की फ्रैंच सेना ने पुर्त्तगाल देश पर अपना अधिकार जा जमाया तो तद्देशीय राज्य-शासन (Monarchy) ब्राज़ील की ओर पलायन कर गया। इस समय से लेकर उनके संपूर्णतया पृथक् होने तक ब्राज़ील को पुर्त्तगाल के अधीन न कहकर पुर्त्तगाल ही को ब्राज़ील के अधीन कहना अधिक उपयुक्त होगा। फिर १८२२ में पुर्त्तगाल-नरेश के एक पुत्र पैडरो प्रथम की अधीनता में ब्राज़ील का भी स्वतंत्र साम्राज्य बन गया। परंतु इस नवीन संसार की भूमि तो राज्य-शासन-रूपी वृक्ष के लिए कभी उपयुक्त ही न थी। निष्कर्ष यह हुआ कि १८८९ में सम्राट् को चुपके से समुद्र द्वारा यूरोप भेज ब्राज़ील भी शेष अमेरिका की भाँति प्रजातंत्र राज्य हो गया।

(५५)

फ्रांस में क्रांति और राज्य-शासन की पुनःस्थापना

इँगलिस्तान के हाथों से अमेरिका के इन तेरह उपनिवेशों को निकले हुए कुछ भी समय न बीता था कि महान् स्वच्छन्द राज्य-शासन के केन्द्र (अर्थात् फ्रांस) ही में एक ऐसा गहरा सामाजिक और राजनैतिक क्षोभ उत्पन्न हुआ कि जिसने संसार के राजनैतिक विधानों की निपट क्षणभंगुरता का यूरोप को अत्यंत स्पष्टतया पुनः स्मरण करा दिया।

हम अभी बता चुके हैं कि यूरोप के व्यक्तिगत स्वच्छन्द राज-शासनों में फ्रांस के राज-शासन ने ही सबसे अधिक सफलता प्राप्त की थी। बहुत से छोटे-छोटे प्रतिस्पर्धी दरबारों का फ्रांस ही स्पृहणीय आदर्श था। परंतु उसकी वृद्धि अन्याय पर थी, इस कारण उसका नाटक के समान सहसा अंत हो गया। उसकी दीप्ति एवं आक्रमण-शक्ति दोनों ही में धन एवं प्राण की आहुतियाँ पड़ रही थीं। विशेष विधि-विधानों के कारण पादरी तथा उच्चकुलाभिभूत वर्ग करों से सर्वथा मुक्त थे और शासन का सारा भार मध्य-वर्ग तथा निम्न श्रेणी की जनता को उठाना पड़ता था। बेचारे किसान करों के बोझ से दबे जाते थे; और मध्यवर्ग, शिष्ट-समाज द्वारा दलित एवं अपमानित किया जाता था।

फ्रांस का यह स्वच्छन्द राज-शासन १७८७ में दिवालिया हो गया, और उसने विवश हो राज्य की न्यून आय और अधिक व्यय संबंधी आकुलता के निवारण पर विचार-विमर्श करने के लिए भिन्न-भिन्न वर्गीय प्रतिनिधियों को बुलाया। प्राचीन बृटिश पार्लियामेंट के अनुरूप, सरदारों पादरियों और जनसाधारण की 'स्टेटस-जैनरल' नामक इस सभा की बैठक भी १७८९ में वरसाई में की गई। सन् १६१० से इसकी एक भी बैठक न होने के कारण फ्रांस में राजाओं का अब तक स्वच्छन्द व्यक्तिगत शासन-चक्र ही चल रहा था। हृदयों में भरे हुए वर्षों के पुराने घोर असंतोषोद्गारों को प्रकट करने का लोगों ने अब यह अच्छा अवसर देखा। तृतीय वर्ग अर्थात् जनसाधारण के प्रतिनिधियों के यह निश्चय करते ही कि भविष्य में परिषद् (Assembly) का नियंत्रण उन्हीं के

हाथों में रहेगा—तीनों वर्गों (Estate) में कलह उत्पन्न हो गया। परंतु इन झगड़ों में जीत जनता ही की हुई। स्टेट्स जेनरल अब जातीय परिषद् हो गया; और उसने वृटिश पालियामेंट की भाँति राज्य-शासन पर नियमित रूप से नियंत्रण करने का प्रकट रूप से निश्चय कर लिया। यह देख प्रान्तों से सेना बुलाकर जब सम्राट् सोलहवें लुई ने झगड़ा ठाना तो पेरिस और फ्रांस (अर्थात् देश) विद्रोही हो गये।

फ्रांस के स्वच्छन्द राज्य-शासन का अत्यंत शीघ्रता-पूर्वक अंत हो गया पेरिस की जनता ने वेस्टील के घोराकृतीय बंदीगृह का, धावा बोलकर, विध्वंस कर डाला और विद्रोहानल अत्यंत शीघ्रता से समस्त फ्रांस में फैल गया। किसानों ने पूर्वीय तथा उत्तर-पश्चिमीय प्रान्तों में विशिष्ट-कुलाभिभूत व्यक्तियों के बहुत से प्रासादों में आग लगा दी और आगम-पत्रों को दक्षतापूर्वक विनष्ट कर मालिकों को या तो मार डाला या वहाँ से निकाल बाहर किया। इस प्रकार प्राचीन परंतु घुनी हुई उच्चकुलाभिभूत शासन-विधि का एक मास में ही अंत हो गया। सम्राज्ञी के पक्ष के बहुत से प्रमुख राजकुमार और दरबारी परदेशों को भाग गये। पेरिस तथा अन्य बहुत से बड़े-बड़े नगरों में नागरिक शासन स्थापित कर दिये गये। इन नागरिक सभाओं ने स्पष्ट रूप से सम्राट्-सैन्य का सामना करने के लिए ही नागरिकों की नेशनल-गार्ड नामधारी एक नवीन सशस्त्र सेना बनानी प्रारंभ कर दी। अब नेशनल असेम्बली अर्थात् जातीय परिषद् को इस नवयुग के लिए एक नूतन सामाजिक एवं 'राजनैतिक शासन-विधि के स्थापित करने की भी आवश्यकता प्रतीत हुई।

इस कार्य-संपादन में उपरोक्त परिषद् की शक्तियों की पूर्ण परीक्षा हो गई। स्वच्छन्द राज्य-व्यवस्था के अन्यायों को समूल उखाड़कर फेंक दिया गया। कर-मुक्ति और दास्यता, शिष्ट-वर्गीय उपाधियाँ और विशेषाधिकार सभी को उड़ाकर पेरिस में नियमित राज्य-शासन स्थापित करने की चेष्टा की गई। वरसाई और वहाँ की विभूतियों का परित्याग कर सम्राट् इस समय पेरिस के टुइलैरिये नामक स्थान में बने हुए प्रासाद में अल्प-राज्याधिकार-युक्त होकर रहने लगा था।

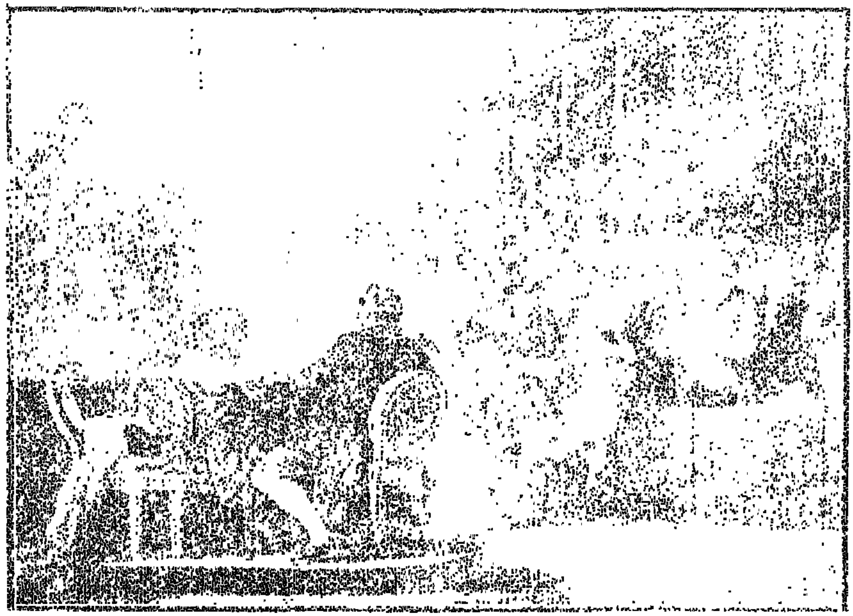
दो वर्ष तो तक यही प्रतीत होता रहा कि जातीय परिषद् प्रयत्न कर नवीन शासन को संभवतः सफल बनाकर ही रहेगी। उसका बहुत सा कृत्य निर्दोष था और आज तक स्थित है। क्या हुआ यदि उसका बहुत सा भाग प्रयोगात्मक था और उलट दिया गया और बहुत सा अप्रभावकारी सिद्ध हुआ। दंड-विधान का संशोधन किया गया; अंग-पीड़न, अन्याय से क़ैद करना, तथा नास्तिकता के कारण दंडनीय होना, बंद कर दिया गया। नॉरमंडी, बरगंडी इत्यादि फ्रांस के प्राचीन प्रांतों के स्थान में अस्सी विभाग

स्थापित किये गये और सेना के उच्च पदों का द्वार भी प्रत्येक वर्ग के पुरुष के लिए एक सा खोल दिया गया। न्यायालय के विधान सुंदर और सरल कर दिये गये, परंतु जन-साधारण द्वारा न्यायाधीशों का थोड़े काल के लिए निर्वाचन होने के कारण इसका महत्त्व बहुत कुछ घट गया था। जन-समूह ही अब एक प्रकार से अंतिम न्यायालय बन गया था; और जातीय परिषद् के सभासदों की भाँति न्याय-पतियों को भी जनसाधारण को प्रसन्न रखना पड़ता था। चर्च की अमित संपदा का राज्य द्वारा अपहरण (ज़ब्ती) हो जाने के कारण उसका प्रबन्ध तथा शासन राज्य द्वारा ही होता था। दान अथवा शिक्षा न देने-वाली धार्मिक संस्थाएँ बंद कर दी गईं, पादरियों के वेतन का भार जनता पर डाल दिया गया; और जहाँ तक निम्न पादरियों का संबंध था वहाँ तक तो इस बात में कुछ दोष न था क्योंकि उच्चपदस्थ धनी अधिकारियों की अपेक्षा वे निंदनीय रूप से अल्प-वेतनभोगी थे। परंतु अब पादरी और विशप इत्यादि की नियुक्ति भी निर्वाचन द्वारा होने लगी जिसके कारण रोमन चर्च के इस सिद्धांत की जड़ पर कुठाराघात हुआ कि छोटे से लेकर बड़े बड़े कार्यों तक को पोप ही के आज्ञानुसार करना चाहिए। बात वास्तव में यह थी कि जातीय परिषद् यदि सिद्धांत में नहीं तो संगठन के रूप से ही फ्रांस के चर्च को एक ही धक्के में प्रोटेस्टेंट बनाया चाहती थी। फल यह हुआ कि उसके नियुक्त किये हुए राष्ट्र-पुरोहितों और उनके विद्वेषी रोम-भक्ति की शपथ लेनेवाले पुरोहितों के मध्य सर्वत्र ही झगड़े-टंटे हो गये।

महाराजा और महारानी ने व्यक्तिगत शासनानुयायी विदेशियों तथा उच्चकुलाभि-भूत व्यक्तियों से ज्यों ही परामर्श किया, त्योंही १७९१ में फ्रांस के नियमित शासन-प्रयोग का अंत हो गया। विदेशी सेना इस समय पूर्वीय सीमा पर डटी खड़ी थी। महाराजा तथा महारानी एक दिन सकुटुम्ब चुपके से जून मास की रात्रि में टुइलैरिये नामक स्थान से निकलकर इन विदेशियों तथा उच्चकुलाभिभूत निर्वासित मित्रों से मिलने के लिए भाग पड़े; परंतु वैरन्ने नामक स्थान ही में पकड़े जाकर पुनः पेरिस लाये गये। समस्त फ्रांस के हृदय में इस समय देश-प्रेम तथा प्रजातंत्र की प्रचंड अग्नि-ज्वाला भड़क उठी। (बस फिर क्या देर थी।) प्रजातंत्र घोषित कर दिया गया। ऑस्ट्रिया और प्रुशिया से युद्ध ठान दिया और प्रजा के विरुद्ध विद्रोह का अभियोग लगाकर इँगलैंड का आदर्श सामने रखते हुए महाराजा को प्राण-दंड दे दिया गया (जनवरी १७९३)।

फ्रांसीसियों के इतिहास में अब एक नवीन परंतु अद्‌भुत दृश्य उपस्थित हुआ। फ्रांस और प्रजातंत्र के लिए उत्साह-अग्नि की अत्यंत ही ऊँची लपटें उठ रही थीं। देश में अथवा विदेश में सर्वत्र ही अब समझौतों के लिए कोई स्थान न था। राजपक्ष एवं

प्रत्येक प्रकार के राजद्रोह का दमन करना ही देश की आंतरिक नीति थी, और देश के बाहर समस्त क्रांतिकारियों की रक्षा एवं सहायता करना अब फ्रांस का कर्तव्य था। अब तो यूरोप ही को नहीं वरन् समस्त भूमंडल को प्रजातंत्रवादी होना था। सेनाओं में फ्रांस के युवा धड़ाधड़ भरती हो रहे थे, एक नवीन एवं अद्भुत गीत भी इसी समय समस्त देश में प्रचलित हो गया था। वह मार्सेलाई के नाम का प्रसिद्ध गायन आज भी हमारे रुधिर की नसों के भीतर मदिरापान के समान उद्वेजित करता है। इस संगीत की ध्वनि तथा



लुई सोलहवें के मामले पर विचार

छलाँग मारनेवाली पंक्ति-बद्ध फ्रेंच संगीनों एवं उत्साहपूर्वक चलाई हुई उनकी तोपों के सम्मुख विदेशी सेनाएँ भाग खड़ी हुईं। चौदहवाँ लुई भी जहाँ तक न पहुँचा था उससे भी कहीं आगे फ्रांस की सेना १७९२ में जा पहुँची। चारों दिशाओं में उनके डेरे अब विदेश भूमि में ही गड़ गये। वे ब्रुसैल्स में जा पहुँचे; सैवॉय को उन्होंने लूट लिया, मेयन्स (Mayence) पर उनके आक्रमण हुए और शैल्ड (Scheldt) को उन्होंने हॉलैंड से छीन लिया। फ्रेंच सरकार ने तत्पश्चात् (फिर) एक बुद्धि-

हीनता का कृत्य किया, अर्थात् लुई के वध के उपरांत इँगलैंड से अपने प्रतिनिधि के निकाले जाते ही झुँझलाकर उस देश के विरुद्ध भी युद्ध घोषित कर दिया। उसका यह कार्य मूर्खतापूर्ण था। हेतु यह है कि क्रांति के कारण संकुचित नियमों और विशिष्टकुलाभिभूत उच्चपदस्थ कर्मचारियों के चंगुल से छूटते ही साहसी पैदल सैन्य और तेजस्वी तोपखाना तो फ्रांस का सर्वोच्च हो गया परंतु अवरोधकारी परिस्थितियों के कारण, नाविक (Navy) अनुशासन लुप्त हो गया था और समुद्र पर अँगरेज़ जाति ही सर्वे सर्वा थी। क्रांति की सहानुभूति में इससे पहले अत्यंत अधिकता से उदारभाव होते हुए भी, इस उत्तेजना के कारण अब समस्त इँगलैंड एक स्वर से फ्रांस का विरोधी हो गया।

सम्मिलित यूरोप के विरुद्ध फ्रांस किस भाँति अगले कुछ वर्षों तक युद्ध करता रहा, इसका विस्तृत विवरण हम यहाँ नहीं दे सकते। फ्रांस ने ही ऑस्ट्रिया को सदा के लिए बेलजियम से खदेड़ दिया और हॉलैंड में प्रजातंत्र स्थापित किया। हिम में जम जाने के कारण डच लोगों के जहाज़ी बेड़े ने तो टैक्सैल नामक स्थान में बिना तोप दागे हुए ही मुट्ठी भर फ्रेंच घुड़सवारों को आत्म-समर्पण कर दिया। फ्रांसीसियों का इटली की ओर का धावा अवश्य कुछ काल तक स्थगित रहा; उस ओर तो भूखी और चिथड़े पहिरे हुई प्रजातंत्र की सैन्य को जयघोष करते हुए नैपोलियन बोनापार्ट नामक एक नया जेनरल १७९८ में पीडमौंट के पार मान्टुआ और वैरोना तक ले जाने में समर्थ हुआ था। सी० एफ़० ऐटकिन्स* का कथन है कि "मित्र राज्यों को इन प्रजातंत्रवादियों की क्षुद्र संख्या और तीव्र गति ने अत्यंत आश्चर्य में डाल दिया था। देर लगानेवाली कोई वस्तु तो इन सहसा धावा बोलनेवाली प्रजातंत्र की सेनाओं के पास वास्तव में थी ही नहीं। धनाभाव के कारण एक तो डेरों का मिलना ही सुलभ न था, दूसरे गाड़ियों की पर्याप्त संख्या न होने के कारण उनका ले जाना संभव न था और न उनकी कुछ आवश्यकता ही थी। क्योंकि जिन कष्टों के कारण अन्य व्यवसायी सेनाएँ रण-मैदान छोड़कर भाग जातीं उनको ये सहर्ष सहन कर लेते थे (१७९३–९४)। ऐसी अश्रुतपूर्व परिमाण की सैन्य के लिए रसद एवं अनुचरादिक का ले जाना अशक्य होने के कारण फ्रांसीसियों ने आक्रमित देश की वस्तुओं से ही निर्वाह करने की विधि को अत्यंत अल्पकाल में सीख लिया था। इस प्रकार कपटोपाय, व्यवसायियों की क्षुद्र सेनाएँ, डेरे तम्बू, पर्याप्त रसद की योजना और मंद व्यपदेश के स्थान में सैन्य की द्रुत गति, जातीय बल का पूर्ण विकास, खुले हुए मैदानों

---

* इनसाइक्लोपीडिया (विश्वकोष) में दिये हुए फ्रांसीसी क्रांति के युद्ध शीर्षक लेख को देखिए।

में डेरे इत्यादि के बिना शिविर की स्थापना, शत्रु-देश में भोज्य पदार्थों का बलपूर्वक अपहरण, और बल-निदर्शन इत्यादि आधुनिक रणनीति-पद्धति का १७९३ में अभ्युदय हुआ। उपरोक्त दोनों नीतियों में से, प्रथम में यदि क्षुद्र हानि सहन कर किंचित् लाभ की संभावना थी तो दूसरी निश्चयों को दृढ़ करनेवाले भाव की द्योतक थी।"

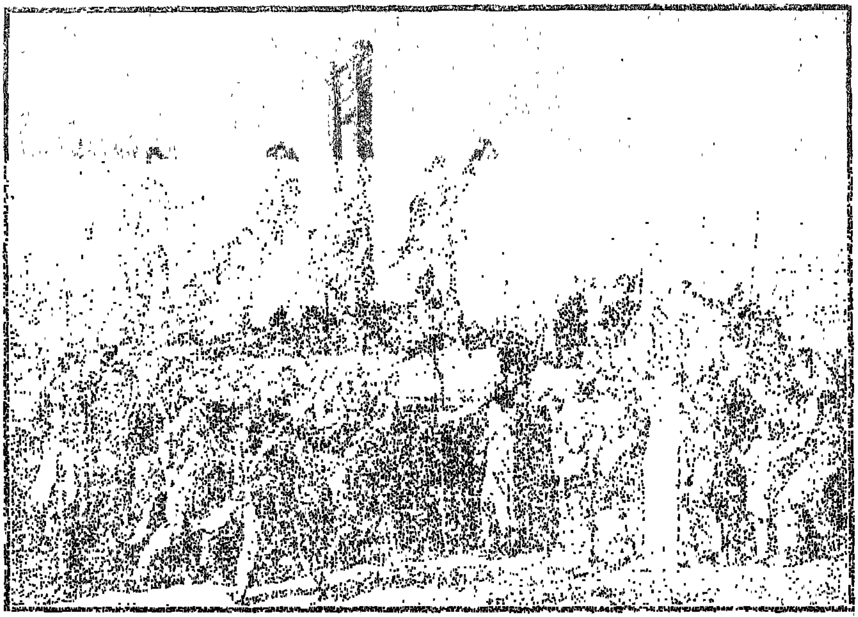
परंतु चिथड़े पहिरे ये साहसी योद्धा—स्पष्टतया बिना विचारे हुए कि आक्रमण द्वारा वे किसी देश को लूटने जा रहे थे या उसका उद्धार करने के लिए—जिस समय 'मारसेइ-लाइस' गीत को गा-गाकर अपने देश फ्रांस के लिए युद्ध कर रहे थे उसी समय पेरिस के प्रजातंत्रीय उत्साह का असराहनीय रूप से अपव्यय हो रहा था। क्रांति की डोर इस समय रॉब्सपियर नामक एक उन्मत्त व्यक्ति के हाथ में थी। इस व्यक्ति को समझना एक कठिन कार्य है; इसकी देह दुर्बल थी और यह स्वभाव से भीरु एवं दंभी था; परंतु प्रयोगात्मक शक्ति के लिए जिस साधन की आवश्यकता थी वह—दृढ़ विश्वास—इसमें कूट-कूटकर भरा हुआ था। अपनी कल्पना के अनुसार प्रजातंत्र की रक्षा के लिए यह व्यक्ति अब खड़ा हो गया और इसकी यह धारणा थी कि मेरे सिवा कोई अन्य पुरुष प्रजातंत्र की रक्षा ही नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि रॉब्सपियर का बल अक्षुण्ण बने रहने पर ही प्रजातंत्र की रक्षा हो सकती थी। ऐसा प्रतीत होता था कि राजा तथा उसके पक्षवालों का वध ही प्रजातंत्र के प्राण-संचारण का कारण था। वह विद्रोहों का समय था। फ़ौजों की लाज़िमी भरती करने तथा सनातन पादरियों के अधिकार छिनने के कारण पश्चिम की ओर के लावैन्दि नामक ज़िले की जनता ने भद्र लोगों एवं पादरियों के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया था। दक्षिण में ल्यआँ (Lyons) और मारसेलाइ (Marseilles) नामक नगर विद्रोही हो गये थे; और टौलों (Toulon) नामक नगर के रहनेवाले राजपक्ष-वालों ने एक अँगरेज़ी और एक स्पेनिश सेना देश के भीतर घुसा ली थी। अतएव लोगों की बुद्धि में राजपक्षवालों का शिरश्छेदन ही इन सब का यथेष्ट प्रतीकार था।

क्रांतिकारी दल के न्यायालयों का कार्य प्रारंभ होते ही स्थिर रूप से जन-संहार होने लगा। ऐसी दशा में गिलोटीन* का आविष्कार भी यथासमय हुआ था। महारानी

---

* सिर काटने का यंत्र-विशेष जिसमें दो स्तम्भ एक दूसरे के सम्मुख लगाये जाते थे और इन दोनों पर एक तेज़ धार का, ऊपर-नीचे खिसकनेवाला, छुरा लगा रहता था। दोनों खंभों के बीच में बध्य प्राणी का सिर टेक दिया जाता था और सिर बोझ के कारण ऊपर से छुरा गिरते ही उसकी गर्दन देह से पृथक् हो जाती थी।

इसी गिलोटीन की भेंट हुई, रॉब्सपियर के बहुत से विरोधियों को भी यही प्रसाद मिला। ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता में विश्वास न रखनेवाले नास्तिकों के सिर भी इसी के द्वारा काटे गये। आये दिन लोगों को काटने पर भी इस नारकीय यंत्र का पेट न भरता था और दिन प्रतिदिन अधिकाधिक सिरों की माँग बढ़ती जाती थी। रॉब्सपियर का शासन रुधिर के बल पर ही अवलंबित दीखता था और अफ़ीम खानेवाले की भाँति उसकी रुधिर-पिपासा अधिकाधिक मात्रा में बढ़ती जाती थी।



फ्रांस की रानी मेरी ऐएट्वायनेट का प्राण-दण्ड

अंत में १७९४ की ग्रीष्म ऋतु में स्वयं रॉब्सपियर भी पदच्युत हो गिलोटीन की भेंट चढ़ा दिया गया; और पाँच पुरुषों की 'डायरैक्टरी' (सभा-विशेष) स्थापित की गई जिसने पाँच वर्ष तक विदेशी आक्रमणों से रक्षा कर फ्रांस में ऐक्य स्थापित रखा। इस प्रबल परिवर्त्तनशील इतिहासाभिनय में यह शासन-काल भी एक विष्कम्भक के समान है। वस्तु-स्थिति के अनुकूल ही इन लोगों ने कार्य संपादन किया। क्रांतिकारियों के आंदोलन के उत्साह के कारण फ्रांसीसी सेनाएँ हालैंड, बेलजियम, स्विट्ज़रलैंड, दक्षिणीय

जर्मनी और इटैली के उत्तरीय लोगों तक जा पहुँचीं, और इन सब स्थानों में राजाओं को सिंहासन-च्युत कर प्रजातंत्र स्थापित किये गये। परंतु इन देशों पर आक्रमण कर जनता को स्वातंत्र्य देकर भी फ्रेंच सेनाएँ जब अपने देश का आर्थिक संकट दूर करने के लिए इन विजित देशों का धनापहरण करती थीं तो अपने सिद्धांतों के प्रचारोत्साह से ओतप्रोत ये डायरेक्टर भी उनको ऐसे कुकृत्यों से न रोकते थे। पवित्र स्वातंत्र्य-युद्धों के स्थान में ये युद्ध अब दिन प्रतिदिन परिवर्तित हो प्राचीन-शासन के आक्रमणों का रूप धारण कर रहे थे। फ्रांस के व्यक्तिगत महान् राज-शासन (Grand Monarchy) के वैदेशिक नीति रूपी अंतिम अवयव को देश छोड़ना चाहता था, परंतु डायरेक्टरी के शासन-काल में भी वह पूर्ववत् ज़ोर-शोर से चलती हुई दीख पड़ती है मानों कोई क्रांति ही नहीं हुई।

परंतु फ्रांस एवं संसार के दुर्भाग्य से अब एक ऐसे मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ जो फ्रांसीसियों के इस प्रचंड जातीय अहंकार का मूर्त्तिमान् स्वरूप था। इसने दस वर्ष तक जगमगाहट दिखा अंत में दर्प-चूर्णित फ्रांस को पराजय के अंधकार में डाल दिया। यह व्यक्ति वही नेपोलियन बोनापार्ट था जिसके नेतृत्व में डायरेक्टरी की फ्रेंच सेनाएँ ज़यघोष करती हुई इटली में घुसी थीं।

डायरेक्टरी के पंचवर्षीय शासन-काल में यह व्यक्ति अपनी उन्नति के प्रयत्न साधता रहा। अंत में धीरे धीरे कोशिश करके इसने सर्वोच्च अधिकार हस्तगत कर लिये। इस पुरुष की बुद्धि अत्यंत ही परिमित थी, परंतु यह दृढ़निश्चयी, क्रूरकर्मा एवं महान् स्फूर्तिवाला था। रॉब्सपियर के कट्टर मतानुयायी के रूप में इसके जीवन का प्रारंभ हुआ, और इस पक्ष का होने के कारण ही इसकी सर्वप्रथम पद-वृद्धि हुई। परंतु यूरोप में जो नवीन शक्तियाँ काम कर रही थीं, उनको यह व्यक्ति भली भाँति कभी न समझ सका। राजनैतिक वासनाओं की पराकाष्ठा उसको पश्चिमीय साम्राज्य के पुनरुत्थान के कालातीत मिथ्या शोभा-युक्त प्रयत्नों की ओर ले गई। प्राचीन पवित्र रोम-साम्राज्य के भग्नावशेषों के अस्तित्व को मिटाकर उनके स्थान में वह एक वैसा ही नवीन साम्राज्य पैरिस का केन्द्र बनाकर स्थापित करना चाहता था। वियेना (Vienna) का सम्राट् अब पवित्र रोम-सम्राट् न रहा; वह तो केवल ऑस्ट्रिया का सम्राट् था। ऑस्ट्रिया की राजकुमारी से विवाह करने की नीयत से नैपोलियन ने अपनी फ्रेंच पत्नी को तलाक़ दे दिया।

१७९९ में 'प्रथम-कौंसल' का पद प्राप्त कर वह फ्रांस का वास्तविक राजा बन गया और शार्लमेन का अनुसरण कर उसने प्रत्यक्ष रूप से १८०४ में फ्रांस के सम्राट् की उपाधि ग्रहण कर ली। उसका राज्याभिषेक करने स्वयं पोप पैरिस नगरी में आया और

उस समय ठीक शार्लमैन के आदेशानुसार उसने राजमुकुट पोप के हाथों से न लेकर स्वयं ही अपने शिर पर धारण कर लिया। इसका पुत्र भी रोम का अभिषिक्त राजा हुआ।

नेपोलियन का शासन कुछ वर्षों तक विजय का मूर्त्तिमान् स्वरूप था। प्राय: समस्त इटैली और स्पेन उसने जीत लिये; प्रुशिया और ऑस्ट्रिया को पराजित किया और रूस के पश्चिम ओर समस्त यूरोप में उसका बोलबाला था। परंतु इतना होने पर भी वह ऍंगरेज़ों से समुद्र-शासन न छीन सका; और प्रसिद्ध ऍंगरेज़ नौ-सेनापति नैलसन ने फ्रांसीसी जहाज़ी बेड़े को त्राफ़ालगर में (१८०५) बुरी तरह परास्त किया। उसके विरुद्ध स्पेन में विद्रोह हुआ (१८०८) और ऍंगरेज़ सेना ने वैलिंगटन की अध्यक्षता में धीरे धीरे प्राय: समस्त प्रायद्वीप से फ्रेंच सेना को उत्तर की ओर धकेल दिया। १८११ में रूस के ज़ार ऐलेक्ज़ैंडर प्रथम से युद्ध छिड़ जाने के कारण नैपोलियन ने छः लाख मिश्रित सेना ले रूस पर भी धावा बोल दिया था; परंतु इसमें बहुतों को तो रूसियों ने मार भगाया और बहुत से कठोर रूसी जाड़े के कारण ही परलोक चल बसे। जर्मनी अब उसके विरुद्ध खड़ा हो गया था और स्वीडन उसका विरोधी बन बैठा। अंत में फ़ौन-टेनब्लो नामक स्थान में फ्रांसीसी सैन्यदल हार गया और नैपोलियन ने १८१४ में सिंहासन त्याग दिया। उसको एलबा नामक द्वीप में निर्वासित कर दिया गया परंतु वहाँ से लौटकर जब उसने पुन: एक बार अंतिम प्रयत्न करना चाहा तो बृटिश, बेलजियन और प्रुशिया की संयुक्त सेनाओं ने उसको पुन: १८१५ में वाटरलू के मैदान में परास्त किया। अंत में ऍंगरेज़ों का बंदी बन उसने १८२१ में सेंट हैलेना नामक द्वीप में अपने प्राण त्यागे।

फ्रेंच-क्रांति के कारण जिन शक्तियों की उत्पत्ति हुई थी, अपव्यय होने के कारण, उन सभी का अब अंत हो गया। इस भयानक झंझावात के बीत जाने पर वियेना की महान् कांग्रेस में एकत्रित विजयी मित्रराज्यों ने पूर्व परिस्थिति के भग्नावशेषों को पुनः स्थापन करने का यत्न किया था और तदुपरांत चालीस वर्ष तक यूरोप में एक प्रकार की शांति भी रही; परंतु वह तो थका मारनेवाले परिश्रम और प्रयत्नों के पश्चात् हुई मृत्यु जैसी क्षीणता की शांति थी।

(५६)

नैपोलियन के अधःपतन के उपरांत यूरोप में विषम शांति

उस समय सामाजिक और अंतर्राष्ट्रीय शांति संपूर्णतया स्थापित न होने के दो प्रधान कारण थे, जिन्होंने (१८५४–१८७१) के मध्य युद्ध-चक्रों की गति के लिए मार्ग बना दिया। इनमें से एक कारण था प्रत्येक राज-दरबार की अनुचित राज्याधिकार प्राप्त करने की प्रवृत्ति तथा उसके द्वारा लेखन-शिक्षण एवं विचार-स्वातंत्र्य में व्यर्थ की रुकावट; और दूसरा था वियेना के राजनीतिज्ञों का देश-देश की सीमा निर्धारित करने की असंभव विधि।

व्यक्ति-शासित राज्यों की प्राचीन प्रथा और परिपाटी का अनुसरण करने की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति मुख्यतया स्पेन में सर्वप्रथम दृष्टिगोचर हुई थी। यहाँ तक कि वहाँ नास्तिकों को निर्दयता-पूर्वक दंड देनेवाले 'इनक्विज़िशन' नामक धार्मिक न्यायालय भी पुनः स्थापित हो गये। जिस समय नैपोलियन ने अपने भ्राता जोज़फ़ को १८१० में स्पेन की गद्दी पर बैठाया था उसी समय ऐटलांटिक पार के स्पेनिश उपनिवेशों ने संयुक्त-राज्यों का अनुसरण कर यूरोपीय महा शक्तिशाली राजप्रथा (Great-Power-System) के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया। जनरल बोलीवर ही तब दक्षिणीय अमेरिका का जार्ज वाशिंगटन था। स्पेन में उसके दबाने की शक्ति न होने के कारण संयुक्त-राज्य के स्वातंत्र्य-युद्ध की भाँति यह विद्रोह भी वर्षों तक चलता रहा; तदुपरांत ऑस्ट्रिया ने पवित्र मैत्री (Holy Alliance) के भावानुसार समस्त यूरोपियन नरनाथों से स्पेन की सहायता करने का प्रस्ताव किया। यूरोप में इसका विरोधी केवल ब्रिटेन था; परंतु संयुक्त राज्यों के प्रेसीडेंट मुनरो के तीव्र प्रतिवाद के कारण वहाँ पर व्यक्तिगत राज-शासन का यह प्रयत्न निश्चित रूप से विफल हो गया (१८२३)। प्रेसीडेंट महोदय ने यह घोषित कर दिया था कि यूरोपीय शासन-विधि का पश्चिमीय गोलार्ध में तनिक-सा भी प्रसार होने पर संयुक्त-राज्य उसको शत्रु-कार्य समझेगा। इस प्रकार प्रसिद्ध

'मोनरो-सिद्धांत' की सृष्टि हुई जिसके अनुसार अमेरिका में बाहर के किसी शासन का प्रसार नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि लगभग सौ वर्ष बीत जाने पर भी महान् शक्ति-शासन-विधान की जड़ वहाँ पर न जम पाई; और स्पैनिश अमेरिका के नवीन राज्य अपनी-अपनी विधि के अनुसार स्व-भाग्य-निर्माण में स्वतंत रहे।

इस प्रकार उपनिवेशों के निकल जाने पर स्पेन के व्यक्तिगत राज-शासन को यूरोपीय सम्मन्त्रण के होते हुए कम से कम यूरोप में तो सब कुछ मनचाहा करने का अधिकार प्राप्त था। स्पेन में सार्वजनिक विद्रोह खड़ा हो जाने पर यूरोपीय कांग्रेस के आदेशानुसार फ़्रांसीसी सेना ने उसको बुरी तरह कुचल दिया (१८२३) और इसी समय ऑस्ट्रिया ने भी नैपिल्स में विद्रोह का दमन किया था।

१८२४ में अठारहवें लुई की मृत्यु के उपरांत दशम चार्ल्स गद्दी पर बैठा। राजा होते ही इसने विश्वविद्यालयों और छापाख़ानों की स्वाधीनता छीन अनियमित शासन (Absolute Government) की नींव पुनः डालनी प्रारंभ की और १७८९ में सरदारों को निकालने तथा उनके प्रासाद जला डालने के क्षति-पूर्त्यर्थ दस लाख फ़्रैंक दिये जाने की आज्ञा दे दी। इस मूर्तिमान् प्राचीन शासन-विधि के विरुद्ध पेरिस-वासियों ने १८३० में विद्रोह कर लुई फ़िलिप को राजा बना दिया जो त्रास के समय बध किये जानेवाले ऑरलीन्स के ड्यूक फ़िलिप का पुत्र था। अन्य यूरोपीय राज्यों ने इँगलैंड को इस विद्रोह का प्रत्यक्ष समर्थक और जर्मनी तथा ऑस्ट्रिया को अत्यन्त उदारतया सहानुभूति करते देख इस मुआमिले में हस्तक्षेप न किया; क्योंकि फ़्रांस अंततोगत्वा राज-शासित देश तो बना रहा। लुई फ़िलिप अठारह वर्ष तक (१८३०–१८४८) फ़्रांस का वैध शासक रहा।

वियेना की कांग्रेस द्वारा स्थापित संधि की ये विषम प्रेरणाएँ शासनानुयायियों के उन्नति-विरोधी कार्यों द्वारा और भी उत्तेजित की जा रही थीं। वियेना (Vienna) के राजनीतिज्ञों द्वारा अवैज्ञानिक रीति से निर्धारित इन देश-सीमाओं से उत्पन्न यह उत्पीड़न अब जान-बूझकर अधिकाधिक ज़ोर पकड़ता जा रहा था। परन्तु यह उत्पीड़न मानव-जाति के लिए कहीं अधिक भयावह था। पृथक् भाषा-भाषी, अतएव पृथक् साहित्य पढ़ने तथा विभिन्न विचार रखनेवाली विविध जातियों को एक ही शासन-सूत्र में बाँधना अत्यन्त कठिन होता है और विशेषतया उस समय जब यह भेद धार्मिक झगड़ों और टंटों के द्वारा उत्तेजित हुए हों। भिन्न भाषा-भाषी एवं भिन्न धर्मावलंबी व्यक्ति तो सार्वजनिक रक्षा इत्यादि किसी अत्यन्त प्रबल पारस्परिक हित के कारण ही पर्वतीय स्विज़ लोगों की भाँति एक हो सकते हैं और वह भी तब, जब स्विट्ज़रलैंड के समान उनमें स्थानीय पूर्ण स्वतंत्रता हो। मैसेडोनिया जैसे प्रांतों में, जहाँ गाँवों तथा ज़िलों में जातियाँ मिली-जुली बसी हुई हैं, उक्त प्रकार

का स्थानीय पूर्ण स्वातंत्र्य अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु वियेना की कांग्रेस द्वारा निर्मित यूरोप के मानचित्र को देखने से पता चलेगा कि स्थानीय (पारस्परिक) क्रोधोद्दीपन को मानों पराकाष्ठा पर पहुँचाने के लिए ही ये सीमाएँ निर्धारित की गई थीं।

डच प्रजातंत्र को अकारण ही मटियामेट कर प्रोटेस्टैंट पंथानुयायी डच और कैथालिक पंथानुयायी फ्रांसीसी बोलनेवाले प्राचीन स्पेनिश (ऑस्ट्रियन) नेदरलैंड को मिलाकर नेदरलैंड्ज़ के नवीन राज्य की स्थापना की गई। न केवल प्राचीन प्रजातांत्रिक वेनिस वरन् मिलन नगर तक उत्तरीय इटैली का समस्त भू-भाग, जर्मन-भाषा-भाषी ऑस्ट्रियन्स को दे दिया गया। फ्रेंच-भाषा-भाषी सैवाय को इटैली के कुछ भागों से सम्मिलित कर सार्डिनिया का राज्य पुनः स्थापित किया गया। पारस्परिक-विद्वेषी हंगेरियन, जर्मन, ज़ेको-स्लॉवेक, जूगोस्लाव, रूमानियन और आधुनिक इटालियनों की जाति। विभिन्नता के कारण ऑस्ट्रिया और हंगेरी का मिश्रण पहले ही से स्फोटक था उस पर १७९२ और १७९५ के ऑस्ट्रिया द्वारा अधिकृत पोलैंड के भू-भाग को इसमें और सम्मिलित कर देने पर वह और भी शीघ्र दाह्य हो गया। प्रजातंत्र के भावों से भरे हुए कैथोलिक पंथानुयायी पोलैंड की बहुसंख्यक जनता का अधिकांश ग्रीक-चर्च के कट्टर अनुयायी और कहीं अल्प-सभ्य शासक ज़ार के अधीन कर दिया गया था; और कुछ ख़ास ज़िले प्रोटेस्टैंट प्रुशिया को मिल गये थे। इसके अतिरिक्त संपूर्णतया भिन्न फ़िन (Finns) जाति पर भी ज़ार का आधिपत्य स्वीकार कर लिया गया था। एक दूसरे से सर्वथा पृथक् स्वीड और नॉरवेजियन लोग भी एक राजा के अधीन कर मिला दिये गये। पाठक स्वयं देखेंगे कि जर्मनी की स्थिति इस समय भयंकर रीति से अव्यवस्थित छोड़ दी गई थी। प्रुशिया और ऑस्ट्रिया दोनों ही का कुछ अंश तो जर्मन संघ के भीतर था और कुछ बाहर, और इसमें बहुत सी छोटी रियासतें भी शामिल थीं। हौलस्टीन के जर्मन भाषा-भाषी कुछ स्थानों पर आधिपत्य के कारण डेनमार्क के राजा की भी इसी जर्मन संघ में गणना की गई। और लक्ज़मबर्ग भी इसमें सम्मिलित किया गया, परंतु वह नेदरलैंड पर भी शासन करता था और उसकी प्रजा अधिकांश में फ्रेंच बोलती थी।

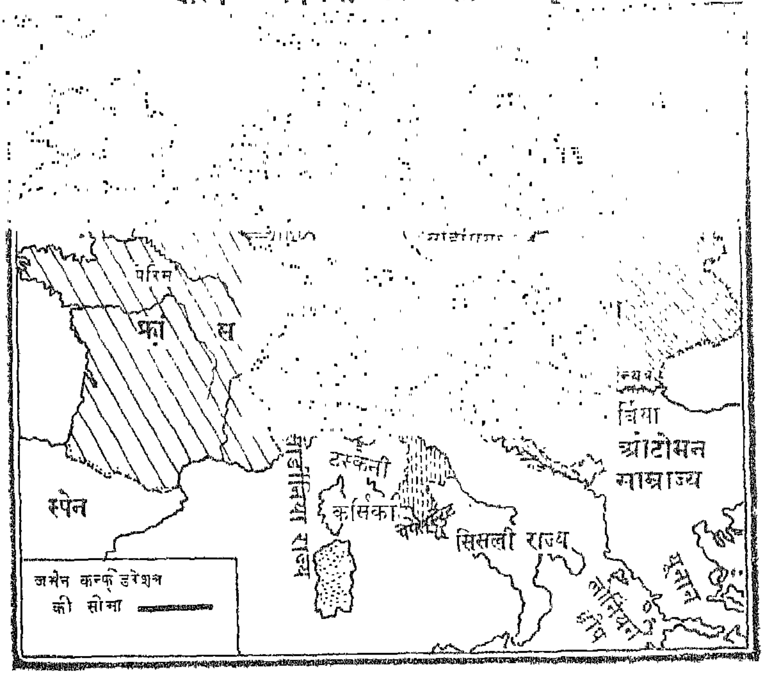
यहाँ इस बात की सर्वथा उपेक्षा की गई कि वे जातियाँ जो जर्मन-भाषा-भाषी थीं और जिनके विचार जर्मन-साहित्य पर स्थित थे, वे जातियाँ जो इटैलियन-भाषा-भाषी थीं और जिनके विचार इटैलियन साहित्य पर स्थित थे, तथा वे जातियाँ जो पोलिश-भाषा-भाषी थीं और जिनके विचार पोलिश साहित्य पर स्थित थे वे स्वयं अधिक सुखी और शेष मानव-जाति के लिए कहीं अधिक सहायकारी और अपेक्षाकृत कुछ मात्रा में हानिकारक होतीं—यदि वे अपने व्यवसाय को अपनी ही भाषा में व्यवहृत वाक्



नैपोलियन (राज्याभिषेक के समय का चित्र)

पद्धति द्वारा संपादन करें। फिर यदि जर्मन भाषा का वह लोक-प्रिय गीत कि "जहां जहां जर्मन भाषा बोली जाती है वहीं हमारी मातृभूमि है" उस समय सर्वत्र फैल गया तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

योरप वियेना की कांग्रेस के बाद



फ्रांस की तत्कालीन क्रांति से उत्साहित हो फ्रेंच-भाषा-भाषी बेलजियम ने डच संयोजन से उकताकर नैदरलैंड के राज्य में विद्रोह कर दिया (१८३०)। यह देख और भय खाकर कि वह प्रजातंत्र की स्थापना कर डालेगा या फ्रांस में सम्मिलित कर लिया जायगा, यूरोपीय शक्तियों ने आपत्ति-निवारण के लिए शीघ्रतया बेलजियम को सैक्स-कोवर्ग-गोथा के लियोपोल्ड प्रथम के शासन में कर दिया। १८३० में जर्मनी और इटली में तो विद्रोह विफल हो गये परंतु रूसी पोलैंड का मुआमिला अधिक भयानक सिद्ध हुआ। वारसा का प्रजातंत्र रूस के ज़ार निकोलस का (जो ऐलेकज़ेंडर का १८२५ में उत्तराधिकारी हुआ) एक वर्ष तक मुक़ाबिला करने के पश्चात् अत्यंत नृशंस अत्याचार

द्वारा चूर्णित कर दिया गया। पोलिश भाषा सर्वत्र अस्वीकार कर दी गई और रोमन कैथोलिक चर्च को हटाकर उसके स्थान में पुराणवादी ग्रीक-चर्च को राज्य-धर्म बना दिया गया।

१८२१ में यूनानियों ने तुर्कों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। छः वर्ष तक उन्होंने जी तोड़कर युद्ध किया और यूरोपीय शासक केवल बैठे-बैठे तमाशा देखा किये। परंतु उदार विचारवालों ने इस निश्चेष्टता का प्रतीकार किया और प्रत्येक देश से स्वयंसेवक (स्वेच्छा-पूर्वक) इन विद्रोहियों के सहायक बने, तब कहीं अंत में ब्रिटेन, फ्रांस और रूस ने सम्मिलित सहयोग दिया। फ्रांसीसी तथा अँगरेज़ों ने तो नेवारिनो के युद्ध में (१८२७) उनका जहाज़ी बेड़ा तहस-नहस कर डाला; और रूसियों ने उनके देश पर आक्रमण कर दिया। अंत में एड्रियानोपिल की संधि के अनुसार (१८२९) यूनान को स्वतन्त्रता तो मिली, परंतु उसको अपनी प्राचीन प्रजातांत्रिक शासन-प्रणाली के पुनः स्थापन करने की आज्ञा नहीं दी गई। बवेरिया के औटो नामक एक जर्मन राजकुमार को वहाँ का राजा बना दिया गया और डेन्यूब नदी के ओर पास के प्रान्तों में (जहाँ अब रूमानिया है) और सर्विया में (जो जूगोस्लाव का कुछ अंश है) ईसाई शासक (Governor) नियत कर दिये गये। परंतु यूरोप के इन भूभागों से तुर्कों को संपूर्णतया खदेड़ने के लिए उनको फिर भी भविष्य में अत्यंताधिक शोणित-सिंचन करना था।

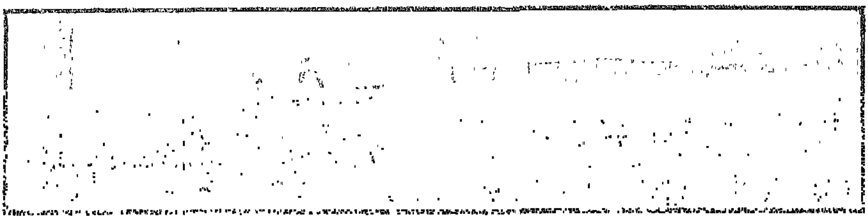
(५७)

पदार्थ-ज्ञान की उन्नति

संपूर्ण सतरहवीं, अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में जब यूरोप के राजकुमार शक्ति-प्राप्त्यर्थ युद्ध कर रहे थे और वेस्टफ़ेलिया की संधि (१६४८) का शीघ्रतया परिवर्त्तन-शील संग्रथन, सहसा वियेना की संधि (१८१५) का अस्थायी रूप धारण कर रहा था, और जब पालों से चलनेवाले जहाज़ों द्वारा समस्त संसार में यूरोपीय प्रभाव फैल रहा था, उसी समय यूरोप तथा यूरोपीय पद्धति का अनुसरण करनेवाले भू-भाग में धीरे धीरे परंतु दृढ़ता-पूर्वक निज संसारविषयक मनुष्य की ज्ञान-वृद्धि एवं विचार अधिकाधिक व्यक्त रूप धारण करते जाते थे।

ये बातें राजनैतिक जीवन से सर्वथा स्वतंत्र थीं और संपूर्ण सतरहवीं एवं अठारहवीं शताब्दियों में इनका न तो राजनैतिक जीवन में कुछ तात्कालिक स्पष्ट परिणाम हुआ और न उस समय इन्होंने जनसाधारण के विचारों पर ही कोई गहरा प्रभाव डाला। ये प्रतिक्रियाएँ तो बहुत काल पीछे हुईं। और इनका पूरा प्रभाव तो कहीं आधी उन्नीसवीं शताब्दी बीत जाने के पश्चात् दृष्टिगोचर हुआ है। आद्यावस्था में यह प्रयोग केवल कुछ धन-सम्पन्न और स्वाधीनचेता लोगों तक ही परिमित थे। उन व्यक्तियों के अभाव में जिनको हम स्वाधीनचेता भद्र लोग कहते हैं (या जिनको अँगरेज़ी भाषा में Private gentleman कहा जाता है) न तो इन वैज्ञानिक विधियों का ग्रीस में जन्म हो सकता था और न इनका यूरोप में पुनरुत्थान ही संभव होता। उस समय के विश्वविद्यालयों ने दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विचारों में भाग तो अवश्य लिया, परंतु इस मार्ग में वे अग्रणी कभी न बने। स्वाधीनचेता पुरुषों का संसर्गोत्तेजन न होने पर धर्म-दाय (Endowed) द्वारा संचालित शिक्षणालयों की शिक्षा प्रायः भीरु और नव-विद्वेषी (Conservative) बना देती है अर्थात् इनमें शिक्षा पाये हुए पुरुषों में उपकरणहीनता तथा नूतन मार्गावलंबियों के विद्वेष का दोष आ जाता है।

१६६२ में रॉयल सोसायटी की स्थापना और उसके द्वारा बेकन के स्वप्न अर्थात् 'न्यू एटलांटिस' नामक पुस्तक में उल्लिखित बातों को कार्य-रूप में परिणत करने के प्रयत्नों का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। तत्पश्चात् समस्त अठारहवीं शताब्दी में भौतिक पदार्थ एवं उनकी गति-संबंधी साधारण धारणाएँ बहुत कुछ स्पष्ट हो गई थीं, गणित-शास्त्र के साथ ही साथ अणुवीक्षक यंत्र और दूरदर्शक यंत्र में व्यवहृत होनेवाले दृग्-संबंधी कांच (Optical glass) में भी स्थिरता-पूर्वक उन्नति हो रही थी; स्थावर-जंगम वर्गीकरण शास्त्र में अधिक उत्साह से कार्य हो रहा था, और हो रहे थे शरीर-संबंधी विज्ञान के पुनर्जीवित करने के प्रबल प्रयत्न। यही नहीं, वरन् ऐरिस्टॉटिल को जिसका पूर्वाभास हुआ, और लियोनार्डो-द-विन्सी (१४५२--१५१९) ने जिसका पूर्व निरूपण कर लिया था उसी भूगर्भ-शास्त्र ने अब चट्टानों का पुरावृत्त लोगों को समझाने का कार्य प्रारंभ कर दिया था।



लिवरपुल मैनचेस्टर रेलवे की पहले पहल की मालगाड़ियाँ, रेलवे का प्रारंभिक युग

भौतिक विज्ञान की उन्नति का प्रभाव धातुशोधन-क्रिया पर पड़ा और उसमें उन्नति होने पर धातुओं तथा अन्य पदार्थों के पिंडों को पहले की अपेक्षा अधिक एवं विस्तृत रूप से व्यवहार में लाने की संभावना का सुयोग मिला और इसके कारण व्यवहारोचित आविष्कारों में उन्नति हुई जिससे औद्योगिक व्यवसायों में क्रांति उत्पन्न करनेवाले नवीन यंत्रों का निर्माण अभूत-पूर्व पैमाने पर बहुतायत से होने लगा।

बाष्प-यंत्र (Steam-engine) में योजनाएँ कर, सर्वप्रथम ट्रैविथिक ने बारबरदारी के योग्य एक चलनशील बाष्प-प्रेरित यंत्र (Locomotive Steam engine) १८०४ में बनाया था। १८२५ में स्टॉकटन और डारलिंगटन के मध्य पहली बार रेल की सड़क खोली गई और उस पर स्टिफ़ैनसन का बनाया हुआ 'रॉकेट' (Engine ऐञ्जिन) तेरह टन बोझवाली गाड़ियाँ लेकर चौआलीस मील प्रति घंटा के वेग से चला था। १८३० के पश्चात् रेल की सड़कों में उन्नति हुई और शताब्दी का अर्ध भाग बीतते न बीतते प्रायः समस्त यूरोप में इनका जाल बिछ गया था।

स्थल पर गति-परिमाण की अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही मानव-मर्यादा में इस आविष्कार के कारण सहसा परिवर्त्तन हो गया। नेपोलियन को रूस में अपने ऊपर आई महान् आपत्ति के समय विलना से पेरिस लौटने में ३१२ घंटे लगे थे। यह यात्रा लगभग १४०० मील की थी और प्रत्येक प्रकार की सुविधा होने पर भी उसकी गति उपरोक्त हिसाब से सामान्यतः पाँच मील प्रति घंटा से कम बैठती है। साधारण यात्री तो यह यात्रा इससे दुगुने समय में भी न कर सकता था। ईसा की प्रथम शताब्दी में रोम से गॉल तक यात्रा की गति का जो परिमाण था, प्रायः वही इस समय था। इसके पश्चात् ही सहसा यह महान् परिवर्त्तन हुआ। और रेल द्वारा एक साधारण पुरुष भी इतनी लंबी यात्रा अड़तालीस घंटे से कम में समाप्त करने लगा; इसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह हुआ कि यूरोप के प्रधान स्थानों की दूरी घटकर पहले की अपेक्षा अब $\frac{1}{10}$ रह गई थी, इसी कारण अब पहले की अपेक्षा दसगुने अधिक भू-भाग पर भी एक देश के लिए शासन करना संभव हो गया। इस आविष्कार के कारण यूरोप में क्या क्या और लाभ संभवनीय हैं, इसका अनुभव अभी विचार-कोटि में है। सड़कों और घोड़ों के युग में निर्मित सीमाजाल अभी तक यूरोप में विद्यमान है। अमेरिका को इसका फल तुरंत मिला। पश्चिम की ओर अग्रसर होनेवाले संयुक्त राज्यों के लिए इसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह था कि महाद्वीप में सीमा चाहे जितनी दूर बढ़कर पहुँच जाय परंतु वाशिंगटन पहुँचना वैसा ही सुगम रहा। इसी आविष्कार के कारण वहाँ ऐसा घनिष्ठ ऐक्य स्थापित हो गया जो किसी अन्य प्रकार से होना शक्य न था।

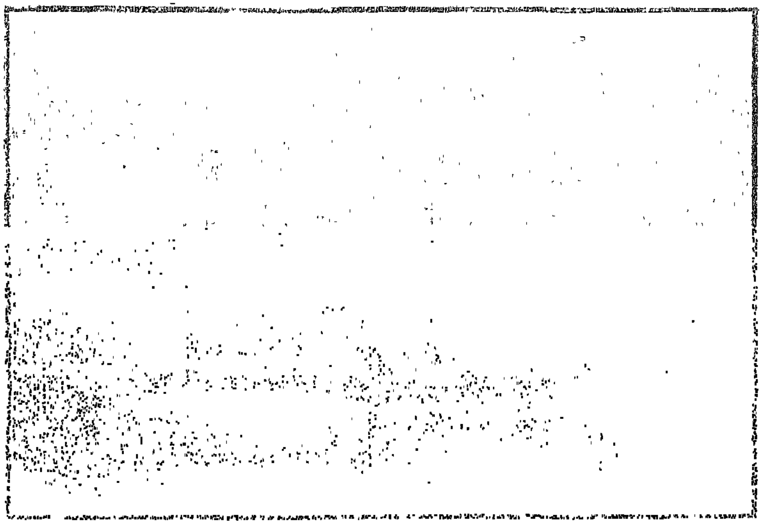
प्रारंभ में 'स्टीम बोट' (अर्थात् भाप द्वारा चलनेवाली नाव) की दशा आदि-कालीन स्टीम एंजिन से अपेक्षाकृत अधिक उन्नत थी। क्लाइड-खाड़ी नहर में (Firth of Clyde) शार्लोट-डुंडाज़ (Charlotte-dundas) नामक एक वाष्प द्वारा चलनेवाली नौका १८०२ में मौजूद थी; और १८०७ में न्यूयार्क से ऊपर की ओर हडसन नदी में फ़ुलटन नामक एक अमेरिका-निवासी का क्लैरमौंट नामक स्टीमर चलता था जिसमें इँगलिस्तान के बने हुए एंजिन काम करते थे। समुद्र में वाष्प द्वारा चलनेवाला फ़िनिक्स नामक सर्वप्रथम जहाज़ अमेरिका का था जो न्यूयॉर्क (हौबोकेन) से फ़िलेडेल-फ़िया तक जाता था। इसी प्रकार ऐटलांटिक को सर्वप्रथम पार करनेवाला वाष्प-चालित (और पाल-संयुक्त) सैवेनाह नामक जहाज़ भी इसी देश का था (१८१९)। ये समस्त जहाज़ चक्र-संचालित पतवार-संयुक्त (Paddle-wheel) थे जो क्षुब्ध सागर के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं। कारण यह कि ऐसी दशा में पतवार तो तुरंत चूर-चूर हो जाते हैं और उनके टूटते ही जहाज़ बेकार हो जाते हैं। व्यावर्त्तन कील

(Screw) नामक यंत्र-विशेष का प्रचार तो जहाज़ों में बहुत धीरे-धीरे बढ़ा है। बहुत सी कठिनाइयों को पार करने के उपरांत यह यंत्र-विशेष व्यवहार-योग्य हुआ था। लगभग अर्ध शताब्दी बीत जाने के उपरांत वाष्प-चालित जहाज़ों का वहन-भार पाल-चालित जहाज़ों से अधिक बढ़ पाया था और उसके उपरांत समुद्र द्वारा आवागमन में अत्यंत उन्नति हो गई। समुद्र एवं महासागर को पार कर विदेश पहुँचने का तिथि-निर्णय भी सर्वप्रथम इसी समय कुछ-कुछ निश्चयपूर्वक किया जाने लगा। एटलांटिक पार की यात्रा—जो पहले भयंकर एवं अनिश्चित समझी जाती थी, और कई सप्ताह और कभी-कभी तो महीनों में समाप्त होती थी—अब शीघ्रता और सुगमता से समाप्त होने लगी। यहाँ तक कि १९१० में अत्यंत द्रुतगामी जहाज़ पाँच दिन से कम में ही इस राह को समाप्त कर निश्चित समय पर पहुँचने लगे।

जिस समय जल तथा स्थल पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जानेवाले वाष्प-शक्ति-संचालित साधनों की उन्नति हो रही थी उसी समय वोल्टा, गैलवानी और फ़ैराडे की विद्युत्-संबंधी नवीन गवेषणा एक नवीन एवं आश्चर्यदायक रीति से मानव-संसर्ग को सुसाध्य बना रही थीं। 'तार' द्वारा समाचार भेजना १८३५ में प्रारंभ हुआ, और सर्व-प्रथम इँगलैंड तथा फ़्रांस के मध्य तार समुद्र-तल में १८५१ में डाले गये। इसके पश्चात् विद्युत् तार द्वारा समाचार भेजने की प्रथा का कुछ वर्षों में समस्त सभ्य-संसार में ऐसा प्रचार हुआ कि वे समाचार—जिनको प्राचीन काल में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने में बहुत समय लगता था—अब प्राय: एक साथ पृथ्वी के समस्त छोरों पर पहुँचने लगे।

ये वस्तुएँ अर्थात् वाष्प-संचालित रेल तथा तड़ित्-प्रेषित समाचार, जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकालीन साधारण जनसमाज को अत्यंत ही क्रांतिकारी एवं आश्चर्यकारक प्रतीत होते थे, वास्तव में अत्यंत विशद परिणामयुक्त क्रम के अत्यंत स्पष्ट भेद एवं प्राथमिक फल थे। उस समय कला-कौशल-संबंधी ज्ञान और नैपुण्य में ऐसी द्रुत गति से विस्तार हो रहा था कि प्राचीनकालीन किसी उन्नति की उससे तुलना नहीं की जा सकती। सर्वप्रथम नित्यप्रति की जीवनक्रिया में भले प्रकार स्पष्ट न होते हुए भी, निर्माण-संबंधी पदार्थों पर मनुष्य का अधिकार—मानव-शक्ति का प्रसार होने के पश्चात् से अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। अठारहवीं शताब्दी का अर्धभाग बीतने से प्रथम खानों के असंस्कृत (Ore) लोहे को लकड़ी के कोयलों द्वारा गलाकर पृथक् किया जाता था तथा हथौड़ों से ठोंक-पीटकर उसके छोटे-छोटे टुकड़ों की वस्तुएँ निर्माण की जाती थीं। और यह सब कारीगर के हाथ की बात थी। लुहार जितना अधिक बुद्धिमान, दक्ष और तजुर्बेकार होता था, लोहा तथा लोहे के बने पदार्थ भी उतने ही अधिक अच्छे होते थे। उस समय (अर्थात्

सोलहवीं शताब्दी में) लोहे के दो या तीन टन से अधिक भारी टुकड़ों का वस्तु-निर्माण में उपयोग नहीं हो सकता था। और इसी कारण अधिक भारी और बड़े आकार की तोपों का बनाना भी संभव न था। वायु द्वारा उत्तापित भट्ठी* (Blast Furnace)



स्टीम बोट क्लैरमौंट

के अठारहवीं शताब्दी में आविष्कार एवं पत्थर के कोयले के व्यवहार से उसमें अपूर्व उन्नति हुई। लोहे की चादरें (१७२८) और लोहे की छड़ें तथा डंडे (१७८३)

---

* यह भट्ठी कच्चे लोहे को अन्य धातुओं तथा अन्य मिश्रित पदार्थों से पृथक् कर शुद्ध करने के काम में लाई जाती है। कच्चे लोहे को खनिज कोयले तथा चूने के पत्थर के साथ खूब गरम करके पुन: उपरोक्त पदार्थों के मिश्रण को इस भट्ठी में ऊपर की ओर से भर देते हैं। नीचे की ओर से प्रचंड तप्त वायु को, जिसकी उष्णता ६०० से ९०० डिग्री तक होती है, एञ्जिन द्वारा प्रवाहित करते हैं। भट्ठी में उत्पन्न हुई वायुओं को दूसरे छिद्र द्वारा निकाल देते हैं। इस प्रकार लोहा पिघलकर नीचे से ढके लोहे के रूप में निकाला जाता है। प्रचंड तप्त वायु द्वारा गरम किये जाने के कारण इस भट्ठी को ब्लास्ट फ़रनेस कहते हैं।

अठारहवीं शताब्दी में प्रथम निर्माण न हो सके थे। और वाष्प द्वारा चलनेवाला नेस्मिथ का हथौड़ा* तो कहीं १८३८ में बनाया गया है।

धातुशोधन-संबंधी ज्ञान न्यून होने के कारण प्राचीन समय में वाष्प का उपयोग न हो सकता था। वाष्प-संचालित एंजिन तो क्या पानी देनेवाले प्राथमिक एंजिनों तक की, लोहे की चादरें अप्राप्य होने से, उस समय उन्नति न हो सकती थी। उन एंजिनों को केवल देखने ही से आधुनिक नेत्रों को तत्कालीन भद्दी और हीन अयस्कारी (लुहारी) का पता चलता है; परन्तु धातु-शोधन-विज्ञान के अत्यन्त परिमित होने के कारण उस समय और अधिक उन्नति असंभव थी। अब हाल ही में अर्थात् १८५६ में कहीं† बेस्समर की वैज्ञानिक विधि का आविष्कार हुआ है और १८६४ में Open Hearth Process‡ अर्थात् खुली भट्ठी की विधि का।

नवीन प्रणाली के प्रचलित होने के कारण प्रत्येक प्रकार का इस्पात और लोहा गला साफ़ कर अभूतपूर्व परिमाण और विधि से ढाला जा सकता है। आजकल तो आप विद्युत्-भट्ठियों में शतशः टन (१ टन में २८ मन होते हैं) अत्युष्ण इस्पात कड़ाही में उबलते दूध के समान नित्यप्रति खौलता देख सकते हैं। स्टील और लोहे की महान्

---

* विशेष शक्ति से घन पर गिरनेवाला वाष्प-हथौड़ा:—एक सिलिंडर (Cylinder) जो हथौड़े से जुड़ा होता है वाष्प के प्रवाह से इच्छित ऊँचाई तक उठता है। पुनः वाष्प के निस्सरण से हथौड़ा घन पर बड़े वेग से गिरता है। इस वेग में पृथ्वी का आकर्षण ही नहीं प्रत्युत वायुशक्ति का प्रयोग भी काम करता है। यदि सिलिंडर स्थायी हो और हथौड़ा पिस्टन से बद्ध हो तो वह उपरोक्त प्रकार का हथौड़ा कहलाता है।

† लोहे से फ़ौलाद बनाने की क्रिया—यह विधि सस्ती है। बड़े कड़ाह में, जो नाशपाती के आकार का होता है, ढला हुआ लोहा भरकर तीव्र वायु का प्रवाह तली के छिद्र द्वारा पहुँचाया जाता है जिससे लोहे का मैल जल जाता है। फिर धुले हुए लोहे में कोयला और मैंगैनीज़ मिश्रित सफ़ेद लोहा (जो Spiegel स्पिजिल नाम से विख्यात है) मिलाकर वायु प्रभाव द्वारा पुनः मिला दिया जाता है और जो पदार्थ बनता है वह फ़ौलाद है।

‡ वह लोहा, जिसमें अन्य पदार्थ बहुत मात्रा में मिले नहीं होते, पिघलाकर एक कोठरी में वायु-प्रवाह द्वारा भेजा जाता है और ठंडा होकर वह लोहा बाहर निकल जाता है, मैल जमकर वहीं रह जाता है। लोहा साफ़ करने की यह विधि (जो विशेषतया सीसा साफ़ करने की क्रिया है) उपर्युक्त नाम से विख्यात है।

राशियों को मनुष्य इस समय जिस प्रकार उपयोग में ला इच्छानुसार उत्तम रंग-रूप प्रदान कर सकते हैं, उसके मुक़ाबिले में तद्विषयक अतीत-कालीन मानवोन्नति नहीं के बराबर है। रेल तथा प्रारंभिक एंजिन तो इस नवीन धातु-शोधन-क्रिया में प्राथमिक विजय-चिह्न मात्र थे। इसके पश्चात् लोहे और स्टील के जहाज़, लंबे-चौड़े पुल और नवीन पद्धति के स्टील-संयुक्त भीमकाय भवन भी निर्माण होने लगे। सुदीर्घ काल पश्चात् मनुष्यों को यह पता चला है कि बहुत बड़े पैमाने पर चौड़ी-चौड़ी पटरियाँ डाल सुख-दायक रेल-गाड़ियाँ न बनाकर उन्होंने भीरुता-वश सँकरी पटरियों पर अत्यंत ही क्षुद्र रेल बना डाली है।

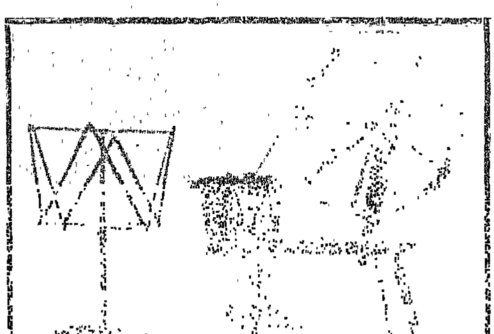
जहाँ उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व संसार में २००० टन से अधिक बोझ ढोनेवाला एक भी पोत न था, वहाँ अब ५०००० टन का जहाज़ देखकर भी किसी को तनिक सा भी आश्चर्य नहीं होता। ऐसे पुरुष भी इस समय विद्यमान हैं जो इस प्रकार की उन्नति को 'आकारों की उन्नति' बता अवज्ञा-पूर्वक उपहास कर बैठते हैं; परंतु इससे केवल उनके संकुचित और परिमित बुद्धिबल का आभास मिलता है। आजकल के बड़े-बड़े पोत अथवा स्टील के ढाँचे के भव्य भवन अतीतकालीन क्षुद्र पोतों अथवा मकानों के विशद एवं बढ़े हुए प्रतिरूप नहीं हैं, जैसा कि ये पुरुष विचार करते हैं। वरन् ये तो पदार्थ ही दूसरे हैं। अधिक उत्तम और दृढ़ धातुओं द्वारा निर्मित होने के कारण एक तो ये उनसे कहीं हलके और अधिक मज़बूत होते हैं, दूसरे इनमें प्राचीन परिपाटी का अनुसरण एवं हस्तलाघव ही नहीं वरन् (इनमें तो) अत्यंत कुशाग्र बुद्धि एवं दुर्बोध गणनाओं की भी अत्यंत आवश्यकता है। प्राचीन जहाज़ों अथवा मकानों में तो प्रधानता थी तत्त्वों की, भौतिक पदार्थों की और इन्हीं भौतिक पदार्थों और तत्संबंधी अन्य आवश्यकताओं को दासवत् स्वीकार करने की; परंतु वर्त्तमान काल में वे भौतिक पदार्थ बरबस बंदी कर बल-पूर्वक दबाये एवं परिवर्त्तित किये गये हैं। सोचिए तो सही कहाँ खानों का कोयला, लोहा तथा नदी एवं समुद्र तट का रेता और कहाँ जनाकीर्ण नगरों की ६०० फ़ीट ऊँची लौह-काच-निर्मित तुंग अट्टालिकाएँ! परंतु बुद्धिबल द्वारा तट तथा खानों से बल-पूर्वक खींच, कूट-पीट तथा गला-साफ़ कर—साँचे द्वारा आकार-प्रकार दे, परिवर्त्तित कर—अंत में वहीं, इतनी ऊँचाई पर पहुँचा दिया जाता है।

हमने इस्पात-शोधन-संबंधी मानव-ज्ञानोन्नति तथा उसके परिणाम का उल्लेख उदाहरण रूप से विस्तार-पूर्वक कर दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व अज्ञात निकल और ऐल्यूमिनियम आदि का तथा ताँबा, राँगा आदि अनेक धातुओं की शोधन-विधि का वर्णन भी इसी के समान किया जा सकता है। इन द्रव्यों तथा विविध भाँति के काच, चट्टान,

लोह और रंग तथा वस्त्रों पर दिन प्रतिदिन अधिक प्रभुत्व प्राप्त करने के कारण ही यंत्र-क्रांति (Mechanical Revolution) में इतनी सफलता मिली है। परंतु स्मरण रखना चाहिए कि अभी तक हम प्राथमिक फल ही प्राप्त कर सके हैं। शक्ति तो हममें है, परंतु उसका किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, यह हमको अभी और सीखना है। विज्ञान-रूपी वृक्ष के बहुत से फलों को हमने असभ्यों और मूर्खों की भाँति मिथ्या शोभा-प्रदर्शन हेतु ही बड़ी भद्दी एवं भयावह रीति से व्यवहार किया है। शिल्पियों तथा संयोजकों ने उन अनंत भाँति के पदार्थों को, जो हमारी इच्छा पर नाचते हैं, यथावत् व्यवहार करना अभी नहीं सीखा है।

यंत्र-शास्त्र के संभावित प्रयोग के प्रसार के साथ ही साथ नवीन विद्युत्-विज्ञान में भी उन्नति हुई; परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग अस्सी वर्ष बीत जाने के पश्चात् ही जनसाधारण के मस्तिष्क में इन आविष्कारों के परिणाम का प्रभाव हुआ था। तदनंतर सहसा विद्युत्-प्रकाश, विद्युद्वहन और विद्युत् का रूपांतर करने की संभावना का साधारण मनुष्यों को ज्ञान हुआ और यह भी उनके हृदयंगम हो गया कि यह शक्ति इच्छानुसार यंत्र-चालन, प्रकाश अथवा उष्णता में परिवर्त्तित हो प्रयुक्त की जा सकती है, एवं नल के जल की भाँति ताँबे के तार द्वारा स्थानांतरित भी हो सकती है।

अँगरेज़ और फ्रांसीसी लोग ही इस अनंत-फल-दायक ज्ञान के सर्व-प्रथम नेता और अग्रणी थे। परंतु नैपोलियन की अधीनता में नम्रता का पाठ पढ़नेवाली जर्मन जाति ने भी वैज्ञानिक गवेषणाओं में ऐसे अदम्य उत्साह और लगन से काय किया कि ये बुड्ढे नेता भी पिछड़ गये। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि अँगरेज़ और स्कॉट वैज्ञानिकों ने पांडित्य के केन्द्रों से प्रायः पृथक् रहकर ही बृटिश ज्ञान की सृष्टि की थी।



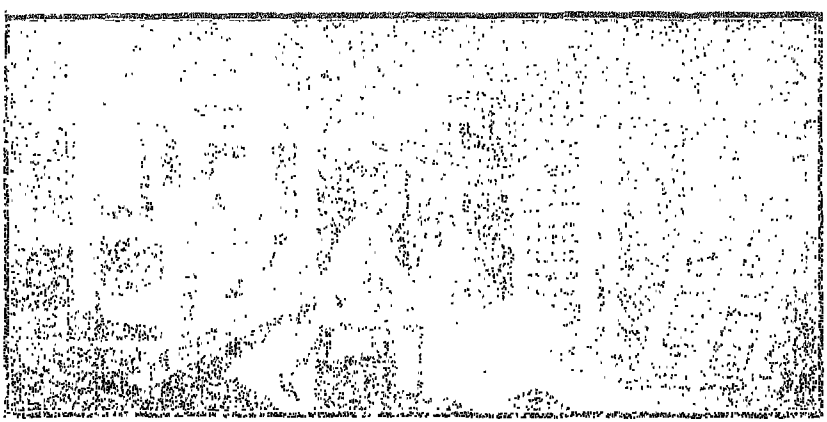
अठारहवीं शताब्दी का चर्ख़ा

ब्रिटेन के विश्वविद्यालय, इस समय ग्रीक और लैटिन साहित्य के पांडित्य-पूर्ण अध्ययन में निमग्न होने के कारण शिक्षा को अवनति की ओर ले जा रहे थे; और फ्रांस की शिक्षा-प्रणाली में जैसुआइट (कैथोलिक सम्प्रदाय का दल-विशेष) सिद्धांतों की साहित्यिक

परंपरा का प्राधान्य था, अतएव वैज्ञानिक निरूपकों के एक बड़े समूह को सुसज्जित करने में जर्मनी को तनिक सी भी कठिनाई न हुई। ये समूह (अर्थात् जर्मन वैज्ञानिक) कार्य की महत्ता की दृष्टि से तो अवश्य कम थे परंतु इन थोड़े से अँगरेज़ तथा फ्रांसीसी आविष्कारकों और प्रयोग-कर्त्ताओं के अनुपात से कहीं अधिक बड़े थे। इन गवेषणाओं और प्रयोगों के कार्य ने फ्रांस और इँगलैंड को तो संसार में अत्यंत धनाढ्य एवं शक्तिशाली बना दिया; परंतु वैज्ञानिक एवं आविष्कारक धन एवं बल को प्राप्त न कर सके। सच्चे वैज्ञानिक तो संसार के ऐश्वर्य से सर्वथा उदासीन रहते हैं। अपनी गवेषणाओं में संपूर्णतया लिप्त रहने के कारण उसके द्वारा धनागम के उपायों को सोचने का उनको अवकाश ही नहीं मिलता। अतएव उनके आविष्कारों द्वारा अर्थलाभ करने का अवकाश तो सहज ही में उन्हीं को मिलता है जो स्वभावतया अधिगमनशील बुद्धि से युक्त होते हैं। यही कारण है कि वैज्ञानिक एवं कला-कौशल-संबंधी उन्नति के प्रत्येक नवीन अवसर पर उत्पन्न होनेवाले इँगलैंड के धनाढ्य-वर्ग ने सोने का अंडा देनेवाली जातीय मुर्गी का—साहित्यिकों तथा पुरोहितों के समान वास्तविक रूप से—अपमान एवं हत्या करने में उत्साह प्रदर्शित न कर इस लाभदायक प्राणी को भूखा मारने ही में संतोष प्रकट किया है। वैज्ञानिकों और आविष्कारकर्त्ताओं की सृष्टि तो उनके मतानुसार अधिक चतुर पुरुषों के लाभार्थ ही हुई है।

जर्मन इस विषय में कुछ अधिक बुद्धिमान् थे। वहाँ के विद्वानों ने, इस नवीन ज्ञान से इतनी घृणा न होने के कारण, इसकी उन्नति होने दी। जर्मन व्यापारी तथा पक्का माल तैयार करनेवाले—अपने प्रतिस्पर्धी अँगरेज़ों की भाँति—विज्ञानवेत्ताओं को हेय न समझते थे। जर्मनों का विश्वास था कि विद्या भी कृषि की भाँति खाद मिलने पर अधिक फल-फूल सकती है; इसी कारण उन्होंने वैज्ञानिक मस्तिष्कों को यथेष्ट अवसर दे, अन्य सार्वजनिक विभागों की अपेक्षा वैज्ञानिक विभाग में कहीं अधिक धन-व्यय किया। और इस परिश्रम तथा व्यय का उनको प्रचुर फल भी मिला। उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध आते न आते, जर्मन वैज्ञानिकों की उन्नति के कारण जर्मन भाषा का ज्ञान विज्ञान के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए, जो अपने विभाग में अत्यंत अर्वाचीन प्रयोगों की जानकारी का इच्छुक था, आवश्यक हो गया था। विज्ञान की कुछ शाखाओं और विशेष कर रसायनशास्त्र में जर्मनी ने अपने पश्चिमीय पड़ोसियों की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नति कर ली थी। १८६०-७० में किये हुए प्रयत्नों का फल जर्मनी को १८८० के लगभग मिलना प्रारंभ हुआ और कला-कौशल तथा औद्योगिक वैभव के लिहाज़ से यह देश फ्रांस और इँगलैंड दोनों ही को उत्तरोत्तर परास्त करता गया।

१८८० के लगभग एक नवीन प्रकार के एंजिन के व्यवहार में आने के कारण, आविष्कार के इतिहास में एक नया दृश्य उपस्थित हो गया। इस एंजिन में वाष्पीय विस्तारिणी शक्ति के स्थान में, विस्फोटक पदार्थों के मिश्रण द्वारा उत्पादित विस्तारिणी शक्ति का प्रयोग किया जाता था। जब इस प्रकार बने हुए अभूतपूर्व हलके और विचक्षण एंजिनों का उपयोग संभव हो गया, तो स्वयं चलनेवाले यानों में इनका व्यवहार किया गया और अंत में ये इतने अधिक हलके और कार्योपयुक्त बनने लगे कि इनके द्वारा वायु-मंडल में भ्रमण—जो प्राचीन काल से संभव समझा जाता था—अब वास्तव में कार्यरूप में परिणत हो गया। एक उड़नेवाली मैशीन वाशिंगटन के स्मिथ सोनियन इंस्टीट्यूट के अध्यापक



बुनाई की प्रारम्भिक काल की मशीन

लैंगले ने १८९७ में ही बनाई थी परंतु यह इतनी बड़ी न थी कि कोई मनुष्य इसमें बैठ सके। फिर १९०९ तक पुरुषों के व्यवहारोपम हवाई जहाज़ भी बनने प्रारंभ हो गये। रेलगाड़ी और अन्य प्रकार के अपने आप चलनेवाले यानों में उन्नति हो जाने के पश्चात् मानव-गति-वेग एक प्रकार से ठहर गया था। परंतु उड़ाकू मशीन का आविष्कार होते ही पृथ्वी पर एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी वास्तव में बहुत घट गई। अठारहवीं शताब्दी में लंदन से एडिनबर्ग की राह आठ दिन की थी; १९१८ में ब्रिटिश सिविल एयर ट्रांसपोर्ट कमिश्नर (इँगलिस्तान की वायु-आवागमन-परिषद्) ने यह रिपोर्ट की थी कि कुछ ही काल में लंदन से मैलेबोर्न की राह—जहाँ पहुँचने में आधी पृथ्वी पार करनी पड़ती है—इतने ही समय में समाप्त हो सकेगी।

एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में समय की न्यूनता को ही अत्यंत महत्त्व न देना चाहिए। मानव-शक्ति की कहीं अधिक गुरुतर एवं गंभीर संभावनाओं के विस्तार का यह केवल एक दृश्य है। उदाहरण के लिए, कृषि-विद्या और कृषि-रसायन में भी उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसी ही उन्नति हुई है। सत्रहवीं शताब्दी में जितनी उपज किसी भूमि में होती थी, उसको चौगुनी और पँचगुनी उपज धरती से खाद द्वारा अब लोग उत्पन्न करते हैं। आयुर्वेद में तो इससे भी अधिक आश्चर्यकारक उन्नति हुई है। सर्वसाधारण के जीवन का औसत बढ़ गया है। और दैनिक आचरण में कार्यक्षमता बढ़ जाने से, प्राचीन समय की भाँति बुरे स्वास्थ्य के कारण अब जीवन का क्षय नहीं होता।

मानव-जीवन में महान् परिवर्त्तन होने के कारण इतिहास में एक नया दृश्य उपस्थित हो गया है। यह यंत्र-क्रांति सौ वर्ष से कुछ ही अधिक समय में हुई है। प्राचीन पाषाण-युग से लेकर कृषि-युग तक अथवा मिस्रदेशीय पेपी के समय से तृतीय जॉर्ज के समय सरीखे सुदीर्घ काल तक में भी ऐसी भौतिक उन्नति न हो सकी थी जैसी इस समय हुई है।

अब तो मानव-जीवन-व्यापार के लिए समस्त सुलभ साधन सदा ही प्रस्तुत रहते हैं। और इसी कारण हमारी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पद्धतियों में अत्यंत अधिक पुनः समीकरण की आवश्यकता है। परंतु यह पुनः समीकरण सदा यंत्र-क्रांति की उन्नति का अनुवर्त्ती है, अतएव वह अभी प्रथमावस्था ही में है।

---

(५८)

औद्योगिक क्रांति

जो मानवीय अनुभव में एकदम नई वस्तु थी, सुव्यवस्थित वैज्ञानिक उन्नति से जिसका जन्म हुआ था, जो कृषि-आविष्कार अथवा धातु-ज्ञान के सदृश एक नवीन चरण-पात था, उसी यन्त्र-क्रांति को बहुत सी इतिहास-पुस्तकों में अन्य एवं सर्वथा भिन्नोद्गमीय औद्योगिक क्रांति नामधारी, सामाजिक और आर्थिक उन्नति से जिसका इतिहास में पूर्वोदा-हरण मौजूद है, भ्रमवश मिला देने की कुछ टेव सी पड़ गई है। उपरोक्त दोनों क्रम अथवा परिपाटियों का प्रसार एक समय में हो रहा था और वह एक दूसरे को प्रभावित भी कर रही थीं; परंतु दोनों में मौलिक एवं तात्त्विक भेद था। अनेक प्रकार की औद्योगिक क्रांति तो कोयला, बाष्प-शक्ति और यन्त्रों के अभाव में भी संभव थीं, परंतु उस दशा में ये संभवतः रोम प्रजातंत्र की पश्चात्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति के मार्ग का ही अनुकरण करतीं; अर्थात् इनमें भी वही लुप्ताधिकार-स्वतंत्र कृषक, दलबंद श्रमिक, बड़ी-बड़ी ज़मीं-दारियाँ, आर्थिक संपदा एवं समाज-विनाशक आर्थिक परिपाटियों की पुनरावृत्ति होती। शक्ति-प्रयोग (Power) एवं यन्त्र-ज्ञान से प्रथम शिल्पगृह-पद्धति (Factory method) का जन्म हो चुका था। और इन शिल्पशालाओं का आधार थी श्रम-विभाग की व्यवस्था, न कि यंत्र-कला। औद्योगिक कार्यों के लिए जल-चक्र-प्रयोग करने से पहले ही, सीखे हुए मज़दूर-दल पसीना बहाते, स्त्रियों के उपयुक्त परिच्छद, पट्टे के बक्स, उपकरण, रंग-बिरंगे मानचित्र तथा पुस्तकों के लिए चित्र इत्यादि-इत्यादि अन्य वस्तुएँ तैयार किया करते थे। सम्राट् ऑगस्टस के समय में भी रोम में ऐसी बहुत सी शालाएँ विद्यमान थीं। उदाहरणार्थ—पुस्तक-विक्रेताओं की शालाओं में ही बोल-बोलकर नवीन पुस्तकें पंक्तिबद्ध लेखकों को लिखाई जाती थीं। फ़ील्डिंग (Fielding) की राजनैतिक क्षुद्र पत्रिकाओं और डैफ़ो के लेखों को ध्यानपूर्वक पढ़नेवाले पाठक समझ सकते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी का अन्त होने से प्रथम स्वयं ब्रिटेन ही में निर्धन पुरुषों को उनके निर्वाह के लिए एक ही स्थान में एकत्रित

कर काम लेने का विचार जन-साधारण की समझ में भली प्रकार बैठ गया था। अधिक क्या लिखें, मूर की यूटोपिया नामक पुस्तक लिखे जाने के समय (१५१६) सरीखे अर्वाचीन काल में भी जनता में इन विचारों का चिह्न मौजूद था। परंतु यह सब सामाजिक उन्नति थी, यंत्र-संबंधी नहीं।

ईसा मसीह से पूर्व की तीन शताब्दियों में रोम-राज्य जिस पथ पर चला था उसी मार्ग का अनुसरण पश्चिमीय यूरोप के सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास ने भी अठारहवीं शताब्दी का अर्धभाग बीत जाने तक किया। परंतु वहाँ के राजनैतिक विभेद, व्यक्तिगत शासन के विरुद्ध राजनैतिक क्षोभ, जन-साधारण का विद्वेष और संभवतया पश्चिमीय जातियों के लिए अधिक सुलभ, यंत्र-संबंधी विचार तथा आविष्कारों के कारण इस परिपाटी ने एक सर्वथा नवीन मार्ग का अनुसरण किया। इसके अतिरिक्त एक तो क्रिश्चियन धर्म के प्रभाव से नवीन यूरोपीय जगत् में समस्त मानव-समाज की समानता के भाव अधिक व्यापक हो गये थे और दूसरे राजनैतिक शक्ति भी पूर्ववत् केन्द्रस्थ न थी। इसलिए धनोपार्जन के इच्छुक साहसी पुरुषों की चित्तवृत्तियाँ दास्य एवं दलबंद मज़दूर (Gang Labour)-प्रथा-विषयक प्राचीन विचारों को अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक त्यागकर यंत्र (Machine) एवं यंत्र-कला (Mechanical Power) की ओर झुक गईं।

यंत्र-क्रांति अर्थात् यंत्रों का आविष्कार और उपलब्धि मानव-अनुभव में एक नवीन बात थी और राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्रों पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा, इस बात की सर्वथा उपेक्षा करके वह उत्तरोत्तर उन्नति करती गई। इसके विपरीत मनुष्य के अन्य व्यवहारों के सदृश औद्योगिक क्रांति तो मानव-दशा में यंत्र-क्रांति-जनित भेद पड़ने के कारण अत्यंत परिवर्त्तित एवं विचलित हुई है और हो रही है। रोम प्रजातंत्र की अंतिम शताब्दियों में होनेवाले द्रव्य-संचय, क्षुद्र किसानों एवं व्यापारियों के अंत तथा महान् पूँजीपतियों के युग में और उसी के समान अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूँजी-केन्द्रीकरण में भेद केवल श्रम के रूप और दशा का है जो यंत्रों में क्रांति के कारण उत्पन्न हो रहा था। प्राचीन संसार की शक्ति तो मनुष्य-बल पर निर्भर थी। लोगों को उस समय अपने प्रत्येक व्यवहार में भुजबल और वह भी अनजान एवं पराधीन व्यक्तियों के बल का ही अंत में आसरा लेना पड़ता था। बोझ ढोनेवाले बैलों एवं खींचनेवाले घोड़ों तथा अन्य ऐसे पशुओं की शक्ति का भी इसमें थोड़ा सहारा ले लिया जाता था। बोझ उठाते थे तो मनुष्य और चट्टान काटते थे तो मनुष्य। खेती की आवश्यकता होती थी तो मनुष्य और बैल हल चलाते थे। वर्त्तमानकालीन वाष्पपोतों के स्थान में रोमवालों के पास पसीना

बड़ा रहे दंडित-दास नाविकों द्वारा खेये जानेवाले क्षुद्र जलयान थे। अतीत सभ्यकाल में अधिकांश मानव-जाति के कृत्य केवल शारीरिक श्रम एवं कष्ट उठाकर ही संपादित होते थे। कलाशक्ति (Power) संचालित यंत्रों के आविष्कार के प्रारंभ में विवेचनाहीन श्रम से छुटकारा पाने की कोई संभावना दृष्टिगोचर न होती थी। और नहरें खोदने, रेल की राह बनाने और बाँध इत्यादि तैयार करने में नर-समूहों का उपयोग किया जाता था। खनन-कार्य में भी मनुष्यों की संख्या उत्तरोत्तर बहुत बढ़ गई। मानव-सुविधाओं के विस्तार एवं विविध वस्तुओं के उत्पादन में पहले से कहीं अधिक उन्नति हो गई। उन्नी-



दास-विक्रय-युग की एक घटना

सवीं शताब्दी के जैसे जैसे अधिक वर्ष बीतते गये, तैसे-तैसे इस नई परिस्थिति का प्रभाव भी मानव-जाति पर अधिकाधिक स्पष्ट होता गया। विवेचनाहीन श्रमकार्य में मनुष्य अब सर्वथा अनावश्यक हो गया। जो कार्य केवल मनुष्य-श्रम द्वारा संपादित होता था वही अब यंत्रों द्वारा और भी अधिक सुगमता और शीघ्रता से पूरा किया जाने लगा। विवेक एवं बुद्धि द्वारा संपादित होनेवाले कार्यों के लिए ही अब मनुष्यों की आवश्यकता शेष रह गई। अथवा दूसरे शब्दों में इसको यों भी कह सकते हैं कि मनुष्य अब केवल मनुष्यत्व के लिए ही शेष

रह गया था। प्राचीन सभ्यता के आधार प्रयोजन-हीन मस्तिष्कवाले नर-शरीरधारी आज्ञानुवर्ती कायिक श्रमी रूप जंतु अब मानव-कल्याण के लिए सर्वथा अनावश्यक हो गये।

यह ध्रुव सत्य कृषि तथा खान खोदने आदि प्राचीन उद्यमों से लेकर अत्यंत नवीन धातुशोधन क्रिया तक सभी कार्यों में एक सा घटित होता है। खेती के जोतने-बोने और काटनेवाले बीसियों मनुष्यों का कार्य अब केवल तीव्र यंत्रों द्वारा हो जाता है।



प्रारम्भिक काल का कारखाना (कोलब्रुकडेल में)

रोमन-सभ्यता जहाँ सस्ते और अवनत मनुष्यों के आधार पर स्थापित थी वहाँ आधुनिक सभ्यता का पुनर्निर्माण उत्पादित सस्ती यंत्र-शक्ति पर रहा है। लगभग सौ वर्ष से कला-शक्ति (Power) तो दिन-दिन सस्ती हो रही है और मज़दूर मँहगे। यदि एक अथवा अनेक पीढ़ियों तक मशीनों का उपयोग नहीं हुआ तो उसका कारण यह था कि उस समय मानव शक्ति कलाशक्ति (Power) से सस्ती थी।

फिर मानव-व्यवहार-विषयक महान् परिवर्त्तन हो गया। अतीतकालीन सभ्यता में धनाढ्य एवं शासक दोनों ही हीनवृत्ति दासों का संचय करने के लिए प्रधानतया

संलग्न रहा करते थे। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी ज्यों-ज्यों बीतती गई त्यों-त्यों बुद्धिमानों को अधिकाधिक स्पष्ट होता गया कि हीनवृत्ति दासों की अपेक्षा जनसाधारण को अधिक उत्तम होना उचित है। यदि और किसी कारण से नहीं तो कम से कम 'औद्योगिक दक्षता' प्राप्त करने के लिए तो मनुष्य को शिक्षित होना ही चाहिए; और उसको यह तो जानना ही चाहिए कि वह क्या कर रहा है। वैसे तो जिस प्रकार एशिया में इस लाभ के प्रचार के साथ ही साथ धर्मानुयायियों में धार्मिक विश्वास द्वारा परलोक सुधारने और पवित्र पुस्तक के पाठ द्वारा धार्मिक विचारों का प्रचार करने के लिए कुछ न कुछ शिक्षाग्नि सुलगी थी, ठीक उसी प्रकार यूरोप में भी क्रिश्चियन धर्म-संबंधी सर्वप्रथम आंदोलन के प्रारंभ ही से सार्वजनिक शिक्षा की अग्नि मंद गति से बल रही थी। और क्रिश्चियन धर्म-संबंधी वाद-विवादों द्वारा अनुयायियों की संख्या बढ़ाने की इच्छा से जन-साधारण-रूपी भूमि को सार्वजनिक शिक्षा-रूपी उपज के लिए जोता भी गया। उदाहरण-तया इँगलैंड ही में उन्नीसवीं शताब्दी की तीसी और चालीसी का अंत होते न होते विविध पंथों ने पारस्परिक विद्वेष के कारण और युवा पुरुषों को अपनी ओर खींचने की इच्छा से बालकों को शिक्षा देने के लिए चर्च की जातीय (National) पाठशालाएँ, विरोधी 'बृटिश पाठशालाएँ' और रोमन कैथोलिक 'प्रारंभिक पाठशालाएँ' भी प्रतिस्पर्धावश स्थापित कर दी थीं। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध तो समस्त पश्चिमीय संसार में सार्वजनिक शिक्षा की उन्नति का समय था। इसके समान उच्च वर्गों में शिक्षा की उन्नति नहीं हुई, थोड़ी-बहुत उन्नति उनमें अवश्य हुई परंतु इस महान् प्रगति के सामने वह नहीं के बराबर थी और इसी कारण पढ़ों और अनपढ़ों को संसार में उस समय तक पृथक् करनेवाली महान् खाड़ी भी प्रायः पट गई थी। अर्थात् ऊँच तथा नीच वर्गों में शिक्षा-संबंधी भेद घटकर बहुत ही न्यून रह गया था। इस परिवर्त्तन का भीतरी कारण तो वही यंत्र-क्रांति क्रम था जो सामाजिक अवस्थाओं की तनिक सी भी परवा न कर समस्त जगत् से निरक्षरता का नाम-निशान तक अत्यंत निर्दयता-पूर्वक मिटा देने का घोर प्रयत्न कर रहा था।

रोम प्रजातंत्र की आर्थिक क्रांति को वहाँ के जनसाधारण भली भाँति कभी न समझ सके। रोम की साधारण प्रजा तत्कालीन परिवर्त्तनों को हमारे समान व्यापक एवं स्पष्ट रूप से नहीं देख सकी। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक हुई इस औद्योगिक क्रांति से प्रभावित जनसाधारण इसको एक समस्त क्रम अनुमान कर दिन प्रति दिन अधिकाधिक स्पष्टता से देखने लगे। कारण यह कि एक तो पढ़ने, वादाविवाद एवं विचार-विनिमय करने और दूसरे घूम फिरकर वस्तुओं को अपनी आँखों से अभूतपूर्व प्रकार से देखने की भी क्षमता उनमें थी।

(५९)

आधुनिक राजनैतिक एवं सामाजिक विचारों का विकास

अतीत सभ्यताओं की संस्थाओं, परंपराओं एवं राजनैतिक विचारों का उद्देश्य अथवा पूर्ण निरूपण किये बिना ही युग युग में शनैः शनैः वृद्धि हुई थी। ई० पू० छठी शताब्दी, मानव-जातियों के यौवन-दशा प्राप्त करने की वह महान् शताब्दी थी जब पुरुषों ने पारस्परिक संबंध के विषय में स्पष्टता से विचार करना प्रारंभ किया। और उसी समय मानव-शासन-संबंधी निर्णीत विश्वासों, नियमों और पद्धतियों पर आपत्ति उठा उनको परिवर्त्तित एवं पुनर्व्यवस्थित करने पर विचार किया गया।

यूनान और ऐलेक्ज़ेंड्रिया के मानसोत्कर्ष-रूपी महोज्ज्वल उषःकाल का हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। और यह भी बता चुके हैं कि दासप्रथावाली सभ्यताओं के लय, और धार्मिक असहिष्णुता तथा अनियमित शासन के बादलों का अंधकार तत्कालीन आशा-छटा पर शीघ्र ही छा गया। तदनंतर निर्भय विचारों का प्रकाश उस यूरोपीय अंधकार को पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी से पूर्व पुनः पूर्णतया छिन्न-भिन्न न कर सका। अरब-जिज्ञासा एवं मंगोलविजय-रूपी प्रचंड वायु ने यूरोपीय मानसिक आकाश-मंडल को धीरे-धीरे स्वच्छ करने में क्या भाग लिया है, इसके कुछ वर्णन का हमने प्रयत्न किया है। सर्व-प्रथम भौतिक ज्ञान की ही मुख्यतया वृद्धि हुई थी। भौतिक बल एवं उन्नति ही मानव-जाति की पुरुषत्व-प्राप्ति का प्राथमिक फल था। मानव-पारस्परिक संबंध-शास्त्र, वैयक्तिक तथा सामाजिक मानव-विज्ञान (Psychology) और शिक्षा तथा अर्थ-शास्त्र-विज्ञान तो अत्यंत सूक्ष्म एवं दुर्बोध होने के अतिरिक्त मानव-भावनाओं से अनुल्लंघ्य रूप से सम्बद्ध हैं और यही कारण है कि इनकी विकास-गति मंद एवं विरोधाकीर्ण थी। हम मनुष्यों का स्वभाव है कि तारा (Stars) और अणु (Molecules) के संबंध में तो एक दूसरे से सर्वथा विपरीत उक्तियों को अत्यंत शांति-पूर्वक सुन लेते हैं, परंतु अपने जीवन-संबंधी विचारों की चर्चा होते ही हम मर्माहत-से हो एक दूसरे की आलोचनाएँ करने लग जाते हैं।

यूनान में जिस प्रकार प्लेटो की साहसपूर्ण धारणाएँ ऐरिस्टोटिल की "सत्य की खोज" से प्रथम प्रकट हुई थीं, ठीक उसी प्रकार यूरोप में भी नवीन युग की प्रथम राजनैतिक मीमांसाओं को—प्लेटो-लिखित, प्रजातंत्र (Republic) और नियम (Laws) नामक ग्रंथों का अनुकरण कर—यूटोपिया की कहानियों के रूप में लिखा गया था। सर टॉमस मोर की यूटोपिया प्लेटो का अत्यंत ही आश्चर्यजनक अनुकरण है जिसके फल-स्वरूप इँगलिस्तान में (Poor Law) निर्धन-संबंधी एक नवीन विधान का निर्माण हुआ। नैपिल्स-निवासी कैम्पवैला की, सूर्यनगर (City of the Sun) नामक पुस्तक, जो अत्यंत अधिक असंगत थी, और निष्फल रही।

प्रचुर एवं उन्नतिशील राजनैतिक तथा सामाजिक विज्ञान-संबंधी साहित्य की सृष्टि सत्रहवीं शताब्दी का अंत होने तक हो रही थी। इस संबंध में एक प्रजातंत्रवादी अँगरेज़ का पुत्र—ऑक्सफ़ोर्ड का विद्यार्थी—जॉहन लॉक भी मार्ग-दर्शकों में गिना जाता था। इसने प्रथम, अपना समय रसायन एवं आयुर्वेद-शास्त्र के अध्ययन में व्यतीत किया था। शासन-प्रणाली, सहिष्णुता और शिक्षा-संबंधी विषयों पर इसकी पुस्तकें देखने से पता चलता है कि सम्भाव्य सामाजिक संगठन के संबंध में इसका मस्तिष्क कैसा सतर्क था। इँगलैंड के जॉन लॉक के कुछ समय पश्चात् उसी के समान फ्रांस-निवासी मॉनटैस्क (१६८९–१७५५) सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक संस्थाओं का अत्यन्त सूक्ष्म एवं मौलिक रूप से विश्लेषण कर रहा था। यहाँ तक कि फ्रांस के अनियमित व्यक्तिगत शासन और चिर-प्रतिष्ठित परंतु ऐंद्रजालिक गौरव को भी उसने छिलके के सदृश चीरकर उतार फेंका। मानव-समाज को पुनस्संगठित करने के लोगों द्वारा किये गये दृढ़ एवं सतर्क प्रयत्न में जिन थोथे विचारों के कारण रुकावटें पड़ती थीं उन्हीं थोथे विचारों को लॉक के सदृश जड़ मूल से उखाड़कर फेंकने का श्रेय इस महापुरुष को भी प्राप्त है।

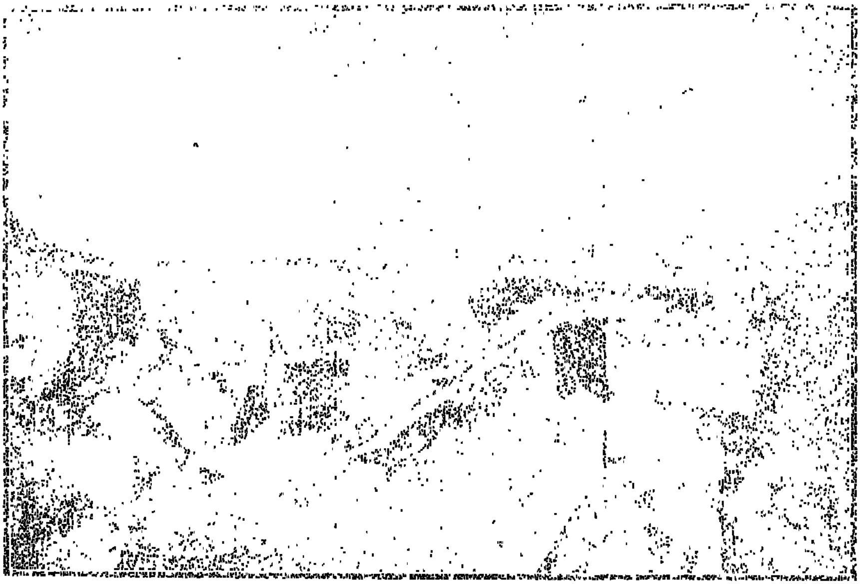
उसके द्वारा अठारहवीं शताब्दी के मध्य एवं अंतिम दशकों वाली उसकी उत्तरकालीन पीढ़ियों ने बुद्धि एवं नीति संबंधी (उसके द्वारा किये हुए) विचार-शोधन पर दृढ़ता-पूर्वक परिकल्पनाएँ प्रारंभ कर दीं। और विद्यासागर (Encyclopædists) नामधारी प्रभावशाली लेखक-समूह ने तो—जो अधिकांश में जैसुआइट संप्रदाय की उत्तम पाठशालाओं में पढ़े हुए विद्रोह-भावना-युक्त थे—अब एक नये संसार की योजना पर विचार करना प्रारंभ कर दिया (१७६६) और इन विद्यासागर लेखकों के साथ ही साथ अर्थ-शास्त्री तथा (Physiocrats) भोज्य-शास्त्री भोजन-सामग्री एवं अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति तथा सम विभाग करने के लिए भद्दी परंतु साहसपूर्ण गवेषणाएँ कर रहे थे। (कोड-द-ला-नेचर) प्राकृत न्याय नामक तत्कालीन पुस्तक के लेखक मोरली (Morelly)

ने तो वैयक्तिक संपदा की समस्त व्यवस्था का धिक्कार कर समाज का समष्टिवाद संगठन करने की राय दी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के—साम्यवादी कहकर पुकारे जानेवाले—विस्तृत एवं विविध पंथानुयायी दार्शनिकों एवं विचारकों का यही पुरुष वास्तव में अग्रयायी था।

साम्यवाद (Socialism) क्या है? साम्यवाद की सैकड़ों परिभाषाएँ हैं और साम्यवादियों के सहस्रों पंथ हैं, परन्तु साम्यवाद वास्तव में, सार्वजनिक कल्याण के दृष्टिकोण से, संपत्ति-विचार की विवेचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस विषयक युग-युगांतर के इतिहास की अत्यंत संक्षेप में यहाँ आलोचना करेंगे। साम्यवाद एवं अंतरराष्ट्रीयता, इन्हीं दो विचारों पर हमारे राजनैतिक जीवन का परिवर्त्तन अवलंबित है।

प्राणि-विशेष (Species) की सामरिक नैसर्गिक वृत्ति (Combative instincts) के कारण ही स्वामित्व के विचार की उत्पत्ति हुई है। मनुष्य के वर्त्तमान रूप एवं प्रकृति प्राप्त करने से बहुत समय पूर्व उसका पूर्वज—वानर—भी स्वामित्व रखता था। जिसके लिए पशु युद्ध करे वही आद्य-संपत्ति है। कुत्ता और उसकी हड्डी, शेरनी और उसकी गुहा, गर्जन करनेवाला बारहसिंगा और उसका झुंड सभी स्वामित्व के ज्वलन्त उदाहरण हैं। समाजशास्त्र (Sociology) में जो आद्य-समष्टिवाद (Primitive Communism) पद व्यवहृत किया गया है, उससे अधिक असंगत उक्ति तो ध्यान में भी नहीं आ सकती। प्राचीन पाषाण-युग में प्रत्येक कुनबे का बड़ा-बूढ़ा भी स्त्रियों, दुहिताओं, औज़ारों और अपने को दीख पड़नेवाले समस्त सांसारिक पदार्थों पर दृढ़तापूर्वक स्वामित्व जमाये हुए था। दिखाई देनेवाले अपने उस संसार में किसी अन्य पुरुष के हस्तक्षेप करते ही वह उससे युद्ध करने, और संभवतया उसको मारने, के लिए उद्यत हो जाता था। जैसा कि ऐटकिन्सन ने आद्य-न्याय (अर्थात् Primal Law) नामक पुस्तक में निश्चयात्मक रूप से दर्शाया है, युग-युगांतर में बड़े-बूढ़ों द्वारा शनैः-शनैः नवयुवकों का अस्तित्व एवं वंश के बाहर की अपहरण की हुई वधुओं, उनके स्वयं बनाये हुए आभूषणों, औज़ारों तथा अपने हाथ से मारे हुए आखेट में उनका स्वामित्व स्वीकार करने की सहिष्णुता दिखाने पर, वंश-वृद्धि हुई थी। अपने स्वामित्व एवं दूसरों के अस्तित्व तथा अधिकार-विषयक समझौते होते रहने पर ही मानव-समाज की वृद्धि हुई है। दिखाई देनेवाले संसार से किसी अन्य वंश को निकाल बाहर करने की आवश्यकता के कारण ही मनुष्यों को विवश हो स्वाभाविक प्रवृत्ति (Instincts) के विरुद्ध समझौतों की शरण लेनी पड़ी। पर्वतमालाएँ, वन और नदियाँ 'मेरी' या 'तुम्हारी' किसी एक की मिलकियत न थीं तो इसका कारण यह था कि प्रत्येक की रुचि तो उस पर अपना अधिकार जमाने की थी, परंतु

यह बात संभव न थी; क्योंकि उस दशा में दूसरे लोग आकर हमारा सत्यानाश कर डालते अतएव वैयक्तिक स्वामित्व का न्यूनीकरण ही समाज का आदि-कारण है। आद्यकालीन असभ्य मनुष्य और पशुओं में स्वामित्व के ये भाव, वर्त्तमान सभ्य संसार की अपेक्षा अधिक उग्र थे और हमारी विवेचना-शक्ति की अपेक्षा स्वाभाविक प्रवृत्तियों (Instincts) में अधिक दृढ़तापूर्वक जड़ जमाये हुए हैं।



कोयले की खान का भीतरी दृश्य

प्राकृतिक जंगली एवं अशिक्षित पुरुषों में अमित स्वामित्व के भाव आजकल भी पाये जाते हैं। स्त्रियाँ, युद्ध-बंदी, पकड़े हुए पशु, वन-गुल्म तथा पथरीली गुहा आदि सभी वस्तुएँ जिनके लिए युद्ध या झगड़ा हो सकता है उनके विचार में अधिकार करने अथवा स्वामित्व की वस्तुएँ हैं। फिर जैसे-जैसे समाज का विकास होता गया तैसे-तैसे प्राणापहारी पारस्परिक युद्धों की रोक-थाम के लिए भी प्रकार-विशेष के विधान बन गये, और लोगों ने प्रत्युत्पन्नमति द्वारा उलटे सीधे नियम बना 'स्वामित्व' का भी निर्णय कर दिया। (उस नियम के अनुसार) जिस वस्तु को जो सर्वप्रथम बनाता, पकड़ता या अधिकृत करता था, वही उसका स्वामी माना जाता था। ऋण न चुकानेवाला ऋणी उनकी

दृष्टि में नैसर्गिकतया महाजन की संपत्ति हो जाता था। इसी प्रकार किसी धरती के टुकड़े पर अधिकार प्रतिपादन करने पर उसको बरतनेवाले अन्य पुरुष से बलात् मूल्य ग्रहण करना भी भू-स्वामी के लिए युक्तिसंगत माना जाता था। फिर शनैः-शनैः सुव्यवस्थित जीवन के विकास की संभावना होने पर प्रत्येक वस्तु में ऐसे अमित अधिकार बाधारूप प्रतीत होने लगे। यहाँ तक कि संसार में जन्म लेते ही मनुष्य ने अन्य समस्त वस्तुओं पर ही नहीं वरन् अपने शरीर पर भी दूसरों को स्वत्व जमाते एवं अधिकार प्रतिपादन करते पाया। अधिक प्राचीन सभ्य संसार के सामाजिक झगड़ों को चिह्नित करना तो इस समय कठिन है परंतु रोम प्रजातंत्र के उपरोक्त इतिहास से यह अवश्य पता चलता है कि ऋण के लोक-अहितकर हो जाने पर उसको चुकाना अनावश्यक हो जाता है; और धरती पर भी अमित वैयक्तिक अधिकार मानना क्लेशदायक है। पश्चात्कालीन बैबिलोनिया में भी "दासों" पर स्वामियों के अधिकार अधिक संकुचित कर दिये गये थे। और अंत में महान् क्रांतिकारी नैज़रेथ के जीसस द्वारा दिये हुए उपदेशों में तो 'सम्पत्ति' पर अभूतपूर्व रूप से अत्यंत प्रचण्ड आक्रमण पाया जाता है। उनका तो यहाँ तक कहना था कि संपत्तिशाली पुरुषों के स्वर्ग-राज्य-प्रवेश की अपेक्षा ऊँट का सुई के नाके के भीतर से होकर निकलना कहीं अधिक सुगम है। सम्पत्ति-अधिकार की न्यायोचित सीमा क्या है इस विषय में गत बीस-पच्चीस शताब्दियों से संसार में निश्चल रूप से निरंतर विवेचनाएँ होती देख पड़ती हैं और नैज़रेथ के जीसस के उन्नीस सौ वर्ष उपरांत समस्त क्रिश्चियन धर्मानुयायी जगत् की यह धारणा हो गई है कि 'मानव-तनु-धारी' किसी की संपत्ति नहीं हो सकता। "प्रत्येक मनुष्य अपनी संपत्ति का चाहे जैसा उपयोग कर सकता है" यह भाव अब अन्य वस्तुओं के संबंध में भी बहुत कुछ अस्थिर हो गया है।

परंतु अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों तक संसार में यह विषय केवल प्रश्नात्मक रूप में ही था। इस संबंध में उस समय तक कोई बात स्पष्ट ही नहीं हुई थी फिर क्रियात्मक रूप में लाने के लिए निश्चय किस प्रकार हो सकता था। उस समय प्राथमिक प्रवृत्ति यही थी कि राजाओं के लोभ एवं अपव्यय तथा विशेष कुलाभिभूतों के विक्रांत कर्मों से संपत्ति की रक्षा किस प्रकार की जाय। मुख्यतया राज-घरों से वैयक्तिक संपत्ति की रक्षा करने के लिए ही फ्रांस की क्रांति का जन्म हुआ था। परंतु क्रांति का 'नवीकरण' सिद्धान्त जो 'संपत्ति' की रक्षा करने के लिए था, अब स्वयं संपत्ति की विवेचना में लग गया। "मनुष्य स्वतंत्र और एक दूसरे के समान क्योंकर हो सकते हैं कि जब वस्तुओं के खड़े होने के लिए भूमि और भोजन के लिए यत्किंचित् अन्न भी नसीब नहीं होता; बिना श्रम के मालिक या पूँजीपति न तो भोजन ही देते हैं और न विश्राम?" यही था निर्धनों का लोकव्यापी क्रन्दन।

एक प्रभावशाली राजनैतिक दल के विचारानुसार इस समस्या की पूर्ति 'विभाजन-नीति' द्वारा हो सकती थी; और 'विभाजन-नीति' को चरम सीमा तक पहुँचाकर ये लोग संपत्ति को सार्वजनिक बनाया चाहते थे। परंतु आद्य-साम्यवादी, जिनको यथार्थ में समष्टि-वादी कहना चाहिए, इस ध्येय पर दूसरी राह से—अर्थात् वैयक्तिक संपत्ति का विनाश कर—पहुँचा चाहते थे। इनके मतानुसार समस्त संपत्ति पर राज्य ही का (जिससे यहाँ तात्पर्य प्रजातंत्र का है) स्वामित्व है।

स्वतंत्रता एवं सुख के उसी अंतिम ध्येय पर पहुँचने के लिए एक समूह का संपत्ति-स्वामित्व को यथासंभव अनियंत्रित करना और दूसरे समूह द्वारा उसका सर्वथा विनाश करने का प्रयत्न होना, असत्याभास सा है परंतु उस समय वास्तव में हो यही रहा था। स्वामित्व तो एक अधिकार-विशेष न होकर भिन्न भाँति के अधिकार-समूह का नाम है, और यह बात समझ लेने पर उपरोक्त असत्याभास ही का लोप हो जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी का अधिकांश बीत जाने पर मनुष्यों ने कहीं यह अनुभव किया कि स्वामित्व तो एक सरल अधिकार-विशेष न होकर न्यूनाधिक उपादेय एवं भिन्न फलप्रद महान् अधिकार संकुल का नाम है। और जहाँ एक ओर (मनुष्य-देह, शिल्पी के यंत्र, वस्त्र-अवधान, दाँत साफ़ करने के ब्रुश इत्यादि) कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जो सर्वतोभावेन अपरिहार्य रूप से वैयक्तिक संपत्ति हैं वहाँ दूसरी ओर रेल, विविध भाँति के यंत्र (मेशीन), निवासस्थान, सुसज्जित उपवन और केलि-नौका इत्यादि अन्य ऐसे अमित वस्तुवर्ग भी हैं जिनमें से प्रत्येक के संबंध में यह बात विशेष रूप से विचारणीय है कि उनमें से प्रत्येक में किस परिमाण एवं विशेषावस्थाओं में वैयक्तिक संपत्ति मानी जा सकती है और किस दशा में सार्वजनिक अधिकार मानकर उस पर राज्य-प्रबन्ध होना और सार्वजनिक व्यवहार (Interests) के लिए उसका राज्य द्वारा नियमित होना अधिक उचित होगा। व्यवहार्य्य दृष्टि से ये प्रश्न राजनीति एवं शासन निर्माण तथा उसकी व्यवस्था के अंग हैं। इनसे सामाजिक मानस-विज्ञान (Social Psychologs)-विषयक समस्याएँ भी उठ खड़ी होती हैं और शिक्षा-विज्ञान संबंधी गवेषणाएँ भी प्रभावित होती हैं। संपत्ति की वैज्ञानिक विवेचना आज तक नहीं हुई है और अभी तक वह अपरिमित एवं प्रचण्ड मनोवेगों के रूप में ही विद्यमान है। एक ओर तो वैयक्तिकवादी हैं जो हमारे वर्त्तमानकालीन यत्किंचित् अवशेष अधिकारों का संरक्षण एवं विस्तार किया चाहते हैं और दूसरी ओर हैं साम्यवादी जो बहुत दिशाओं में हमारे स्वत्वाधिकारों एवं स्वत्व व्यवहारों (Proprietory Acts) को संकुचित एवं नियंत्रित करने के लिए उत्सुक हो रहे हैं। शासन-पद्धति को स्थिर करने के लिए भी राजकर लगाने में आपत्ति उठानेवाले घोर वैयक्तिकवादियों से लेकर

वैयक्तिक रूप से अवशिष्ट कुछ भी भोगाधिकार न माननेवाले समष्टिवादियों तक उत्तरोत्तर विचारवादी अनेक श्रेणी के पुरुष हमको व्यवहार रूप से दृष्टि-गोचर होते हैं। आज-कल के साधारण साम्यवादियों को तो वास्तव में (Collectivists) समूहवादी कहना चाहिए। इनके मतानुसार बहुत अधिक वस्तुएँ तो वैयक्तिक संपत्ति ही रहनी चाहिएँ; परंतु शिक्षा, आवागमन के साधन, खानें, भू-स्वामित्व (Land owning), बहुत से खाद्य पदार्थों का सांघिक रूप से उत्पादन इत्यादि का विशेष सुव्यवस्थित राज्यों के अधिकार ही में रहना योग्य है। आज-कल समझदार लोगों का झुकाव वैज्ञानिक रूप से अनुशीलन एवं आयोजित किये हुए साम्यवादीय क्रम की ओर शनैः-शनैः हो रहा है। बड़े-बड़े उपक्रमों में अशिक्षित मनुष्य सुगमता एवं सफलता-पूर्वक सहयोग नहीं कर सकते, इसका भी अब अधिकाधिक स्पष्टता से अनुभव होने लगा है। शासन-पद्धति को अधिक विषम बनाने और प्रत्येक वैयक्तिक व्यवसाय के अंश को राज्य द्वारा हस्तगत करने पर पद-पद में, उसी के अनुरूप शिक्षोन्नति और युक्तिसंगत विवेचना के विधान एवं सुव्यवस्थित नियंत्रण की अत्यंत आवश्यकता होती है। और वर्त्तमानकालीन राज्यों के प्रेस (छापाख़ाना) और राजनैतिक-मार्ग दोनों ही सामूहिक व्यवसायों को (Collective activities) और भी अधिक विस्तृत करने के लिए सर्वथा भद्दे और अपूर्ण हैं।

परंतु कुछ काल तक मज़दूरों और मालिकों—और वह भी विशेषतया स्वार्थी मालिकों और असंतुष्ट श्रमिकों—की आपस की तनातनी के कारण एक ऐसा अत्यंत क्रूर प्रारंभिक-समष्टिवाद समस्त संसार में फैला जो कार्ल मार्क्स के नाम से संयोजित किया जाता है। मार्क्स ने अपने सिद्धांत इस तर्क के आधार पर स्थापित किये थे कि आर्थिक आवश्यकताओं के कारण मनुष्यों की मति (Minds) संकुचित हो जाती है; और ऐसी दशा होने पर आधुनिक सभ्यता के समय में ऐश्वर्यशाली स्वामिवर्ग (Employing class) और मज़दूर-समूह का पारस्परिक हित-विषयक विरोध अवश्यम्भावी है। शिक्षोन्नति होने पर, जो यंत्रक्रांति के कारण आवश्यक है, यह बहुसंख्यक मज़दूर दल अधिकाधिक वर्ग-शक्ति-ज्ञान (Class Consciousness) लाभ कर अपने ऊपर शासन करनेवाले इन वर्ग-शक्ति-ज्ञान-युक्त अल्पसंख्यकों का अधिकाधिक दृढ़ता से विरोधी बन जायगा। और फिर वर्ग-शक्ति संज्ञा प्राप्त ये मज़दूर लोग किसी न किसी प्रकार से शक्ति ग्रहण कर एक नवीन साम्यवादी (Socialist) राज्य स्थापित करेंगे, यही मार्क्स की भविष्यवाणी थी। विरोध, विद्रोह और संभवतः क्रांति - इन तीन बातों का होना तो समझ में आ सकता है; परंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि समाज को छिन्न भिन्न करने के अतिरिक्त कोई नवीन साम्यवादी राज्य, या कोई अन्य उपादेय वस्तु या समाज-विधान इसके द्वारा किसी प्रकार

उत्पन्न हो सकता है। परीक्षण करने पर, जैसा कि हम आगे चलकर दिखायेंगे, यह सामंजस्य भी रूस में अत्यंत आश्चर्यकारक रूप से निरर्थक सिद्ध हुआ है।

मार्क्स ने जातीय विरोध के स्थान में, वर्ग(Class)-विरोध की स्थापना का प्रयत्न किया और उनके अनुयायियों ने प्रथम, द्वितीय और तृतीय अंतर्-राष्ट्रीय मज़दूर सम्मेलन की क्रमशः आयोजना की। परंतु आधुनिक वैयक्तिकवाद का अनुसरण करते हुए भी हमारे लिए अंतर्-राष्ट्रीय विचारों तक पहुँचना संभव है। धुरंधर अँगरेज़ अर्थ-शास्त्री ऐडम स्मिथ (Adam Smith) के समय से यह बात दिन-दिन अधिकाधिक स्पष्ट हो रही है कि जगत्व्यापी ऐश्वर्ययुग लाने के लिए समस्त भू-मंडल पर स्वतंत्र एवं अप्रतिबाधित रूप से व्यापार होना आवश्यक है। वैयक्तिकवादी भी अपने राज्य-विद्वेष के कारण आयात निर्यात कर, राज्य-सीमा और उन समस्त-बन्धनों के घोर विरोधी होते हैं जो अप्रतिबाधित कार्य एवं गति की रोक-थाम के लिए राज्य-सीमाओं के कारण उचित प्रतीत होते हैं। एक दूसरे से सर्वथा भिन्न भाव एवं तत्त्व वाले ये दोनों मत अर्थात् मार्क्स-अनुयायियों द्वारा वर्गीय-विरोधोपदेशी साम्यवाद और विक्टोरिया-युग के अँगरेज़ व्यापारियों का वैयक्तिकवादमय स्वतंत्र व्यापार का दार्शनिक वाद—प्राथमिक विभिन्नताओं के होते हुए भी—विश्वव्यापी मानव-व्यवहारों के नवीन उपचार के लिए, राज्य-सीमा एवं राज्य-प्रतिबन्धों को छेंककर अग्रसर हो रहे हैं। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। सैद्धान्तिक तर्क वास्तविकता के सामने नहीं ठहर सकता। और हम भी अब यह समझने लगे हैं कि संपूर्णरूपेण विभिन्न आधारों पर स्थित होते हुए भी वैयक्तिक-वाद और साम्यवाद दोनों एक ही सर्वसामान्य गवेषणा के अंग हैं। सामाजिक एवं राजनैतिक भावों तथा उनकी व्याख्याओं को विशद करना इस गवेषणा का ध्येय था जिससे सब मनुष्य सम्मिलित होकर कार्य कर सकें। और जैसे-जैसे मनुष्यों का विश्वास पवित्र रोम-साम्राज्य एवं क्रिश्चियन धर्म में कम होता गया वैसे-वैसे इस गवेषणा में तीव्रता की मात्रा भी बढ़ती गई और जैसे-जैसे मानव-ज्ञान-क्षेत्र विशद होता गया तैसे-तैसे भूमध्य-सागर-सरीखे छोटे भू-भाग का स्थान समस्त भू-मंडल लेता गया।

सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक विचारों की आज तक जिस प्रकार उन्नति एवं विकास हुआ इसका पूरा विवरण लिखने पर तो ऐसे विवादग्रस्त प्रश्न उठ खड़े होंगे जो इस पुस्तक के विषय एवं अभिप्राय दोनों ही से सर्वथा भिन्न होंगे। संसारेतिहास के विद्यार्थी के विशद दृष्टिकोण से (कि जिससे यह पुस्तक लिखी गई है) हमको यह मानना पड़ता है कि ऐसे निर्देशक विचारों के, मानव-मस्तिष्क में पुनर्निर्माण का कार्य अभी तक अधूरा पड़ा है। और इस समय हम यह भी नहीं बता सकते कि यह कार्य कहाँ तक पूरा

हो सका है। कुछ ऐसे सर्वसामान्य विश्वास अवश्य प्रकट हो रहे प्रतीत होते हैं जिनका राजनैतिक घटनाओं तथा वर्त्तमानकालीन सार्वजनिक कार्यों पर स्पष्टतया प्रभाव पड़ रहा है। परंतु वे अर्थात् सर्वसामान्य विश्वास इतने स्पष्ट एवं विश्वासोत्पादक नहीं हुए हैं कि विवश होकर लोग सुव्यवस्थित एवं नियमित विधि से उनकी दृढ़तापूर्वक अनुभूति कर सकें। परंपरागत (Traditions) और नूतन विचारों के मध्य, मनुष्यों की प्रवृत्तियाँ दोलायमान हो रही हैं। और अधिकांश में वे परंपरागत विचारों की ओर ही अधिक झुकती हैं। परंतु अभी हाल के किसी मानव जीवन-काल की तुलना करने पर हमको पता चल जायगा कि इस समग्र मानव व्यवहारों में एक नवीन व्यवस्था की बाह्य रेखा अंकित हो रही है। यह बाह्यरेखा अभी अपूर्ण और यत्र-तत्र धुँधली तथा मिटी हुई भी है और इसके भिन्न-भिन्न अंश नियमादिक भी स्थिर नहीं हैं। परंतु यह सब होते हुए भी यह दिन-प्रतिदिन दृढ़तापूर्वक अधिक स्पष्ट हो रही है और इसकी प्रधान रेखाएँ भी अधिकाधिक न्यून परिवर्त्तनशील होती जाती हैं।

यह भी अब प्रत्येक वर्ष अधिकाधिक स्पष्ट हो रहा है कि मनुष्य-जाति बहुत से विषयों एवं उन्नतोन्मुख मानव-व्यापार-पथों में एक समाज अथवा वर्ग सदृश बनती जाती है अतः यह अधिकाधिक आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसे विषयों में जगद्व्यापी एक ही सार्वजनिक नियंत्रण स्थापित हो जाय। उदाहरणार्थ यह कहना अधिक ठीक है कि इस समय आर्थिक दृष्टि से समस्त भूमंडल एक ही समाज सा बन गया है और उसके नैसर्गिक साधनों से उचित रूप से लाभ उठाने के लिए एक व्यापक निर्देश की आवश्यकता है; और उपलब्धियों (Discovery) के कारण मानव-प्रयत्नों का बल एवं विस्तार बढ़ जाने से वर्त्तमान-कालीन परस्पर-विरोधी खंडशासन द्वारा इन मानव-व्यवहारों का संपादन करना अधिकाधिक नाशकारी एवं भयदायक हो गया है। इसी प्रकार आय तथा धन (Financial and monetary)-विषयक साधन भी सार्वभौमिक कल्याण की वस्तु हो जाते हैं और उनका सफल व्यवहार उसी दशा में हो सकता है कि जब उनका भी नियंत्रण सार्वभौमिक विधि से किया जाय। संक्रामक रोग, जन-संख्या की वृद्धि और उसका प्रवास इत्यादि विषय भी अब स्पष्टतया जगद्-व्यापी समस्याएँ हुए प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त मानव-प्रगतियों की शक्ति एवं विस्तार की वृद्धि ने युद्ध को पहले की अपेक्षा अब कहीं अधिक नाशकारी और अव्यवस्थापक बना दिया है। ये भद्दे तरीके (अर्थात् युद्ध) राज्यों तथा जातियों के पारस्परिक झगड़े तथा समस्याएँ सुलझाने में विफल होते हैं। अतएव ये सब विषय एक ऐसी नियंत्रणकारी एवं अधिकारयुक्त संस्था की आवश्यकता के द्योतक हैं जो अद्यावधि नियंत्रणों से कहीं अधिक विस्तृत एवं व्यापक हो।

परंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि इन प्रश्नों का समाधान करने के लिए वर्त्तमान राज्यों को जीतकर अथवा उनके संयोजन द्वारा एक सर्वोपरि चक्रवर्त्ती शासन स्थापित किया जाय। मानव-जाति की विद्यमान संस्थाओं के अनुरूप लोगों ने समस्त पृथ्वी-मंडल की पार्लियामेंट कांग्रेस अथवा सार्वभौमिक प्रेसीडेंट या चक्रवर्त्ती सम्राट् की भी कल्पना की है। मानव-स्वभाव की प्रतिक्रिया (Natural reactions) तो सर्वप्रथम इसी निष्कर्ष की ओर झुकती है। परंतु गत अर्ध-शताब्दी के उपदेशों एवं प्रयत्नों के संबंध में जो वादविवाद एवं अनुभव हुआ है उससे मनुष्य-जाति का विश्वास इस प्राथमिक स्पष्ट विचार से सर्वथा शिथिल हो गया। संसार में इस विधि से ऐक्य स्थापित करने की राह में अत्यंत अधिक रुकावटें हैं। इन तथा अन्य विषयों के संबंध में आजकल की विचार-धारा तो ऐसी विशेष कमेटियों अथवा संस्थाओं के अनुकूल है कि जिनको वर्त्तमान राज्यों द्वारा जगत् व्यापी अधिकार प्राप्त हो। नैसर्गिक संपदा का विकास अथवा व्यय संबंधी प्रश्न, मज़दूरों की परिस्थिति के समीकरण की समस्या, संसार की शांति, मुद्रा-प्रचार, प्रजा, स्वास्थ्य आदि इसी प्रकार के अन्य विषयों पर कमेटियों का अधिकार रहना चाहिए।

सार्वभौमिक शासन की विद्यमानता न प्रतीत होते हुए भी सब संसार यह अनुभव कर सके कि उसकी सर्वहितसाधक समस्याओं का एक व्यापार की भाँति प्रबन्ध किया जा रहा है। इतना भी मानवैक्य जब तक स्थापित न हो और जब तक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय समझौते देश-प्रेमियों की शंका, संदेह और मत्सर-सीमा की पहुँच के बाहर न हो जायँ तब तक इस बात की आवश्यकता है कि प्रत्येक जाति के मस्तिष्क मानवैक्य के भावों से ओत-प्रोत हो जायँ और समस्त मानव-जाति एक कुटुम्ब के सदृश है। यह भाव सार्वजनिक शिक्षा द्वारा सबकी बुद्धियों में बैठा देना चाहिए।

गत बीस और इससे भी अधिक शताब्दियों से सर्वमान्य महान् धर्मों के उद्देश्य की यही चेष्टा रही है कि मनुष्य मात्र में भ्रातृत्व के भाव फैल जायँ परंतु जातीय, वर्गीय और राष्ट्रीय ईर्ष्या, द्वेष एवं अविश्वास-संघर्ष इस कार्य में बाधा डाल रहे हैं और प्रत्येक मनुष्य को मानव-समाज का सेवक बनानेवाले विशद विचार एवं उदार भावों का सफलता-पूर्वक विरोध कर रहे हैं। ईसा की छठी और सातवीं शताब्दियों में अव्यवस्था एवं व्यग्रता फैल जाने पर क्रिश्चियन-धर्म-प्रसार के भाव ने जिस प्रकार यूरोप की आत्मा को वशीभूत करने का प्रयत्न किया था उसी प्रकार इस समय भ्रातृत्व के भाव मानव-आत्माओं को अधिकृत करने की चेष्टा कर रहे हैं। इन भावों के प्रसार एवं मनुष्यों के हृदयंगम करने के कार्य के लिए तो सहस्रों अलक्षित एवं निष्ठावान् धर्मप्रचारकों (Missionaries)

को नियुक्त करना चाहिए। यह कार्य कितना निबट चुका है, अथवा इसमें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है यह तो कोई समसामयिक लेखक अनुमान या तर्क द्वारा भी नहीं बता सकता।

सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ राष्ट्रीय समस्याओं में अपृथक् रूप से मिली हुई प्रतीत होती हैं। परंतु यह गुत्थी ऐसे सेवा-भाव ही से सुलझ सकती है जो मानव-हृदय में प्रवेश कर उसको उत्साहित कर सके। सर्वहितकारी साधनों के विरोधी, वैयक्तिक आधिपत्य एवं कार्यशीलता में पाये जानेवाले अविश्वास, अदम्यता तथा अहंकार के भाव, जातिगत अविश्वास, अदम्यता, एवं अहंकार के रूप में बिंबित और प्रतिबिंबित होते हैं। जातियों और सम्राटों की मुष्टिबंध लोलुपता व्यक्तिगत अधिकारलोलुपता का बृहत् प्रतिबिंबित रूप है। और ये फल हैं व्यक्तिगत स्वाभाविक प्रवृत्तियों (Tendencies), अज्ञान तथा प्राचीन परंपराओं के (Traditions)। जातियों का साम्यवाद ही अंतर्-राष्ट्रवाद के नाम से पुकारा जाता है। इन समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करनेवाला कोई भी पुरुष यह अनुभव नहीं करता कि मनुष्यों के पारस्परिक समागम एवं सहयोग रूपी समस्या को सुलझाने के लिए मानस-विज्ञान (Psychological Science) में इस समय पर्याप्त बल एवं गंभीरता तथा बुद्धिपूर्वक तैयार की हुई किसी वर्त्तमान शिक्षा संबंधी योजना वा संस्था में इतनी क्षमता आ गई है कि यह कार्य वास्तविक रूप से पूर्णतया सफल हो सके। सन् १८२० में लोगों में बिजली द्वारा चलनेवाली रेलगाड़ियाँ बनाने की जिस प्रकार योग्यता न थी उसी प्रकार संसार में सफलतापूर्वक शांति स्थापित करनेवाली किसी संस्था की योजना करने की हममें भी इस समय क्षमता नहीं है। परंतु जितना भी ज्ञान हमको इस समय प्राप्त है उससे इस प्रश्न की साधना सुखसाध्य है, और हो सकता है कि वह साधना हमारे अत्यन्त ही निकट हो।

मनुष्य की गति अपने ज्ञान तक ही परिमित है और विचारों की दौड़ समसामयिक विचारों से आगे नहीं जा सकती। अतएव युद्ध और अपव्यय, शंका और आपदा में रहकर मनुष्य-समाज को अभी और कितनी पीढ़ियाँ बितानी होंगी और उद्देश्यहीन तथा अपव्यय-ग्रसित जीवन-रूपी रात्रि का अंत कर व्यक्तियों के हृदय एवं समस्त संसार को शांति देनेवाला उषःकाल—जिसकी ओर समस्त इतिहास इंगित करते हुए प्रतीत होते हैं—कब प्रारंभ होगा, अनुमान द्वारा यह बताना अथवा इसका भविष्य-ज्ञान होना हमारे लिए असंभव है। हमारी उपरोक्त प्रस्तावित साधनाएँ अभी अपक्व और संदिग्ध हैं; शंका और उद्वेगों ने उनको घेर रखा है। बौद्धिक पुनर्निर्माण का महान् कार्य चल रहा है, परंतु अभी तक वह अधूरा है और हमारे विचार दिन-प्रतिदिन अधिक स्पष्ट एवं यथार्थ होते जा रहे हैं,

शीघ्रता से अथवा धीरे धीरे, यह बताने में हम असमर्थ हैं। ज्यों-ज्यों वे अधिक स्पष्ट होंगे त्यों-त्यों मनुष्यों के मस्तिष्क एवं कल्पनाओं पर उनका प्रभाव अधिक होता जायगा। इस समय विश्वास और यथार्थ ज्ञानहीनता ही उनके ग्रहण-शक्ति के अभाव का कारण है। अव्यवस्थित एवं विविध भाँति से प्रदर्शित होने के कारण ही उनका मिथ्या-ज्ञान हो रहा है। परंतु विश्वास और यथार्थ ज्ञान प्राप्त होते ही संसार का यह नवीन दृश्य आकर्षक शक्ति प्राप्त कर लेगा और इसका शीघ्रतया प्रादुर्भाव होना भी संभव है। अधिक स्पष्ट विवेचना-शक्ति के होते ही शिक्षा-संबंधी पुनर्निर्माण-कार्य न्यायतः प्रारंभ होना अवश्यम्भावी है।

(६०)

संयुक्त राज्य की विस्तार-वृद्धि

उत्तरीय अमेरिका ही एक ऐसा भू-भाग है जहाँ आवागमन-संबंधी नवीन आविष्कारों ने शीघ्रता से अत्यत अद्भुत फल दिखाये हैं। राजनैतिक दृष्टि से मध्यभागीय अठारहवीं शताब्दी के उदार भावों का न केवल सयुक्त राज्य में समावेश था वरन् वे उसकी राज्य-व्यवस्था में स्फटिक की भाँति घनीभूत हो रहे थे। उस देश ने राज्य-धर्म एव राज-मुकुट का बहिष्कार कर दिया और उपाधियों का भी प्रयोजन न रखा। अक्षुण्ण स्वातन्त्र्य का अंग मानकर 'संपत्ति' की रक्षा भी वहाँ अत्यंत सावधानी से की जाती थी। प्रारंभ में इस कार्य का संपादन विभिन्न राज्यों में भिन्न भाँति से होता था; और प्रायः प्रत्येक युवा नागरिक (मनुष्य) को 'वोट' (सम्मति) देने का अधिकार प्राप्त था। वोट देने की प्रथा असभ्य एवं असंस्कृत होने के कारण तद्देशीय राजनैतिक जीवन अत्यंत शीघ्रता-पूर्वक सुव्यवस्थित पार्टी (अर्थात् दलबंदी) रूपी मशीन में आ पड़ा। परंतु तिस पर भी यह नूतन स्वातंत्र्य-प्राप्त प्रजा शक्ति, साहस एवं सार्वजनिक भावों की उन्नति में अपने समस्त समसामयिकों से अधिक आगे बढ़ गई।

इसके पश्चात् स्थानांतर-गमन के उपरोक्त साधनों की गति में उन्नति का प्रादुर्भाव हुआ। कैसे आश्चर्य की बात है कि स्थानांतर-गति के साधनों की इस उन्नति को अमेरिका देश ने—जिसका सर्वस्व उन्हीं पर अवलंबित है—सबसे कम प्रतीत किया है। रेल-गाड़ी, स्टीम-जलयान (बाष्प द्वारा चलनेवाली नाव) और बिजली के तार इत्यादि को संयुक्त-राज्य ने अब ऐसा अपनाया है मानों ये भी उसकी उन्नति के अंग थे। परंतु बात ऐसी न थी; ये वस्तुएँ तो अमेरिका में ठीक ऐसे समय पहुँचीं कि वहाँ की एकता सुरक्षित रह गई। वर्त्तमान-कालीन संयुक्त-राज्य का निर्माण सर्वप्रथम तो स्टीम-बोट और तत्पश्चात् रेल द्वारा हुआ है। इनके बिना आधुनिक संयुक्त-राज्य या यों कहो कि महाद्वीप-निवासिनी इस जाति का अस्तित्व ही असंभव था। उस दशा में तो जन-संख्या का प्रसार भी पश्चिम

दिशा की ओर मंथर गति से होता और बहुत संभव है कि बीच के बड़े-बड़े मैदानों को वह पार ही न कर सकती। समुद्र-तट से मिस्सौरी तक (जो महाद्वीप के अद्धम से कम में स्थित है) पक्के उपनिवेश स्थापित करने ही में लगभग दो सौ वर्ष लग गये थे। सन् १८२१ में मिस्सौरी पार का सर्वप्रथम स्टीम-बोट राज्य स्थापित हुआ और फिर प्रशान्त महासागर तक शेष भूमि में उपनिवेश कुछ ही वर्षों में स्थापित हो गये।

हमारे पास यदि सिनेमा के उपयुक्त साधन होते तो सन् १६०० के पश्चात् के उत्तरीय अमेरिका के वर्ष-वर्ष के चित्र दिखाना अत्यंत ही कौतूहलजनक होता। इनमें सहस्रों पुरुषों की जन-संख्या को छोटे बिंदुओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता। प्रत्येक सौ मनुष्यों के लिए एक बिंदु लगाया जाता और एक लाख मनुष्यों की जन-संख्यावाले नगरों को तारा चिह्न द्वारा दिखाया जाता। पाठकों को इन चित्रों में यह बिंदुजाल, दो सौ वर्ष तक, तटस्थ ज़िलों और नौ-गम्य नदियों के किनारे-किनारे, इंडियाना, कैंटकी इत्यादि के इलाक़ों में होकर धीरे-धीरे बढ़ता हुआ दिखाई देगा। इसके पश्चात् सन् १८१० के लगभग एक परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होगा और नदियों के तट पर अधिक चहल-पहल होती दिखाई देगी और इन बिंदुओं की संख्या में भी अधिक शीघ्रतापूर्वक वृद्धि एवं विस्तार प्रतीत होगा। इसका हेतु होगा स्टीम-बोट। फिर कुछ ही काल पश्चात् पुरोगामी बिंदु, कन्सास और नैब्रास्का में स्थान-स्थान पर बड़ी-बड़ी नदियों के पार कूदते एवं शीघ्रतापूर्वक फैलते हुए देख पड़ेंगे। सन् १८३० के पश्चात् रेलवे के चिह्न-रूप काली रेखाएँ प्रकट होंगी और तदनंतर ये क्षुद्र कृष्णबिंदु रेंग-रेंगकर बढ़ने के स्थान में दौड़ने लग जायँगे। द्रुत गति से इनकी वृद्धि होने के कारण ऐसा प्रतीत होगा कि छिड़काव करनेवाली किसी मशीन द्वारा ये फेंके जा रहे हैं। फिर सहसा लक्षजनपूरित बड़े-बड़े नगरों के चिह्न-प्रदर्शक तारे भी सर्वप्रथम यत्र-तत्र दिखाई देंगे। तदनंतर एक-दो के स्थान में इन तारों के झुंड के झुंड बढ़ती हुई रेलवे-लाइन के बिछे हुए जाल में गाँठों सदृश दृष्टिगोचर होंगे।

संयुक्त-राज्य के विकास के समान संसार के इतिहास में कोई अन्य पूर्वोदाहरण नहीं मिलता। यह घटना वास्तव में अद्वितीय है। पूर्वकाल में ऐसे समुदाय का अस्तित्व असंभव था और यदि ऐसा होता भी तो रेल न होने के कारण अब से बहुत काल पूर्व ही वह कभी का खंड-खंड हो जाता। रेल और तार के बिना तो कैलिफ़ोर्निया का शासन वाशिंगटन की अपेक्षा पैकिन से करना अधिक सुगम होता। परंतु अत्यंत उग्र रूप से वृद्धि होते हुए भी संयुक्त-राज्य की जन-संख्या में न केवल समानता विद्यमान रही है वरन् वहाँ की उत्तरोत्तर बढ़ती ही होती जाती है। सौ वर्ष पूर्व वरजीनिया और न्यू-इँगलैंड के निवासियों में भी इतना सादृश्य न था कि जितना इस समय सैन-फ्रैंसिस्को और न्यूयार्क के

निवासियों में पाया जाता है। और एकीकरण की यह विधि दिन-प्रतिदिन बिना किसी रुकावट के उन्नति कर रही है। रेल तथा तार के जालों के प्रसार के साथ ही साथ संयुक्त राज्य में यह ऐक्य भी अब नित्य-प्रति मनसा वाचा कर्मणा फैलता जा रहा है। आशा होती है कि वायु-मार्ग द्वारा आवागमन होने पर इस कार्य में और भी अधिक उन्नति होगी।

संयुक्त राज्य का यह महान् समाज इतिहास में एक सर्वथा अपूर्व वस्तु है। दस करोड़ से अधिक जन-संख्यावाले बड़े-बड़े साम्राज्य पूर्व-काल में भी थे परंतु वे विविध जातियों के एकत्रीकरण मात्र थे; इतने भारी परिमाण में कोई एक जाति किसी (साम्राज्य) में न थी। इस नवीन वस्तु के लिए अब एक नई परिभाषा आवश्यक है। हॉलैंड अथवा फ्रांस के सदृश संयुक्त-राज्य को भी हम एक देश कहते हैं; परंतु दोनों में छकड़े और मोटर का भेद है। उन देशों की विविध दशाओं एवं भिन्न-भिन्न समय में उत्पत्ति हुई, और वे विभिन्न दशाओं की ओर विभिन्न गतियों से अग्रसर हो रहे हैं। परिमाण और संभावनाओं की दृष्टि से इस संयुक्त-राज्य का स्थान किसी एक यूरोपीय राज्य और सार्वभौमिक संयुक्त राज्य के मध्यवर्त्ती है।

परंतु वर्त्तमान-कालीन ऐश्वर्य और महत्ता के पथ पर अग्रसर होने से प्रथम अमेरिकावालों को युद्धरूपी घोर अग्नि में तपना पड़ा था। स्टीम-रेलवे, बिजली के तार और तत्समान अन्य सुविधाओं का प्रादुर्भाव तो वहाँ अवश्य हुआ परंतु यथासमय न होने के कारण वे, उत्तरीय एवं दक्षिणीय राज्यों के भेद-भावों, हित-साधनों तथा विचारों की बढ़ती हुई विभिन्नता को न रोक सके। दक्षिणीय राज्यों में दास-प्रथा अब भी जारी थी; परंतु उत्तर में सबको स्वतंत्रता प्राप्त थी। रेल और स्टीम-बोट का आगमन होते ही सर्वप्रथम तो उत्तरीय तथा दक्षिणीय राज्यों का यह पुराना भेद-भाव और भी अधिक तीव्र हो गया। मेल बढ़ानेवाले आवागमन-संबंधी इन नये साधनों के कारण यह प्रश्न—कि दक्षिणीय विचारों की विजय होगी अथवा उत्तरीय की—अब और भी अभूतपूर्वरूप से आवश्यक हो गया। समझौते की तब कोई संभावना न थी; क्योंकि उत्तरीय राज्य के तो स्वतंत्र विचार एवं वैयक्तिकवादी थे और दक्षिणवाले बड़ी-बड़ी जागीरों एवं उच्च वर्गों द्वारा काली प्रजा के समूह पर शासन किया चाहते थे।

जैसे-जैसे जनसंख्या की वृद्धि होकर उसका प्रवाह पश्चिम की ओर बढ़ता गया और नवीन भू-प्रदेश व्यवस्थित होकर राज्य का रूप धारण करते गये तैसे-तैसे, उन राज्यों के उन्नतिशील अमेरिकन विधान (System) में सम्मिलित होते ही वे (अर्थात् नवीन सम्मानित राज्य) भी इन परस्पर-विरोधी विचारों की रंगभूमि बनते गये। और यहाँ भी

यही प्रश्न उत्पन्न हो जाते थे कि राज्य में समस्त नागरिकों को स्वतंत्रता दी जाय या वैयक्तिक संपदा तथा दास-प्रथा के विधान जारी रहें। सन् १८३३ से अमेरिका की एक दास-निरोधिनी सभा भी इस कुप्रथा का न केवल विरोध प्रत्युत देश से इसका सर्वथा बहिष्कार करने के लिए आन्दोलन द्वारा प्रयत्न कर रही थी। परंतु टैक्सास नामक प्रदेश के यूनियन (अर्थात् गोष्ठी) में सम्मिलित करने पर इस समस्या के संबंध में प्रकाश्य रूप से झगड़ा छिड़ गया। यह प्रदेश सर्वप्रथम मैक्सिको प्रजातंत्र के अंतर्गत था, परंतु मुख्यत: दास-प्रथा के अनुयायी राज्यों की अमेरिकन प्रजा द्वारा बसाये जाने के कारण उससे संबंध-विच्छेद हो सन् १८३५ में स्वतंत्र हो गया था। तत्पश्चात् सन् १८४४ में इसको संयुक्त-राज्य की गुट्ट (गोष्ठी) में मिला लिया गया। मैक्सिको के क़ानून के अनुसार टैक्सास में दास-प्रथा का निषेध कर दिया गया था। अब दक्षिणीय राज्यों ने टैक्सास से फिर दासों को लेना प्रारंभ कर दिया।

परंतु समुद्र-यात्रा के साधनों में उन्नति हो जाने पर यूरोपीय प्रवासियों के दल के दल अब उत्तरीय राज्यों की जन-संख्या बढ़ाने के लिए उधर जा रहे थे। और इसी कारण आयोवा, विसकोनसिन, मिन्नसोटा और औरिगॉन की समस्त उत्तरीय ज़मींदारियों को राज्यों के समकक्ष मान लेने पर दास-प्रथा-विरोधी उत्तरीय राज्यों के सैनेट (Senate) और प्रतिनिधि-सभा (House of Representatives) में अधिक प्रतिनिधियों के आने की संभावना हो गई। दास-प्रथा-विनाशिनी प्रगति की ऐसी उन्नति होती देख, काँग्रेस में पराजित होने की आशंका से कपास-प्रधान दक्षिण ने झुँझलाकर अब यूनियन (गोष्ठी) से पृथक् होने की चर्चा छेड़ दी। और उत्तर से पृथक् हो ये लोग दक्षिण की ओर मैक्सिको और पश्चिमीय द्वीप-समूह में दास-प्रथा जारी रखनेवाले पनामा तक के राज्यों में सम्मिलित होने के सुख-स्वप्न देखने लगे।

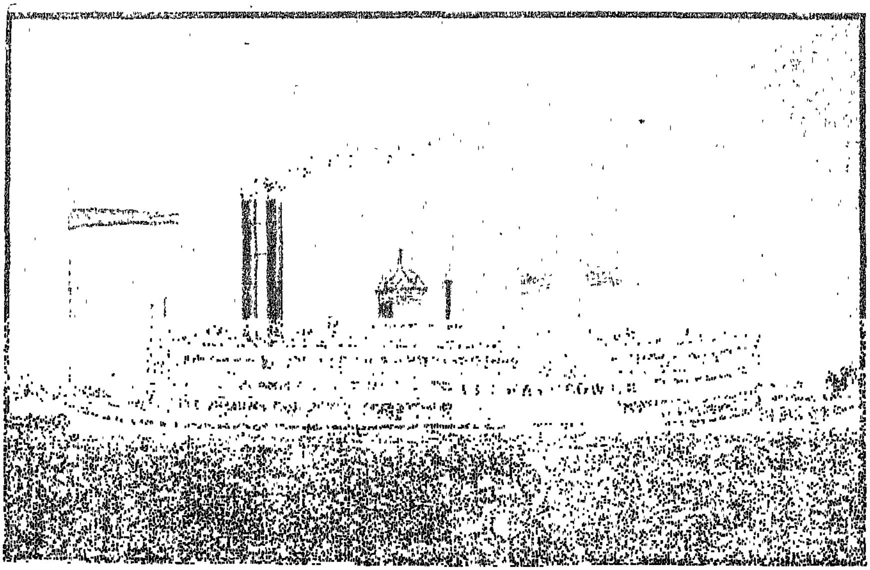
सन् १८६० में विस्तार-विरोधी ऐब्रेहम लिंकन के प्रेसीडेंट चुने जाने के कारण दक्षिणीय राज्यों ने यूनियन (गुट्ट) से पृथक् होने की ठान ली। और (दक्षिणीय) 'कैरोलिना' ने पृथक् होने का एक आदेश निकालकर युद्ध की तैयारियाँ भी प्रारंभ कर दीं। मिसीसिपी, फ़्लौरिडा, ऐलाबेमा, जैारजिया, लूसियाना और टैक्सास के इनका साथ देने के पश्चात् ऐलाबेमा के मांट गोमरी नामक स्थान में एक सभा द्वारा जैफ़रसन डैविस इस अमेरिकन राज्य-संघ के प्रेसीडेंट चुने गये और राज्य-व्यवस्था में इस हबशी दास-प्रथा को भी स्पष्ट रूप से स्वीकृत किया गया।

संयोग-वश ऐब्राहम लिंकन, स्वतंत्रता के युद्ध के उपरांत उत्पन्न होनेवाली नवीन लक्षणयुक्त जाति का आदर्श रूप था। पश्चिम ओर अग्रसर होनेवाले जनसाधारण-जन-

प्रवाह में इस व्यक्ति का प्राथमिक जीवन-काल भी कथा की भाँति व्यतीत हुआ था। कैंटकी में जन्म होने पर भी (१८०९) बाल्यावस्था में उनका प्रथम तो इंडियाना और तत्पश्चात् इल्लिनोयस में लालन-पालन हुआ था। उन दिनों इंडियाना के पार्श्ववर्ती वनों में अत्यंत कठोर जीवन बिताना पड़ता था। घोर वन में बने हुए काठ के छोटे से अस्थायी मकान में इनकी पढ़ाई-लिखाई भी कुछ यों ही हुई। परंतु माता ने बहुत छोटी अवस्था से ही इनको पढ़ने का अभ्यास कराया और यह आगे चलकर अमित अध्ययन-शील हो गये। सतरह वर्ष की अवस्था में व्यायाम-कुशल पहलवान तथा दौड़नेवाले दृढ़ युवा के रूप में इनकी प्रसिद्धि हो गई थी। फिर कुछ काल तक इन्होंने एक स्टोर में क्लर्की की; तदुपरांत एक मद्यप की सहकारिता में स्टोर खोलने के कारण ये इतने अधिक ऋणी हो गये थे कि पंद्रह वर्ष तक उस बोझ से मुक्त न हो सके। सन् १८३४ में पचीस वर्ष की अवस्था में ये इल्लिनोयस राज्य की ओर से प्रतिनिधि-सभा के सभासद चुने गये। उस समय दास-प्रथा-विषयक प्रश्न इल्लिनोयस में विशेषतया अधिक ज़ोर पर था; और इसका कारण था काँग्रेस में दास-प्रथा के सबसे बड़े हामी (पोषक) सेनेटर डौगोलस का इल्लि-नोयस में निवास। निस्संदेह डौगोलस एक अत्यंत विद्वान् एवं योग्य व्यक्ति थे। परंतु लेखों तथा व्याख्यानों द्वारा विरुद्ध आंदोलन कर लिंकन भी कुछ वर्षों में उन्नति कर अपने शक्ति-शाली एवं विजयी प्रतिस्पर्धी का सामना करने योग्य हो गये। सन् १८६० में प्रेसीडेंट पद के लिए इन दोनों प्रतिद्वंद्वियों का चरम सीमा तक पहुँचनेवाला युद्ध हुआ। और सन् १८६१ की चौथी मार्च को प्रेसीडेंट होने पर लिंकन ने दक्षिणीय राज्यों को वाशिंगटन के संयुक्त-राज्य से पृथक् हो युद्ध की तैयारी करते पाया।

अमेरिका के जन-प्रकोप में युद्ध करनेवाली परिक्षीण सेनाओं की संख्या सर्वप्रथम कुछ सहस्र होने पर भी पीछे से बढ़कर धीरे-धीरे लाखों तक पहुँच गई थी। यहाँ तक कि अंत में अकेले संयुक्त-राज्य की ओर से लड़नेवाले ही दस लाख से अधिक थे। न्यू मैक्सिको से लेकर पूर्वीय समुद्र-पर्यंत सरीखे विस्तृत क्षेत्र में होनेवाले इस युद्ध का ध्येय था वाशिंगटन और रिचमंड को जीतना। टैनेस्सी और वर्जिनिया के वनों पर्वतमालाओं और मिसी-सिपी के नीचे मैदानों में कभी आगे बढ़ने और कभी पीछे हटनेवाले इस वीरोचित युद्ध की अदम्य शक्तियों का वर्णन करना हमारे विषय से बाहर की बात है। इसमें भयानक जन-संहार एवं विनाश हुआ। आक्रमणों के प्रत्युत्तर आक्रमणों द्वारा दिये गये। आशा के पश्चात् निराशा और निराशा के पश्चात् आशा बार-बार उत्पन्न होती थीं। (यह चक्र इसी प्रकार चलता रहा।) कभी वाशिंगटन संघ-राज्यों के हस्तगत होता हुआ प्रतीत होता था तो कभी संयुक्त-राज्यवाले रिचमंड की ओर धावा बोलते नज़र आते थे। अत्यंत

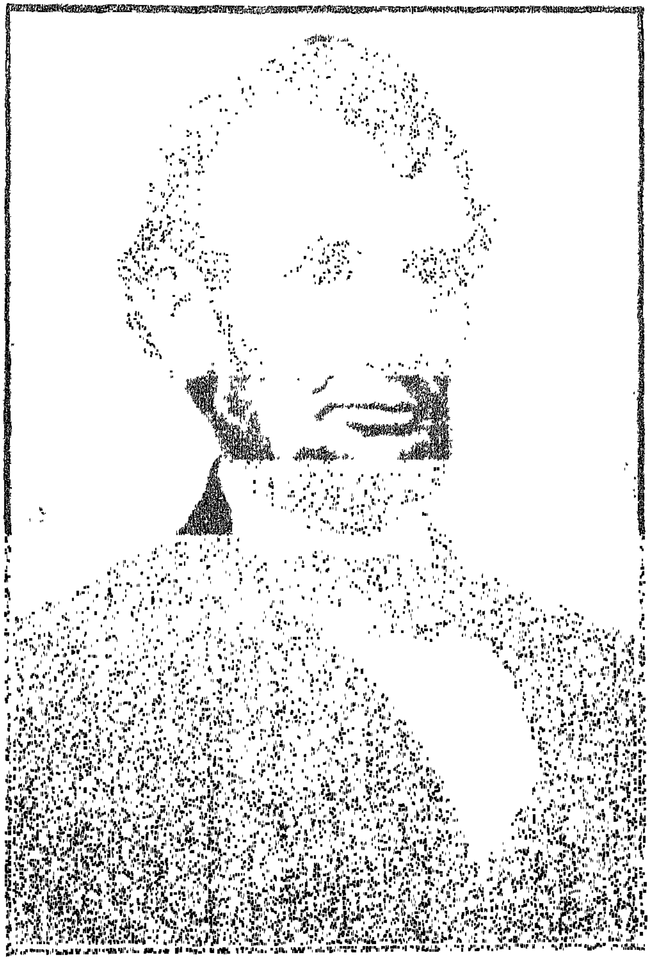
अधिक संख्या तथा हीन साधन होते हुए भी संघ-राज्यों की सेनाएँ जेनेरल ली नामक एक अत्यंत ही योग्य सेनानायक की अधीनता में थीं। इसके विरुद्ध यूनियन-सेनाओं के नायक अत्यंत अयोग्य थे। परंतु बार-बार पुरानों को हटाकर उनके स्थान में नये सेनापति नियत करते रहने पर, अंत में शर्मन और ग्रांट की अध्यक्षता में उत्तरवालों ने जर्जर एवं साधन-शून्य दक्षिण पर विजय प्राप्त कर ली। सन् १८६४ के अक्टोबर मास में संयुक्त-राज्यों की एक सेना शर्मन की अध्यक्षता में सांधिक सैन्य को बाईं ओर से चीर, टैनेस्सी से जॉर्जिया होती हुई, सांधिक-प्रदेशों को पारकर समुद्र-तट पर जा पहुँची।



अमेरिका का नदी में चलनेवाला पहले-पहल का एक स्टीमर

और वहाँ से फिर कैरोलिनास की ओर मुड़कर उस सेना ने संघ-सेनाओं को पार्श्व भाग से आ घेर लिया। इस बीच में ग्रांट ने भी ली को शर्मन के पुन: लौट आने तक रिचमंड के निकट ही रोक रखा। इस प्रकार ली ने, लाचार होकर, ९ अप्रैल १८६५ को ऐप्पोमैटोक्स (Appomattox) कोर्टहाउस के सम्मुख सेना-सहित आत्मसमर्पण कर दिया। तदनंतर एक ही मास के भीतर शेष विद्रोही (Secessionist) सैन्य ने हथियार डाल दिये और संघ-राज्य का सदा के लिए अंत हो गया।

चार ही वर्ष के इस युद्ध के कारण संयुक्त-राज्य-निवासियों पर महान् कायिक एवं नैतिक कष्ट आ पड़ा था। राज्य-स्वातन्त्र्य के तत्त्व को जी-जान से माननेवाले बहुत



ऐब्रेहम लिंकन

से मनुष्यों की दृष्टि में उत्तरीय-राज्य दास-प्रथा उठाने की नीति का भार दक्षिण पर ज़बर्दस्ती लादना चाहते थे। सीमा-स्थित राज्यों में भाई और कुटुंबी तो क्या वरन् पिता

और युवक तक प्रतिद्वंद्वी सेनाओं में भरती हो एक दूसरे का सामना करने के लिए उतारू हो गये थे। उत्तरवाले अपने पक्ष को न्यायानुकूल समझते थे, परंतु बहुत से मनुष्य उसको पूर्णतया यथार्थ न मानते थे। हाँ, लिंकन के हृदय में संदेह के लिए तिलमात्र भी स्थान न था। इस घोर अव्यवस्था में भी उनका चित्त एवं मस्तिष्क पूर्णतया शांत था। वे एकता के हामी थे और समस्त अमेरिका में शांति फैलाना उनका उद्देश्य था। यह ठीक है कि वे दास-प्रथा के विरोधी थे, परंतु यह प्रश्न तो गौण था। संयुक्त-राज्य आपस में विभक्त होकर कहीं छिन्न-भिन्न न हो जायँ—इस ध्येय का साधन ही उनका प्रधान कर्त्तव्य था।

युद्धारंभ होते ही काँग्रेस और संयुक्त-राज्य के जेनरलों (सेनाध्यक्षों) ने जब सहसा दास मुक्त करने प्रारंभ किये तो लिंकन ने इस नीति का विरोध कर उनके जोश को बहुत कुछ ठंडा कर दिया था। वे तो मूल्य देकर क्रमशः दासों को मुक्त करने के पक्ष में थे। इस प्रकार कार्य करने पर कहीं जनवरी सन् १८६५ में परिस्थिति इतनी दृढ़ हो पाई कि काँग्रेस में दास-प्रथा के लोप करने का प्रस्ताव संशोधन के रूप में उपस्थित किया जा सका। और इस संशोधन के संबंध में सम्मिलित-राज्यों की स्वीकृति होने से पूर्व युद्ध कभी का समाप्त हो चुका था।

जब सन् १८६२ और १८६३ में भी युद्ध चलता रहा तो प्राथमिक औत्सुक्य एवं उत्साह क्षीण हो गये और अमेरिका को युद्ध-जनित श्रम एवं अरुचि का पता चल गया। इस समय प्रेसीडेंट ने देखा कि अड़चन डालनेवाले, देशद्रोही पदच्युत जेनरल, कुटिल दलबंद राजनीतिज्ञ तथा शंकितचित्त श्रांत प्रजागण उनके पृष्ठ पर थे; और उत्साहहीन जेनरल तथा म्लान सैन्यदल उनके सम्मुख। ऐसी दशा में यदि उनको संतोष होता होगा तो केवल इस विचार से कि रिचमंड में उनका प्रतिद्वंद्वी जेफ़रसन डेविस भी कुछ इससे अधिक अच्छी दशा में न हो सकता था। संघ-राज्यों के प्रतिनिधियों को अँगरेज़-सरकार ने अपने देश (इँगलैंड) में तीन जहाज़—जिनमें ऐलबेमा का नाम अत्यंत ही प्रसिद्ध है—सुसज्जित करने देकर संयुक्त-राज्य के साथ अत्यंत ही दुश्चेष्टा का व्यवहार किया था। इन जहाज़ों ने वहाँ के पोतों का पीछा कर उनको मार भगाया। इसी समय फ्रेंच सेनाएँ भी मैक्सिको पर आक्रमण कर 'मुनरो सिद्धान्त' की अवहेलना कर रही थीं। ऐसे समय में रिचमंड से यह शांतिक प्रस्ताव आया कि युद्ध बंद कर दो। जिस प्रश्न को लेकर युद्ध किया गया है उसको, पुनः विचार के लिए, स्थगित कर दो। इस समय तो 'सांघिक' एवं 'संयुक्त' राज्यों को मिलकर मैक्सिको में फ्रांसीसियों का सामना करना चाहा। परंतु लिंकन ने संयुक्त-राज्य का प्रभुत्व स्थापित हुए बिना इन प्रस्तावों पर ध्यान देना भी

उचित न समझा। उनका मत तो यह था कि अमेरिकन लोग ऐसे कार्य एकजाति बनकर करेंगे, न कि दो।

महीनों के श्रमजनक दैव-दुर्विपाकों, असफल प्रयत्नों तथा भेद की घनी घटाओं से घिरने और उत्साह के शिथिल होने पर भी उन्होंने संयुक्त राज्य को कभी एकता से विचलित न होने दिया। अपने ध्येय से वे कभी अणुमात्र भी विचलित हुए हों, इसका कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। किसी समय तो वे निवृत्तकार्य हो उग्र एवं दृढ़ निश्चय की मूर्त्तिवत् मूक निश्चल भाव से ह्वाइट हाउस में बैठ जाते थे और कभी चित्त-शांति के लिए आमोद-प्रमोद करने एवं कहानियाँ कहने लग जाते थे।

अंत में उन्होंने यूनियन सरकार के गले में जयमाल पहिरा ही तो दी। रिचमंड के पतन के दूसरे दिन वे वहाँ गये और ली के आत्म-समर्पण की बात सुनी। इसके पश्चात् वे वाशिंगटन को लौट आये जहाँ उन्होंने ग्यारह अप्रैल के दिन अपना अंतिम सार्वजनिक भाषण दिया। इसमें मेल करने और विजित राज्यों में यूनियन-आज्ञानुवर्त्ती शासन-प्रणाली स्थापित करने का वर्णन किया गया था। चौदह अप्रैल की रात्रि को वे फ़ोर्ड-थियेटर में बैठे हुए अभिनय देख रहे थे कि बूथ नामक एक ऐक्टर ने, जो उनसे कुछ द्वेष रखता था, चुपके से उनके बैठने के स्थान में आ पीछे से उनके सिर पर गोली चला दी जिसके कारण उनका तुरंत प्राणान्त हो गया। परंतु लिंकन का कार्य तो अब समाप्त हो चुका था। उनका प्यारा यूनियन अब भली भाँति सुरक्षित था।

युद्ध के आरंभ में प्रशांत तट तक रेल न थी; परंतु उसके पश्चात् ही वह, शीघ्र गति से बढ़नेवाली बेल के समान, बढ़ गई और समस्त देश को जकड़कर संयुक्त-राज्य सरीखे विस्तृत देश के बहुसंख्यक जन-समाज में उसने अत्यंत अविलयनशील ऐसा मानसिक एवं भौतिक ऐक्य स्थापित कर दिया कि यह जाति समस्त संसार में—चीन देश की साधारण जनता के साक्षर होने तक—अद्वितीय रहेगी।

(६१)

यूरोप में जर्मनो की ऐश्वर्यमय प्रगति

फ्रेंच क्रांति एवं नैपोलियन के साहसी कृत्यों के क्षोभ के लय होने पर यूरोप ने पचास वर्ष पूर्वीय राजनैतिक दशा को पुनर्जीवित कर और उसको प्रकार-विशेष का आधुनिक रूप दे किस प्रकार क्षणिक अस्थिर शांति प्राप्त की थी, इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। स्टील-उपयोग संबंधी नये साधनों तथा रेल और वाष्प-चालित जहाज़ों के व्यवहार किये जाने पर भी १९वीं शताब्दी के मध्य तक कोई प्रत्यक्ष राजनैतिक फल दृष्टिगोचर न हुआ। परंतु नागरिक औद्योगिक उन्नति के कारण सामाजिक तनातनी ख़ूब पैदा हो गई थी और इसका प्रभाव फ़्रांस ही में अधिक स्पष्ट हुआ। सन् १८३० की क्रांति के अनंतर उस देश में एक और क्रांति हुई (१८४८); तत्पश्चात् नैपोलियन बोनापार्ट का भतीजा तृतीय नैपोलियन के नाम से प्रथम प्रेसीडेंट हुआ और फिर सन् १८५२ में उसने सम्राट् की पदवी ग्रहण कर ली।

शासक नियत होते ही उसने पेरिस का पुनर्निर्माण प्रारंभ कर सत्रहवीं शताब्दी के विचित्र परंतु अस्वस्थ नगर को आधुनिक स्फटिकमय विशद लैटिनीय नगर में परिवर्तित कर दिया। यही नहीं, अपितु फ़्रांस का भी पुनर्निर्माण कर सम्राट् ने उसको जाज्वल्यमान आधुनिक राज-तंत्र (Imperialism) का रूप प्रदान कर दिया। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यूरोप को व्यर्थ ही युद्धनदी में निमग्न करनेवाली बड़े-बड़े राज्यों की प्रतिस्पर्धा को इस राजा की प्रवृत्ति के कारण ही अब पुनर्जीवित होने का अवसर मिला था। रूस के ज़ार प्रथम निकोलस (१८२५-५६) आक्रमण करने के उत्सुक हो, कुस्तुन्तुनिया पर दृष्टि लगाये, साम्राज्य को दक्षिण की ओर अधिकाधिक दबाते जा रहे थे।

अब एक शताब्दी व्यतीत होने पर यूरोप में नवीन युद्धचक्र प्रारंभ हुआ। ये युद्ध मुख्यतया बल-संतोलन (Balance-of-Power) तथा उत्कर्ष-प्राप्ति के लिए किये

गये थे। क्रीमिया के युद्ध में फ्रांस, इँगलैंड और सार्डिनिया ने तुर्की के बचाव के लिए रूस से युद्ध किया; प्रशिया ने जर्मनी में प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए (इटैली से सहायता ले) ऑस्ट्रिया से युद्ध किया; फ्रांस ने सेवाय खोकर भी उत्तरीय इटैली को ऑस्ट्रिया के पंजे से छुड़ाया; और फिर धीरे-धीरे संगठित होकर इटैली भी एक राज्य बन गया। उधर अमेरिकन जन-प्रकोप के समय तृतीय नैपोलियन ने कुमंत्रणा में पड़ मेक्सिको में अपने हित-साधन के लिए मैक्समिलियन को वहाँ का सम्राट् घोषित कर दिया था, परंतु विजेता संयुक्त-राज्य के आँखें दिखाते ही उसको भाग्य के भरोसे छोड़ नैपोलियन आप तो शीघ्रतापूर्वक अलग हो गया और बेचारे मैक्समिलियन को मेक्सिकन गोली का शिकार बनना पड़ा।

उत्कर्ष-प्राप्ति के लिए फ्रांस और प्रशिया के मध्य, सन १८७० में, यूरोप में चिरस्थायी कलह प्रारंभ हुआ। पूर्वज्ञान के कारण प्रशिया तो इसके लिए तैयार था, परंतु दूषित आर्थिक दशा में पड़ा हुआ फ्रांस निःसत्त्व हो रहा था और अभिनय के सदृश उसकी पराजय भी शीघ्र हो गई। अगस्त मास में जर्मनी ने फ्रांस पर धावा बोला। एक वृहत् फ्रेंच सेना ने सम्राट् की अध्यक्षता में सितंबर मास में सेडान में हथियार डाल दिये और दूसरी ने मेट्ज़ नामक स्थान में अक्टोबर में आत्मसमर्पण कर दिया। फिर जनवरी सन् १८७१ में पेरिस भी जर्मनी के गोलाबारी करने और मुहासिरा डालने पर उसके हस्तगत हो गया। फलतः ऐलसैस और लॉरेन नामक सूबे जर्मनी को देकर फ्रैंक-फ़ोर्ट में संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये गये। और ऑस्ट्रिया के अतिरिक्त समस्त जर्मन राज्यों ने ऐक्य-सूत्र में ग्रथित हो एक नवीन साम्राज्य की नींव डाली। इस प्रकार यूरोपीय सीज़रों के सुवास्तु-मंडल (Galary) में प्रशिया के राजा भी अब जर्मन सम्राट् के रूप से स्थापित कर दिये गये।

तदनंतर आगामी तेंतालीस वर्ष तक यूरोपीय महाशक्तियों में जर्मन साम्राज्य अग्रणी रहा। और सन् १८७७-७८ के तुर्क-रूसी युद्ध के अतिरिक्त तथा बलकान-संबंधी घट-बढ़ (संशोधन) को छोड़ यूरोप में तीस वर्ष तक, अनिच्छा होते हुए भी, सीमा-संबंधी कोई अन्य परिवर्त्तन न हुआ।

(६२)

स्टीम-पोत और रेलवे द्वारा स्थापित समुद्र-पार का नवीन साम्राज्य

अठारहवीं शताब्दी का अंतिमांश ही साम्राज्यों के छिन्न-भिन्न होने और विस्तारेच्छुकों के स्वप्न-भंग का समय था। उस समय बृटेन और स्पेन से तत्संबंधी अमेरिका के उपनिवेशों की सुदीर्घ यात्रा के कारण, मातृ-भूमि और पुत्री-भूमि के बीच स्वेच्छापूर्वक आवागमन में रुकावटें होती थीं। इस प्रकार वे उपनिवेश पृथक् होकर नवीन एवं भिन्न जातियों में परिणत हो गये और उनमें रहनेवाली जातियों के विचार, हिताहित एवं भाषोच्चारण की विधि भी भिन्न हो गईं। और जैसे-जैसे इन नवीन जातियों की वृद्धि हुई तैसे-तैसे इनसे संबंध स्थिर रखनेवाले हीन एवं अनिश्चित जल-वाही साधन क्षीण होते गये। दुर्गम वनों में स्थित हीन व्यापारी मंडियों (जैसी कि कैनेडा में फ्रांस की थीं) अथवा महान् विदेशीय जातियों के मध्य बसी हुई तिजारती कोठियों के लिए (जैसी कि अँगरेज़ों की भारत में थीं) अपना अस्तित्व बनाये रखने के निमित्त पोषक एवं अवलंबदायिनी जाति के आश्रय का भिक्षुक होना संभव है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में बहुत से विचारशील पुरुषों की धारणा थी कि समुद्र-पार के शासन का यही हेतु था, अन्य नहीं। अठारहवीं शताब्दी के मध्य-कालीन (मान)चित्रों में यूरोपीय सीमा के बाहर जिन बड़े-बड़े यूरोपीय साम्राज्यों के चित्र सुव्यक्त रूप से अंकित किये जाते थे, वही अब सन् १८२० में सिकुड़कर अत्यंत् क्षुद्र सीमा से परिमित हो गये। केवल रूस (पशुओं की भाँति) अव्यवस्थित रूप से अंग फैलाकर एशिया के पार तक पूर्व जैसा बना रहा।

सन् १८१५ में, बृटिश-साम्राज्य के अंतर्गत कैनेडा प्रदेश में क्षुद्र जन-संख्या-युक्त समुद्रतटस्थ नद एवं ह्रद प्रदेश और अरण्यों में कुछ निर्देशित स्थान थे जहाँ उस समय समूर का व्यापार करनेवाली हडसन बे कंपनी के अतिरिक्त एक भी अन्य उपनिवेश न था,

भारत प्रायद्वीप का ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा शासित लगभग एक तृतीयांश था; अफ्रीका में गुडहोप अंतरीप के तटस्थ ज़िले थे जहाँ आदिम कृष्णवर्ण मनुष्य तथा विद्रोही डच प्रवासी निवास करते थे। इनके अतिरिक्त पश्चिमीय अफ्रीका-तटस्थ कुछ व्यापारी मंडियाँ, जिब-राल्टर शैल, मालटा द्वीप, जमैका, दास कुलियों द्वारा आबाद पश्चिमीय द्वीप-समूह में कुछ क्षुद्र स्थान, दक्षिणीय अमेरिका का बृटिश गायना और संसार के दूसरी ओर टैसमैनिया तथा ऑस्ट्रेलिया की बौटनी बे (बौटनी की खाड़ी) थीं जहाँ बंदियों के रहने के लिए दो ग्लानि-जनक स्थान थे। स्पेन के पास क्यूबा और फिलिपाइन द्वीप-समूह में कुछ उप-निवेश शेष रह गये थे; पुर्त्तगाल का भी प्राचीन अधिकारों के चिह्न-रूप अफ्रीका के कुछ स्थानों पर क़ब्ज़ा था। डच गायना और पूर्व भारतीय द्वीप-समूह के भिन्न द्वीपों को हॉलैंड अपनाये हुए था। डेनमार्क के पास पश्चिमीय द्वीप-समूहों में एक-आध द्वीप था; और फ्रेंच गायना तथा पश्चिम भारतीय द्वीप-समूहों के एक या दो द्वीपों पर फ्रांस का आधिपत्य था। यूरोपीय शक्तियाँ संसार में जो कुछ हस्तगत कर सकी थीं या जिनकी उनको आवश्यकता थी, उसकी इतनी ही सीमा थी। केवल ईस्ट इंडिया कंपनी ने अधिक विस्तृत होने की उत्सुकता प्रदर्शित की।

जिस समय यूरोप नैपोलियन से युद्ध करने में फँसा हुआ था उसी समय अपने पूर्वाभिगामी तुर्क तथा अन्य उत्तरीय आक्रमणकारियों के समान ईस्ट-इंडिया कंपनी भी भारतीय रंगमंच पर क्रमानुसार आनेवाले अपने गवर्नर-जनरलों की अध्यक्षता में एक वैसा ही अभिनय कर रही थी। और यह अर्ध-स्वतंत्र राज्य—अथवा वह राज्य कि जिसका मुख्य उद्देश्य उस देश के धन को पश्चिम ओर ले जाना था—वियेना की संधि के पश्चात् राजकर-ग्रहण, युद्ध-संचालन एवं एशिया की शक्तियों के दरबारों में राजदूत प्रेषण करता रहा।

कभी किसी शक्ति की मित्र बन, कभी किसी से मेल कर और अंत में विजेता की भाँति यह अँगरेज़ कंपनी उस देश में किस प्रकार प्रभुत्व के पथ पर अग्रसर हुई, इसका विस्तृत विवरण हम यहाँ पर नहीं दे सकते। आसाम, सिंध और अवध सभी स्थानों पर इसका आधिपत्य फैल गया। अँगरेज़ विद्यार्थियों की परिचित आधुनिक भारतीय (मान)चित्र की बहिःरेखा भी—जिसमें जहाँ-तहाँ स्थित देशी राज्य, प्रत्यक्ष बृटिश शासनाधीन बड़े-बड़े प्रान्तों द्वारा घिरकर ऐक्य-सूत्र में बँधे हुए हैं—इसी समय निर्माण हो रही थी।

भारतीय सेना के भयानक विद्रोह के अनंतर सन् १८५९ में कंपनी का यह बृहत् साम्राज्य बृटिश राज-मुकुट से संयोजित कर दिया गया। "भारत में अधिक उत्तम शासन-विधि स्थापित

करनेवाला कानून (An act for the Better Government of India) नाम के एक नव-विधान द्वारा गवर्नर-जनरल सम्राट् का प्रतिनिधि अर्थात् वाइसरॉय हो गया, और लंदनस्थ कंपनी के स्थान में बृटिश पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी एक भारत-सचिव नियुक्त कर दिया गया। तत्पश्चात् रानी विक्टोरिया को भारतवर्ष की सम्राज्ञी घोषित कर लॉर्ड बेकन्सफ़ील्ड ने शेष कार्य भी सन् १८७७ में समाप्त कर दिया।

इस लोकोत्तर रीति से भारत आज इँगलैंड से संबद्ध है, तथापि वह देश अभी तक 'महान् मुग़ल-साम्राज्य' की भाँति ही चला जाता है। परंतु महान् मुग़ल सम्राट् का स्थान अब इँगलैंड के मुकुट-धारी प्रजातंत्र ने ले लिया है। वहाँ की शासन-प्रणाली में अनियंत्रित शासन के समस्त दोषों के साथ ही साथ अपौरुषेय एवं अनुत्तरदायी प्रजा-सत्तात्मक अधिकारिवर्गीयता भी विद्यमान है। भारतीयों को दुःख निवेदन के लिए कोई सम्राट् नहीं है जिसकी वे शरण लें। सुनहरा चिह्न (Golden Symbol) ही उनके लिए सम्राट् है। इँगलैंड में क्षुद्र पत्रिकाएँ वितरित करना और बृटिश हाउस ऑव कामन्स में प्रश्न कराना ही उनका एकमात्र अवलंब है। बृटिश कार्यों में पार्लियामेंट जितना ही अधिक व्यस्त होगी उतनी ही न्यून आसक्ति उसकी भारत पर रहेगी और उतना ही अधिक भारत क्षुद्र-संख्यक उच्चपदस्थ कर्मचारियों की दया पर अवलंबित रहेगा।

जब तक रेलवे और वाष्पचालित जहाज़ प्रभावोत्पादक विधि से चालित न हुए तब तक भारत को छोड़ किसी अन्य स्थान पर किसी यूरोपीय साम्राज्य का विस्तार न हो सका। स्वयं इँगलैंड ही के बहुत से राजनीतिज्ञ समुद्र पार के इन अधिकृत देशों को अपने देश के लिए दुर्बलता का कारण समझते थे। ऑस्ट्रेलिया के उपनिवेशों की भी धीरे-धीरे वृद्धि हुई थी। परंतु सन् १८४२ में बहुमूल्य ताँबे की तथा सन् १८५१ में सोने की खानें मिलने पर इन स्थानों को विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया। फिर आवागमन-संबंधी साधनों में उन्नति होने पर वहाँ के ऊन की खपत भी यूरोप के बाज़ारों में अधिकाधिक बढ़ती गई। सन् १८४९ तक कैनेडा की उन्नति भी फ्रेंच और अँगरेज़ प्रजा के पारस्परिक विरोध के कारण शिथिल रही। वहाँ कतिपय भयानक विद्रोह (तक) हो गये परंतु सन् १८६७ में नवीन व्यवस्था द्वारा कैनेडा में सांघिक उपनिवेश (Federal) स्थापित होते ही ये गृहकलह शांत हो गये। रेल द्वारा ही कैनेडा का दृष्टिकोण बदला। इसी के कारण वह देश भी संयुक्त राज्यों की भाँति पश्चिम की ओर अग्रसर हुआ और उसने अनाज आदि अपनी अन्य उपज यूरोप की मंडियों को भेजनी प्रारंभ कर दीं। इसी कारण तद्देशीय जनता इतने वेग से विस्तृत होने पर भी भाषा, हिताहित-विचार एवं प्रकृति के लिहाज़ से एक समाज सदृश बनी रही। और वास्तव में वाष्पचालित जहाज़

और समुद्र के नीचे बिछे हुए बिजली के तार समस्त उपनिवेशोन्नति के हेतुओं में परिवर्त्तन कर रहे हैं।

न्यूज़ीलैंड में अँगरेज़ी उपनिवेश सन् १४४० से पूर्व ही स्थापित होने लगे थे। और उस द्वीप के संभवनीय लाभ को प्राप्त करने के लिए न्यूज़ीलैंड-भू-कंपनी नामक एक नवीन संस्था भी बना ली गई थी। सन् १८४० में न्यूज़ीलैंड ब्रिटिश-मुकुटाधीन उपनिवेशों में सम्मिलित कर लिया गया।

कैनेडा—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं—ब्रिटेन के अधिकृत देशों में ऐसा प्रथम देश था जिसने आवागमन-संबंधी नये साधनों के कारण उत्पन्न होनेवाली नवीन आर्थिक संभावनाओं को ख़ूब जी खोलकर अपनाया। इसके अनंतर दक्षिण अमेरिका के प्रजातंत्रों को भी (जिनमें अरजैन्टाइन प्रजातंत्र का नाम विशेषतया उल्लेख योग्य है) अपने ढोरों के व्यापार और क़हवा की उपज के लिए यूरोपीय मंडियाँ पहले से कहीं अधिक निकट प्रतीत होने लगीं। सुवर्ण आदि धातु, मसाले, हाथीदाँत अथवा दासों ही के लिए यूरोपीय शक्तियाँ अब तक इन अव्यवस्थित एवं बर्बर देशों की ओर आकर्षित होती थीं; परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे चरण में एक तो यूरोपीय जन-संख्या की वृद्धि होने के कारण विविध गवर्नमेंटें विवश हो बाहर से भोज्य पदार्थ मँगाने के लिए चिंतित हो रही थीं, दूसरे उद्योग एवं कला-कौशल में वैज्ञानिक विधि से उन्नति होने के कारण सब प्रकार के कच्चे माल, घृत, तैल, विविध प्रकार की चर्बी तथा रबर आदि ऐसी अन्य वस्तुओं की भी अब उनको अत्यंत आवश्यकता होने लगी जिनको पहले कोई पूछता भी न था। उष्णकटिबंधीय तथा उनसे मिले हुए निचले प्रदेशों (Tropical and Sub-tropical) की उपज पर अत्यंत दृढ़ नियंत्रण रखने के कारण, ग्रेट ब्रिटेन, हॉलैंड और पुर्त्तगाल का व्यापार-संबंधी लाभ कैसी शीघ्रता से अधिकाधिक बढ़ रहा था, यह भी सबको प्रत्यक्ष था। सन् १८७१ के पश्चात् जर्मनी, फिर फ्रांस और तदुपरांत इटैली भी इन कच्चा माल उत्पन्न करनेवाले असम्मिलित भूभागों (Unannexed) अथवा आधुनिक सभ्यता ग्रहण-योग्य लाभोत्पादक पूर्वीय देशों के लिए चिंतित हो उठे।

इस प्रकार राजनैतिक रूप से अरक्षित संसार के समस्त भागों में पुनः छीन-झपट प्रारंभ हो गई। केवल अमेरिका का भूभाग ही बचा रहा, जहाँ 'मुनरो-सिद्धांत' ऐसे साहसी कृत्यों को रोक रहा था।

अस्पष्ट संभावनाओं से युक्त अफ़्रीका यूरोप के निकट ही स्थित था, परंतु यह महाद्वीप सन् १८५० में भी सांधकार रहस्यमय था। यहाँ के समुद्र-तटस्थ देश तथा मिस्र ही (उस समय) लोगों को विदित थे। अफ़्रीका के इस निविड़ान्धकार को सर्वप्रथम

भ्रमण करनेवाले अन्वेषकों और साहसिकों तथा उनका अनुगमन करनेवाले वैज्ञानिकों और अधिवासियों, व्यापारियों और राजनैतिक दूतों अथवा शासकों की अद्भुत रोमहर्षण कथा कहने के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है। इस नये जगत् में प्रवेश करने पर अद्भुत खर्वाकार मनुष्य-जातियाँ और 'ओकापि' सदृश अद्भुत पशु, आश्चर्यदायक फल-पुष्प तथा कीटादिक और भयंकर रोग, वनों एवं पर्वतमालाओं के विस्मयोत्पादक दृश्य और स्थल-परिवेष्टित समुद्र और भीमकाय नदियाँ तथा जलप्रपात दृष्टिगोचर हुए। यही नहीं, प्रत्युत किसी प्राचीन जाति के दक्षिणोन्मुख उद्यम के द्योतक अनुल्लिखित लुप्त सभ्यता के भग्नावशेष यहाँ के ज़िमबाबवे नामक स्थान में पाये गये हैं। इस नवीन संसार में प्रवेश करने पर यूरोपियन जातियों ने देखे—राइफ़ल से सुसज्जित दास-व्यापार करनेवाले—अरब और अव्यवस्थित जीवन-चर्य्यावाले हबशी।

सन् १९०० तक अर्थात् पचास वर्षों में ही यूरोपियन शक्तियों ने इस महाद्वीप को खोजकर, मान-चित्र बना, नाप-तौल द्वारा कूत कर आपस में विभाजित कर डाला था और इस लूट-खसोट में आदिम निवासियों के हानि-लाभ—सुख-दुःख—की ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया। दास बनानेवाले अरबों का बहिष्कार न कर दमन किया गया। परंतु जंगली पदार्थ रबर का बेलजियम काँगो में आदिम निवासियों द्वारा बलात् संचय कराया जाता था; और इस रबर-लोभ ने अनुभवहीन यूरोपियन शासकों एवं आदिम निवासियों के बीच संघर्ष उत्पन्न कर और भी अधिक उग्र रूप धारण कर लिया; फलतः जनता के साथ अत्यंत नृशंस व्यवहार किया गया। (और सच्ची बात तो यह है कि) इस संबंध में कोई यूरोपियन जाति सर्वथा निर्दोष नहीं है।

फिर किस प्रकार अँगरेज़ों ने सन् १८८३ में मिस्र देश को हस्तगत कर लिया और न्यायत: उसके तुर्क-साम्राज्य का अंश होने पर भी वहाँ वे किस प्रकार डटे रहे तथा किस प्रकार इस छीना-झपटी के कारण सन् १८९८ में ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस के मध्य समराग्नि भभक उठी जब कर्नल मार्चेंड नामक एक व्यक्ति ने फ़ाशोदा नामक स्थान पर नील नदी के ऊपरवाले भाग में अधिकार जमाने का प्रयत्न किया—इन सब का सविस्तर वर्णन करना हमारे लिए अशक्य है।

न हम यह वर्णन कर सकते हैं कि किस प्रकार ऑरेंज नदी के ज़िलों और ट्रांसवाल प्रदेश के बोअर अथवा डच अधिवासियों को दक्षिणीय अफ़्रीका के भीतरी प्रदेशों में घुसकर स्वतन्त्र प्रजातंत्र स्थापित करने की अनुमति दे ब्रिटिश सरकार ने पीछे पछताकर ट्रांसवाल प्रजातंत्र को किस प्रकार सन १८७७ में साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया और न हम यह बता सकते हैं कि ट्रांसवाल-निवासी बोअर किस प्रकार स्वतंत्रता के लिए युद्ध कर

मजूबा पर्वत की लड़ाई (१८८१) में कृत-कार्य हुए। परंतु प्रेस के निरंतर आक्रमणों ने मजूबा पर्वत की घटना को अँगरेज़ जाति के चित्त से कभी विस्मृत न होने दिया; फलतः सन् १८९९ में इन प्रजातंत्रों से पुनः त्रिवर्षीय युद्ध छिड़ गया, जिसमें अँगरेज़ जाति ने प्रचुर धन-राशि व्यय कर प्रजातंत्र को आत्म-समर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया।

प्रजातन्त्रों की यह अधीनता क्षणिक थी; इनके विजेता राज-सत्तावादी दल की (ग्रेट ब्रिटेन में) सन १९०७ में पराजय होते ही तद्देशीय उदार दलवालों ने दक्षिणीय अफ्रीका की समस्याएँ हाथ में ले लीं, और यह प्रजातंत्र स्वाधीनता लाभ कर, दक्षिणीय अफ्रीका के सांधिक राज्यों में सम्मिलित हो, केपकालोनी तथा नैटाल के सदृश ब्रिटिश राज-मुकुटाधीन उपनिवेश बन गये।

संपूर्ण अफ्रीका महाद्वीप का बँटवारा पचीस वर्षों ही में समाप्त हो गया था। केवल तीन छोटे छोटे महत्त्वहीन देश शेष रह गये। पश्चिमीय तट पर लाइबीरिया, जहाँ नीग्रो जाति के मुक्तदास निवास करते थे, मोराको,* जहाँ एक मुसलमान सम्राट् का शासन था और अबीसीनिया नामक बर्बर देश, जहाँ अत्यंत प्राचीन एवं प्रकार-विशेष का क्रिश्चियन-धर्म फैला हुआ है। इस अंतिम देश ने ऐडोवा (Adowa) के युद्ध में (१८९६) इटैली को परास्त कर अपनी स्वतंत्रता अभी तक अक्षुण्ण बना रखी है†।

---

* मोराको अब स्वतन्त्र देश नहीं है। स्पेन तथा फ्रांस के प्रभाव-क्षेत्रों में उसकी गणना की जाती है और वे धीरे-धीरे उसको अपने अधीन कर रहे हैं।—अनुवादक।

† मई सन् १९३६ में इटैली ने इस प्रदेश को जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया है।—अनुवादक।

(६३)

एशिया पर यूरोप का आक्रमण और जापान का अभ्युदय

समूचे अफ्रीका के मानचित्र के यूरोपीय शक्त्यधिकार-सूचक विविध रंगों के चित्रण को बहुसंख्यक जनसमाज ने वास्तव में स्वीकार कर लिया था, यह विश्वास करना कठिन है; परंतु इतिहास-लेखक का तो धर्म यही है कि वह उसके इसी रूप से स्वीकृत होने का उल्लेख करे। उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय विद्वानों का ऐतिहासिक आधार (Historical Background) अत्यंत न्यून तथा नगण्य था और स्वभावतः वे विवेचना करना भी न जानते थे। यंत्र-शास्त्रीय क्रांति के कारण, शेष संसार की अपेक्षा यूरोपीय जातियों को पश्चिम में (अस्थायी रूप से) उत्कर्ष प्राप्त हुआ तो मंगोल-विजय इत्यादिक महान् घटनाओं से नितांत अनभिज्ञ मनुष्यों की धारणा में वह इस बात का परिचायक था कि मनुष्य-जाति का नेतृत्व सदा अब यूरोपीय जातियों के हाथ में रहेगा। विज्ञान और उसके फल स्थानांतरित हो सकते हैं यह बात उनके लिए बुद्धि-गम्य न थी। उनको यह कभी अनुभूत न हुआ कि फ्रांसीसियों और अँगरेज़ों की भाँति चीनी और भारतीय भी वैज्ञानिक गवेषणाओं को वैसी ही बुद्धिमत्ता-पूर्वक संपादित कर सकते हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि पूर्वीयों में कुछ नैसर्गिक आलस्य एवं रूढ़ि-प्रियता है और पश्चिमीयों में कुछ नैसर्गिक कुशाग्र-बुद्धिमत्ता; और इसी कारण ये (यूरोपीय) जातियाँ संसार में निश्चित रूप से सदा सर्वप्रबल रहेंगी।

इस ज्ञान-हीनता के कारण बहुत से यूरोपीय परराष्ट्र-विभागों ने न केवल संसार के बर्बर एवं अनुन्नत भूभागों को हस्तगत करने के लिए अँगरेज़ों से छीना-झपटी करना प्रारंभ कर दिया, वरन् कच्चे माल की भाँति लाभ की सामग्री समझ एशिया के सभ्य एवं जनाकीर्ण भूभागों को भी विभाजित करने की ठान ली। भारतीय ब्रिटिश शासकों का अंतरीय संदिग्ध परंतु बाह्य (अर्थात् बाहर से देखने में) भव्य साम्राज्यवाद (Imperialism) और 'डच'-अधिकृत पूर्वी द्वीपसमूह के विस्तृत एवं लाभोत्पादक स्थानों को

देख, हृदयस्थ ईर्ष्या के कारण अन्य प्रतिस्पर्धी महान् शक्तियों को भी फ़ारस, जर्जर तुर्क-साम्राज्य, भारतीय चीन (India, China), चीन और जापान में तत्समान पूर्ण समृद्धि के सुख-स्वप्न दीखने लगे।

सन् १८९८ में जर्मनी ने चीन के कियाऊ चू नामक स्थान पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसका उत्तर देने के लिए अँगरेज़ों ने वी-हाइ-वी पर अपना अधिकार जा जमाया। फिर एक वर्ष बीतने पर रूसियों ने पोर्ट (बंदरस्थान) आर्थर को हस्तगत कर लिया। इन घटनाओं से यूरोपीय जातियों के विरुद्ध समस्त चीन में घृणा की महान् ज्वाला प्रज्वलित हो उठी। बहुत से यूरोपियनों तथा ईसाई-चीनियों का संहार कर दिया गया और सन् १९०० में पैकिन नगरस्थ यूरोपीय राजदूत-वासस्थानों पर आक्रमण कर घेरा डाल दिया गया (मुआमिला बेढब होते देख) अब यूरोपीय शक्तियों ने दंड देने के लिए एक सम्मिलित सेना पैकिन को भेजकर राजदूत-वासस्थानों का उद्धार तो किया ही, परंतु साथ ही साथ अनंत एवं बहुमूल्य सामग्री भी चुरा ली। तत्पश्चात् रूसियों ने मंचूरिया पर क़ब्ज़ा कर लिया और अँगरेज़ों ने तिब्बत पर सन् १९०४ में धावा बोल दिया।

महान् शक्तियों के इन झगड़ों में जापान की नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ इतिहास-रूपी नाटक के अभिनय में इस देश ने थोड़ा ही भाग लिया है। और संसार से पृथक् यहाँ की सभ्यता से भी मानव-भाग्य-निर्माण में कुछ यों ही सहायता मिली है; वास्तव में बात तो यह है कि स्वयं बहुत कुछ लाभ उठाकर भी इस देश ने संसार का तनिक सा उपकार नहीं किया। जापान-वासी मंगोल जाति के हैं। इनकी सभ्यता, लेख, साहित्यिक एवं कला-कौशलमय रूढ़ियों का उद्गम चीनवासी हैं। अद्भुत साहसी कार्यों से पूरित यहाँ का इतिहास भी अत्यंत मनोहर है। जागीरदारी-प्रथा एवं शौर्य-काल (System of Chivalry) ईसाई संवत् की प्रथम शताब्दियों में यहाँ पर भी विकसित हुए थे। और इस देश के कोरिया तथा चीन पर किये आक्रमणों की तुलना उन युद्धों से की जा सकती है जो अँगरेज़ों ने फ्रांस में किये थे। इस देश का यूरोप से सर्वप्रथम सम्पर्क सोलहवीं शताब्दी में हुआ। सन् १५४२ में एक चीनी जल-यान द्वारा, जिसको चीनी भाषा में चं या जंक कहते हैं, कुछ पुर्त्तगाल-निवासी यहाँ आये और १५४९ में फ्रैंसिस ज़ेवियर नामक एक जैसुइट पंथी पादरी ने यहाँ ईसाई धर्म का प्रचार करना प्रारंभ कर दिया। कुछ काल तक तो यहाँवालों ने यूरोपीय जातियों का स्वागत किया और पादरियों ने भी इस बीच बहुतों को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था। इस समय एक व्यक्ति—जिसका नाम विलियम एडम्स था—जापानियों का बड़ा विश्वासी यूरोपीय परामर्शदाता हो गया है। उसी ने इनको बड़े बड़े जहाज़ बनाना सिखाया था। जापान के

बने हुए इन पोतों में भारत और पेरू तक यात्राएँ हुईं। परंतु फिर डोमिनिकन संप्रदायानुयायी स्पेनिश, जेसुइट पंथानुयायी पोर्तुगीज़ और प्रोटेस्टेंट पंथानुयायी अंगरेज़ एवं डच पादरियों के मध्य घोर कलह उत्पन्न हो जाने के कारण इधर तो प्रत्येक ने एक दूसरे के राजनैतिक संकल्पों से जापानियों को सतर्क कर दिया और उधर उत्कर्ष मद से मस्त हो जेसुइट सम्प्रदायवालों ने बौद्ध धर्मावलंबियों को घोर रूप से अपमानित एवं पीड़ित करना प्रारंभ कर दिया। फलत: जापानी लोग इन यूरोपीय जातियों को निश्चय-पूर्वक कंटकवत असह्य समझने लगे और फ़िलीपाइन्स द्वीप पर अधिकारप्राप्त कैथोलिक सम्प्रदाय तो विशेषतया उनकी दृष्टि में पोप तथा स्पेन के राजाओं के राजनैतिक स्वप्नों का ढोंग मात्र था। बस फिर क्या था, ईसाइयों का पीड़न प्रारंभ हो गया और सन् १६३८ में यहाँ यूरोपियनों के आने की मनाही हो गई। और कोई दो सौ वर्ष से अधिक काल तक जापान का द्वार ईसाइयों के लिए बंद ही रहा। इस समय शेष संसार से जापानियों का, अन्य ग्रह-निवासियों के समान, संबंध-विच्छेद हो गया। तीरवाही नौकाओं के अतिरिक्त बड़े पोतों के बनाने की यहाँ आज्ञा न थी। न तो कोई जापानी विदेश जा सकता था और न किसी यूरोपियन को इनके देश में घुसने की आज्ञा दी जाती थी।

दो शताब्दियों तक जापान इतिहास-धारा से सर्वथा पृथक् रहा। उस समय वहाँ चित्रोपम सौंदर्ययुक्त एक जागीरदारी प्रथा प्रचलित थी, जिसमें सामुराय नामक (क्षत्रिय) योद्धा और विशिष्ट श्रेणी के पुरुष तथा उनके कुटुंबी—जो प्रतिशत जन-संख्या के बीसवें भाग से अधिक न थे—समस्त जन-समाज के प्रति अप्रतिबाधित रूप से अत्यंत कठोरता का व्यवहार करते थे। परंतु शेष बाह्य-संसार उस समय अधिकाधिक विस्तृत कल्पनाओं और शक्तियों की ओर अग्रसर हो रहा था। फिर परदेशी जहाज़ भी जापानी अंतरीपों के निकट होकर अधिकाधिक संख्या में आने-जाने लगे। और इन पोतों के भग्न होने पर कभी-कभी उनके नाविक भी जापान के तट तक आ जाते थे। इसी समय बाह्य-संसार से संबंध स्थापित रखनेवाले एकमात्र शृंखलारूपी डैशिमा द्वीप नामक डच उपनिवेश से सूचना मिली कि पश्चिमीय संसार की भाँति जापान शीघ्रतापूर्वक उन्नति-पथ पर अग्रसर नहीं हो रहा है। फिर जब सुदूर प्रशांत महासागर में बहते हुए जापानी नाविकों की रक्षा कर "तारे और पट्टियों" की पताका से युक्त एक परदेशी जहाज़ सन् १८३७ में यद्दो की खाड़ी में आया तो तोपों के गोलों की वर्षा कर जापानियों ने उसे भगा दिया। तत्पश्चात् ये पताकाएँ अन्य बहुत से जहाज़ों पर दिखाई दीं। जहाज़ टूट जाने के कारण आश्रय-प्राप्त अठारह अमेरिका-निवासी नाविकों को छुड़ाने के लिए एक वैसा ही जहाज़ सन् १८४९ में आया। फिर सन् १८५३ में जब अमेरिका के चार युद्धपोत कौमोडोर पैरी की

अध्यक्षता में वहाँ पहुँचे तो देश-वासियों के मना करने पर भी वे वहाँ से न हटे; और जापानी समुद्र में—जहाँ परदेशियों के प्रवेश का निषेध था—लंगर डाले पड़े रहे। इस समय तो कप्तान ने वहाँ के दोनों शासकों को—जिनका जापान पर संयुक्त शासन था—सँदेसा भेजा; पर सन् १८५४ में तोपों से सुसज्जित वाष्पचालित दस अद्भुत जहाज़ों सहित पुनः लौटकर उसने व्यापार तथा पारस्परिक संसर्ग के प्रस्ताव उपस्थित किये, जिनकी अवहेलना करने में जापान अशक्य था और संधिपत्र पर हस्ताक्षर कराने के लिए कप्तान पाँच सौ अंग-रक्षकों के साथ तट पर उतरा। इन बाह्य-संसार-निवासियों को राजपथ पर भ्रमण करते हुए नगर-निवासियों ने सशंक दृष्टि से देखा।

रूस, हॉलैंड और ब्रिटेन ने भी अमेरिका का अनुसरण किया। एक विशिष्ट कुलाभिभूत बड़े जागीरदार के, जिसकी ज़मींदारी 'शिमोनोसेकी' नामक जल-ग्रीव के तट पर थी, इन विदेशी जहाज़ों पर गोला बरसाने का साहस करते ही ब्रिटिश, फ्रेंच, डच और अमेरिका के युद्ध-पोतों ने गोलों की ऐसी भीषण वर्षा की कि ज़मींदार की तोपें और कृपाणधारी सैनिक दोनों ही विलीन हो गये। अंत में सम्मिलित राज्यों के जहाज़ी बेड़े ने कियोटो नामक स्थान से कुछ दूरी पर सन् १८६५ में लंगर डाला और जापान को संधि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस रीति से जापान का द्वार समस्त संसार के लिए खुल गया।

जापान इन घटनाओं से बुरी तरह मर्माहत हुआ। परंतु आश्चर्यदायक शक्ति और दूरदर्शिता से काम ले इस देश ने अपनी संस्कृति और संगठन सब कुछ ही यूरोपीय शक्तियों के समान बना डाला। जापान ने जिस द्रुत गति से उन्नति की उसका उदाहरण मनुष्यों के इतिहास में नहीं मिलता। जो देश सन् १८६६ में आश्चर्यदायक एवं अत्यंत घोर जागीरदारी के हास्यास्पद चित्रवत् मध्यकालीन जन-समाज की भाँति था, वही सन् १८९९ में पश्चिमीय जातियों के समान हो अत्यंत उन्नत यूरोपीय शक्तियों में गिना जाने लगा। 'निश्चय ही यूरोप की अपेक्षा एशिया असाध्य रूप से मंद है', इस भ्रमात्मक भाव को जापान ने सदा के लिए दूर कर दिया। समस्त यूरोपीय उन्नति की गति को इस देश ने लज्जित कर दिया।

सन् १८९४-९५ के चीन-जापान-युद्ध का विस्तारपूर्वक विवरण हम यहाँ नहीं दे सकते। उसने सिद्ध कर दिया कि इस देश में कितनी अधिक पश्चिमीयता आ गई है। उस समय पाश्चात्य विधि से सुशिक्षित प्रबल सेना और एक क्षुद्र परंतु बलशाली जहाज़ी बेड़ा इस देश के पास था। केवल ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य (अमेरिका), जो पहले ही से एतद्देशीय पुनरुत्थान के आशय को भली भाँति समझ सके थे, जापान के

साथ यूरोपीय राष्ट्रों की भाँति समान व्यवहार करते थे; परंतु एशिया में भारत के सदृश अन्य देशों को हड़पनेवाली अन्य महाशक्तियाँ उसको तनिक भी न समझीं। रूस इस समय बलपूर्वक मंचूरिया की राह कोरिया में अग्रसर हो रहा था; और फ्रांस का सुदूर दक्षिण में टानकिन तथा अनाम प्रदेशों पर पहले से ही आधिपत्य जमा हुआ था: शेष था केवल जर्मन देश जो भूखे भेड़िये के समान नवीन उपनिवेशों की खोज में था। इन तीनों शक्तियों ने सम्मिलित हो जापान को चीन-युद्ध के फलों से वंचित रखा। इस झगड़े के कारण एक तो यह देश वैसे ही थका हुआ था, उस पर अब इन शक्तियों ने इसको और युद्ध की धमकी दे डाली।

कुछ काल तक तो जापान सिर झुकाये हुए सैन्य-संग्रह में लगा रहा। परंतु दस वर्ष भी बीतने न पाये थे कि वह रूस से युद्ध करने को तैयार हो गया, जिससे एशिया के इतिहास में उस नये युग का प्रारंभ होता है कि जब इस यूरोपीय औद्धत्य का अंत हो गया। इस कलह के संबंध में जो दुनिया के दूसरे छोर पर उनके लिए रचाया जा रहा था, रूसी सर्वथा अनभिज्ञ एवं निर्दोष थे। और ज्ञानवान् रूसी राजनीतिज्ञों ने इन मूर्खता-पूर्ण हस्तक्षेपों का विरोध भी किया, परंतु ज़ार को तो ग्रॉंड-ड्यूक, उनके कौटुम्बिक भाई इत्यादि अन्य अर्थ-व्यवसायियों की गोष्ठी ने घेर रखा था। और मंचूरिया तथा चीन की भावी लूट की आशा से ये लोग जुआरियों की भाँति आगे ही बढ़े चले जाते थे। परिणाम यह हुआ कि बृहत् जापानी सैन्यदल समुद्र पार कर पोर्ट आर्थर और कोरिया को हस्तगत करने के लिए अग्रसर हो रहा था और साइबीरियन रेलवे द्वारा रूसी किसान असंख्य ट्रेनों में भर-भरकर सुदूर युद्धक्षेत्र में कटने के लिए भेजे जा रहे थे।

भद्दे नेतृत्व और कपट व्यापार से एकत्रित हुए रूसी लोग, जल तथा स्थल दोनों ही पर बुरी तरह पराजित हुए। उनके बाल्टिक (समुद्र के जहाज़ी) बेड़े ने शूशिमा के जल-ग्रीव में मानों विनष्ट होने के लिए ही अफ्रीका की परिक्रमा की थी। इस प्रकार सुदूर देश में रूसियों के जन-संहार को देख तद्देशीय जनता ने क्षुभित हो क्रांति मचा दी, और ज़ार युद्ध समाप्त करने के लिए विवश हो गया (१९०५)। सन् १८७५ में जीते हुए सखालीन द्वीप का दक्षिणीय अर्धभाग जापान को देना पड़ा, मंचूरिया खाली करना पड़ा और कोरिया भी जापान को समर्पण कर दिया। यूरोपीय जातियों के एशिया-विजय का अंत अब निकट ही था और यूरोप अब अपने पञ्जे समेटने को बाध्य हो रहा था।

(६४)

१६१४ में ब्रिटिश साम्राज्य

सन् १९१४ में रेल और वाष्प-चालित जहाज़ों द्वारा जुटाये हुए ब्रिटिश साम्राज्य के विविध अंगो का कैसा रूप था, यह हम संक्षेपतः यहाँ बताना चाहते हैं। यह राजनैतिक सम्मिश्रण सर्वथा अपूर्व था और है। इसका सादृश्य अतीत-काल में भी न था।

इस पद्धति का आद्य केन्द्र संयुक्त-ब्रिटिश-राज्य का मुकुटधारी प्रजातंत्र था, जिसमें अधिकांश आयरिश जनता की इच्छा के प्रतिकूल वह देश भी सम्मिलित था। ब्रिटिश पार्लियामेंट में इँगलैंड तथा वेल्स, स्कॉटलैंड और आयरलैंड* तीनों पार्लियामेंटों का सम्मिश्रण है। और इस ब्रिटिश पार्लियामेंट के बहुमत पर ही—जो बहुधा अँगरेज़ों की घरेलू राजनैतिक समस्याओं के अधीन है—मंत्रिमंडल का स्वरूप, नेतृत्व एवं नीति निर्भर है। इस प्रकार स्थापित किया हुआ मंत्रिमंडल ही वास्तव में शेष साम्राज्य की सर्वोपरि कार्यसाधक गवर्नमेंट है; और इसी को संधि तथा विग्रह करने का पूर्ण अधिकार है।

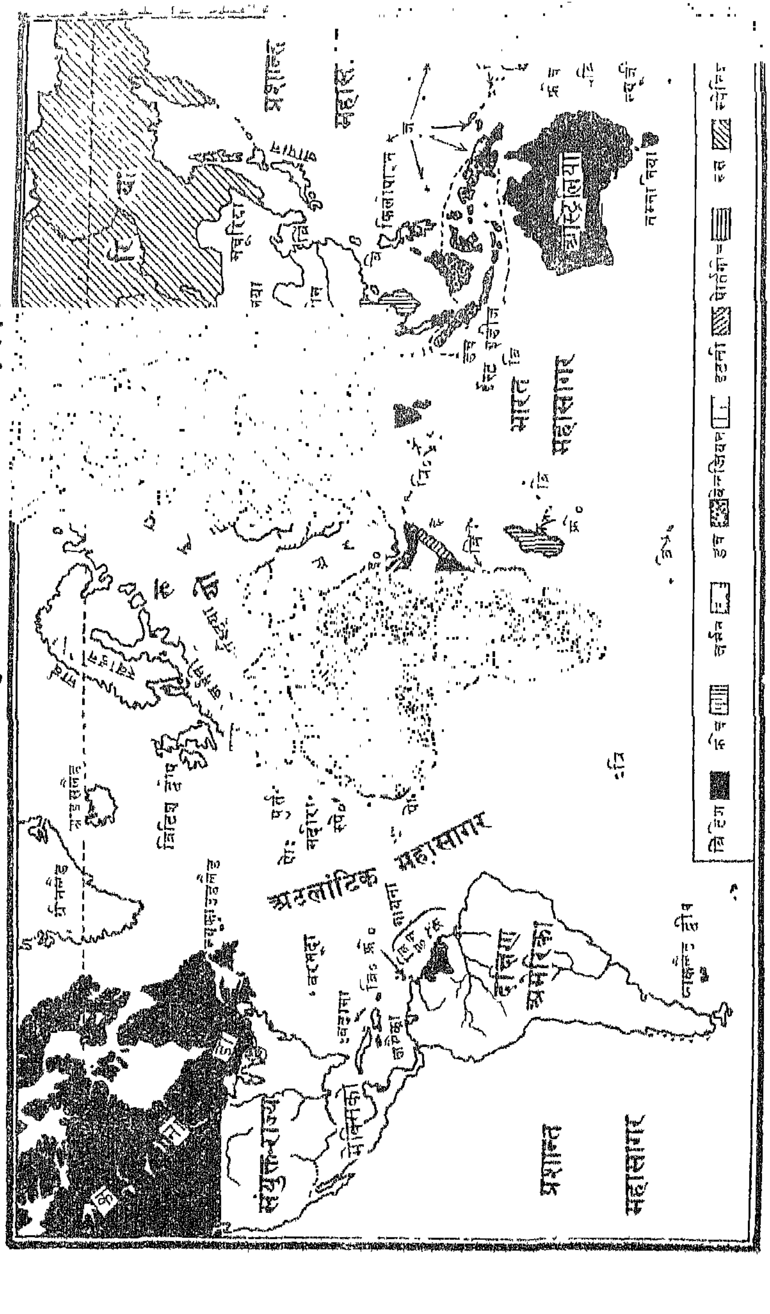
राजनैतिक महत्त्व के क्रमानुसार ब्रिटिश-राज्य के पश्चात् हैं आँस्ट्रेलिया और कैनेडा, न्यूफ़ाउंडलैंड (जहाँ अँगरेज़ों का क़ब्ज़ा सबसे पुराना है—१५८३) और न्यूज़ीलैंड तथा दक्षिणीय अफ़्रीका के मुकुटधारी प्रजातंत्र (Crown appointed) जिनको ग्रेट-ब्रिटेन से संबद्ध होते हुए स्वाधीनता एवं स्व-राज्य प्राप्त है। परंतु प्रत्येक में पदारूढ़ गवर्नमेंट द्वारा नियुक्त एक-एक राजप्रतिनिधि निवास करता है।

तदुपरांत प्राचीन मुग़ल साम्राज्य के परिवर्धित रूप—बलोचिस्तान से लेकर ब्रह्मा तक फैले हुए—अधीन और संरक्षित राज्यों सहित नंबर आता है भारतीय साम्राज्य का,

---

* परंतु अब आयरलैंड को स्वराज्य (Self-government) मिल जाने पर वहाँ पार्लियामेंट की सभासदी के लिए चुनाव नहीं होता। आयरलैंड की अपनी निजी पार्लियामेंट है।

फा० २६



योरप की शक्तियों के समुद्र-पार के राज्य जनवरी १९१४

जिसमें अदन* भी सम्मिलित है। इस समूचे साम्राज्य पर ब्रिटिश राजमुकुट और इंडिया ऑफ़िस ने, पार्लियामेंट के नियंत्रण के अधीन, आद्य तुर्क-वंश का स्थान ग्रहण किया है।

इसके पश्चात् स्थान है संदिग्ध रूप से अधिकृत मिस्र का, जो कहने के लिए अब भी तुर्क साम्राज्य का भाग है। यहाँ 'ख़दीव' उपाधिधारी राजा होते हुए भी वास्तव में अनियंत्रित अँगरेज़ अधिकारियों का ही शासन चलता है।

परंतु इससे भी कहीं अधिक संदिग्ध अधिकार है अँगरेज़ी-मिस्री-सूडान प्रदेश में, जहाँ अँगरेज़ और मिस्र सरकार द्वारा नियंत्रित गवर्नमेंट सम्मिलित रूप से शासन करती है।

इनके अतिरिक्त अर्ध-स्वराज्य प्राप्त कतिपय समाज हैं जिनमें किसी का उद्गम तो अँगरेज़ जाति से है और किसी का नहीं। और इनमें निर्वाचित धारा-सभा एवं नियोजित कार्यकारिणी सभा विद्यमान हैं; उदाहरणार्थ—माल्टा, जमैका, बहामा आदि।

फिर नंबर आता है सीलोन, त्रिनिदाद, फ़ीजी (जहाँ एक नियुक्त की हुई कौंसिल है), जिबराल्टर और सेंट हेलेना (जहाँ एक गवर्नर है) आदि मुकुटाधीन (Crown) उपनिवेशों का, जहाँ उपनिवेश-विभाग द्वारा ब्रिटिश सरकार का गृह-विभाग अनियंत्रित रूप से शासन करता है।

और सबके अंत में उल्लेख योग्य हैं कच्चा माल उत्पन्न करनेवाले (प्रधानतः) उष्ण कटिबंधीय विस्तृत-भूभाग जहाँ राजनैतिक दृष्टि से दुर्बल और अर्ध सभ्य जातियाँ निवास करती हैं। कहने को तो ये 'रक्षित" देश हैं; परंतु वास्तव में यहाँ का शासन एक हाई कमिश्नर द्वारा होता है जिसका आधिपत्य या तो देशी राजाओं पर होता है जैसा कि बसूतोलैंड में है या गवर्नमेंट से अनुशासनपत्र-प्राप्त कंपनियों पर होता है जैसे र्‌होडेशिया में। कहीं परराष्ट्र विभाग, कहीं औपनिवेशिक-विभाग, और कहीं इंडिया ऑफ़िस (भारतीय विभाग) द्वारा इन अंतिम और अत्यंत अस्पष्ट श्रेणी के स्थानों पर क़ब्ज़ा होते हुए इसका श्रेय तो अधिकांश में परराष्ट्र विभाग ही को है।

अतः अब यह भली भाँति स्पष्ट हो गया कि समूचा ब्रिटिश-साम्राज्य किसी एक विभाग अथवा मस्तिष्क की उपज नहीं है। अतीत काल में साम्राज्य कहलानेवाली संस्थाओं से, वृद्धि एवं एकत्रीकरण का यह सम्मिश्रण सर्वथा भिन्न है। अधिकारिवर्ग के अत्याचारों एवं अनौचित्य, तथा इँगलैंड के जनसाधारण की उदासीनता के होते हुए, सर्वत्र शांति एवं संरक्षण का प्रतिभू होने के कारण ही अधीन जातियाँ, ब्रिटिश साम्राज्य

---

* अदन और ब्रह्मदेश, दोनों अब भारतीय नवीन विधान (१९३५) के अनुसार पृथक् कर दिये गये हैं।

के भार को सहन एवं धारण कर रही हैं। ऐथेन्स की भांति ब्रिटिश साम्राज्य भी समुद्र-पार का साम्राज्य है। उसका मार्ग समुद्र में होकर है और जल-सेना ही सब (ब्रिटिश साम्राज्य के भागों) की एकमात्र शृंखला है। समस्त साम्राज्यों की भाँति इसकी संरक्षा भी स्वभावतः आवागमन-संबंधी साधनों पर अवलंबित है; सोलहवीं से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक नाविक-कार्य-कौशल, जहाज़-निर्माण और वाष्प-चालित जहाज़ों की उन्नति ने ही शान्ति (Pax Britannica)—ब्रिटेनिया की सुप्रसिद्ध शांति—को इस प्रकार सुलभ और संभवनीय बना दिया। बहुत संभव है कि भविष्य में नभ अथवा स्थल-संबंधी द्रुत-गामी यानों की नवीन उन्नति होने से यह सब फिर अनुपयुक्त सिद्ध होने लगें।

(६५)

यूरोप का सज्जीकरण युग और १९१४-१८ का महान् युद्ध

अमेरिका में वाष्प-चालित जहाज़ों और रेलवे द्वारा प्रजातंत्र को उत्पन्न करने तथा स्टीमपोत द्वारा संदिग्ध ब्रिटिश-साम्राज्य को विस्तार देनेवाली भौतिक विज्ञान की उन्नति, यूरोप महाद्वीप पर घनी बसी हुई अन्य जातियों के लिए नितांत भिन्न प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई। इन जातियों ने अब यह अनुभव किया कि वे अब तक मानव-सृष्टि में 'घोड़ों और राजपथों' के युग की निर्धारित सीमा से सीमित हैं, और समुद्र-पार देशों में उनके प्रसार का ग्रेट ब्रिटेन ने पूर्व-निरूपण कर लिया है। केवल रूस, पूर्व की ओर कुछ स्वतंत्रता-पूर्वक अग्रसर हो सकता था; और उसने साइबीरिया प्रदेश में होकर एक वृहत् रेलवे-लाइन भी बना डाली, यहाँ तक कि वह जापान से मुठभेड़ में जा उलझा और तत्पश्चात् उसकी प्रगति दक्षिण-पूर्वीय दिशाओं में—फ़ारिस और भारत की सीमाओं की ओर—मुड़ गई जो अँगरेज़ों के लिए कंटक-रूप थी। यूरोपीय शेष शक्तियों की दशा अत्यंत घनीभूत हो रही थी। मानव-जीव-संबंधी नवीन उपकरण की संपूर्ण संभावनाओं का अनुभव करने के लिए स्वेच्छा से अथवा किसी प्रबल शक्ति के दबाव से एकीकरण द्वारा सांसारिक व्यवहारों को कहीं अधिक विशद आधार पर पुनः स्थापन करने की अब अत्यंत आवश्यकता थी। आधुनिक विचार-धाराओं का प्रवाह तो पूर्व पक्ष की ओर था, परंतु प्रबल राजनैतिक रूढ़ियाँ यूरोप को दूसरी दिशा की ओर बहाकर ले गईं।

तृतीय नैपोलियन के साम्राज्य का पतन और नवीन जर्मन साम्राज्य-स्थापना के कारण मनुष्यों के भय और आशाएँ यह इंगित कर रहे थे कि भविष्य में यूरोप जर्मनी का ही आश्रय ले घनीभूत हो जायगा। छत्तीस वर्ष की इस उद्वेगमय शांति में यूरोपीय राजनीति इन संभावनाओं पर ही केन्द्रीभूत रही। यूरोपीय प्रभुत्व प्राप्त करने के इच्छुक

फ़्रांस ने—जो शार्लमेन द्वारा किये हुए साम्राज्य-विभाग के समय से जर्मनी का घोर प्रतिद्वंद्वी था—अपने दौर्बल्य को रूस की संधि द्वारा दूर करना चाहा तो जर्मनी ने इसके प्रत्युत्तर में आस्ट्रियन साम्राज्य से (क्योंकि पवित्र रोम साम्राज्य का तो प्रथम नेपोलियन के समय में ही अंत हो गया था) दृढ़तापूर्वक अपना घनिष्ठ संबंध स्थापित कर लिया। इटैली के नवीन राज्य को भी इस 'गुट्ट' में सम्मिलित करने का जर्मनी ने प्रयत्न किया परंतु इसमें उसको 'सोलह आना' कामयाबी न हुई। ग्रेट ब्रिटेन ने सदा की भाँति महाद्वीप संबंधी इन समस्याओं में पहले तो कुछ यों ही भाग लिया; परंतु फिर जर्मन जहाज़ी बेड़े को प्रभुत्वापकारी के रूप से अग्रसर होते हुए देख, इसको भी विवश होकर अंत में शनैः शनैः रूस और फ़्रांस के 'गुट्ट' में सम्मिलित होना पड़ा। और जर्मन सम्राट् द्वितीय विलियम (१८८८-१९१८) की सदर्प वासनाओं के कारण जर्मनी को कुसमय में ही समुद्र पार देशों में दुःसाध्य कार्यों में फँसा दिया, जिसके कारण न केवल ग्रेट ब्रिटेन प्रत्युत जापान और संयुक्त राज्य भी उसके शत्रुदल में जा मिले।

ये समस्त जातियाँ शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित हो गईं। बंदूक़, तोप, लड़ाई का अन्य सामान और युद्ध-पोतों के निर्माण के लिए जातीय आय प्रतिवर्ष अनुपात-क्रम से अधिकाधिक व्यय की जा रही थी और जटिल समस्याओं का 'कंपित तुलादंड' युद्ध की ओर झुकता हुआ प्रतीत होता था, परंतु वह (अर्थात् युद्ध) किसी न किसी बहाने प्रत्येक वर्ष रुक जाता था। अंत में वह एक दिन छिड़ ही गया। जर्मनी और आस्ट्रिया का फ़्रांस, रूस और सर्विया से संघर्ष हो गया। परंतु जर्मन सैन्य के बेलजियम में होकर निकलते ही अपने मित्र जापान के साथ ब्रिटेन तुरंत ही बेलजियम की ओर से युद्धक्षेत्र में कूद पड़ा। फिर तुर्की शीघ्रतया जर्मनी से जा मिला। तदनंतर सन् १९१६ में रुमानिया और १९१७ में संयुक्त-राज्य और चीन भी जर्मनी के विरुद्ध विवश होकर युद्धक्षेत्र में आ गये। इस महान् आपदा में किसका कितना दोष था यह बात निश्चयपूर्वक बताना हमारे इतिहास की सीमा के बाहर है। यह युद्ध क्यों अथवा किस कारण प्रारंभ हुआ, इससे कहीं अधिक आवश्यक प्रश्न तो यह है कि महायुद्ध का पूर्वज्ञान क्यों न हुआ और उसके निवारण का उपाय क्यों न सोचा गया। मानव-जाति के लिए कहीं अधिक विचारणीय विषय तो यह है कि करोड़ों मनुष्य, देशप्रेमी होकर भी ऐसे मूढ़ अथवा उदासीन हो गये कि वे उदार भावों द्वारा यूरोप में शांति या ऐक्य स्थापित कराकर इस विपत्ति को न टाल सके, न कि यह बात कि गिने-चुने मनुष्य ही इस विपत्ति के लाने में कारण बने।

रण-संबंधी, दुर्बोध, विस्तृत विवरण देने के लिए हमारे पास पर्याप्त स्थान नहीं है। कला-कौशल-संबंधी विज्ञान की उन्नति के कारण रण-क्रिया में कैसे महान् परिवर्त्तन हो गये

थे, यह युद्धारंभ से कुछ मास पश्चात् ही स्पष्ट हो गया। भौतिक विज्ञान से कार्य-क्षमता आती है, अर्थात् इसका प्रयोग इस्पात के उपयोग, दूरी के न्यूनीकरण और रोगों के निवारण आदि क्रियाओं पर हो सकता है। परंतु इसका उपयोग अथवा दुरुपयोग संसार की धार्मिक एवं राजनैतिक बुद्धि के अनुसार होता है। पुरानी ईर्ष्या और संदेह की नीति से प्रेरित हो यूरोपीय शासन-प्रणालियों ने अपने हाथों में अब अनुदाहरणीय संहार और प्रतिबंध की क्षमता पाई। संसार में चारों ओर फैलकर यह विनाशकारी युद्धाग्नि अब विजेता और विजित दोनों ही को विवादमय प्रश्नों की दृष्टि से कहीं अधिक हानि-प्रद सिद्ध हुई। युद्ध के सर्वप्रथम दृश्य में जर्मनी का महावेग से पेरिस की ओर प्रस्थान और रूस का पूर्वीय प्रुशिया पर आक्रमण होता दिखाई दिया, परंतु ये दोनों ही रोककर निष्फल कर दिये गये। आत्मरक्षा की शक्ति का इसके पश्चात् विकास हुआ और खाइयों की दक्षतापूर्वक युद्ध-प्रणाली ने ऐसी शीघ्रतापूर्वक उन्नति की कि कुछ ही दिनों में परस्पर विरोधी सैन्य दल यूरोप के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक, खाइयाँ खोद-खोदकर एक दूसरे के सामने डट गये। ऐसी दशा में महान् क्षति उठाये बिना आगे बढ़ना सर्वथा असंभव हो गया। योद्धाओं की संख्या लाखों थी; और रण-भूमि में भोजन तथा युद्ध-सामग्री जुटाने के लिए समस्त सुव्यवस्थित जन-समाज उनके पृष्ठ पर उपस्थित था। रण-व्यापार के सहायक व्यवसायों के अतिरिक्त और सब प्रकार के व्यवसाय इस समय स्थगित कर दिये गये। यूरोप के समस्त सशक्त युवा पुरुष या तो स्थल अथवा जल सेनाओं में सम्मिलित हो गये या तत्कालीन नूतन-स्थापित युद्ध-सामान जुटानेवाली फ़ैक्टरियों में काम करने जा डटे। उद्योग तथा कला-कौशल के कार्यों में स्त्रियों ने पुरुषों का स्थान अधिक संख्या में ले लिया। अत्यंत विस्मयोत्पादक इस तुमुल युद्ध में भाग लेनेवाले देशों की आधी से अधिक जन-संख्या ने अपना व्यापार सर्वथा त्याग दिया। सामाजिक दृष्टि से इन मनुष्य-रूपी वृक्षों को एक प्रकार से उखाड़कर स्थानांतरित किया जा रहा था। शिक्षा और साधारण वैज्ञानिक गवेषणाएँ भी इस समय या तो परिमित हो गईं या उनसे भी युद्धोपयोगी कार्य लिया जाता था। कहाँ तक गिनावें, सामरिक-नियंत्रण और आन्दोलन-रूपी छलनी में छनने के कारण समाचार भी जब दूषित एवं पंगु होकर निकलने लगे तो फिर शेष क्या रह गया।

सैनिकों की गति जब इस प्रकार अवरुद्ध हो गई तो युद्ध में भाग लेनेवाले रणस्थल के पृष्ठवर्ती जनसमाज पर ऐसे आक्रमण प्रारंभ हुए कि उनकी सामग्री विध्वंस कर दी गई और वायुयान द्वारा उन पर धावे बोले गये। तोपों के परिमाण एवं बाढ़ में वृद्धि की गई; विषैली वायु-उत्पादक गोले, तथा टैंक नामधारी गतिशील गढ़ इत्यादि विचक्षण

साधनों द्वारा खाइयों में बैठे हुए योद्धाओं की शत्रु-आक्रमण-प्रतिरोधक शक्ति नष्ट की जा रही थी। परंतु इन सब नये साधनों में वायु द्वारा आक्रमण अत्यंत क्रांतिकारी था। इसी के कारण दो के बजाय अब तीन दिशाओं से युद्ध होने लगा। मनुष्यों के इतिहास में अब तक युद्धप्रवृत्त सैनिकों के मध्य संघर्ष होने पर युद्ध होता था, परंतु अब उसके प्रतिकूल वह सर्वत्र होने लगा। पहले तो ज़ैपलीनों और तत्पश्चात् उड़ाक् मशीनों के युद्ध द्वारा गोला बरसाने का क्षेत्र, रणसैनिकों की सीमा लाँघकर, पौरीय जनसमाज तक विस्तृत होता गया। योद्धाओं और पौरीय जनता का वह प्राचीन भेद-विवेचन—जिसको आज तक समस्त युद्धों में स्वीकृत किया गया था—अब संपूर्णतया लुप्त हो गया। इस समय तो समस्त अनाज उत्पन्न करनेवाले, कपड़ा सीनेवाले, पेड़ काटनेवाले, मकान की मरम्मत करनेवाले, रेलवे-स्टेशन और गोदाम—सभी, विनाश के योग्य सामग्री समझी जाती थीं। जैसे-जैसे युद्ध का समय खिंच रहा था तैसे-तैसे इन हवाई आक्रमणों का क्षेत्र और तज्जनित त्रास अधिक होता जाता था। अंत में यूरोप का एक बहुत बड़ा भाग सेना द्वारा अवरुद्ध जैसा हो गया और वहाँ रात्रि-आक्रमण भी होने लगे। लंदन और पेरिस जैसे खुले (अरक्षित) नगरों में तो बंब फटने और उड़ाकू-मशीन-विध्वंसक बंदूकों का असह्य घोर नाद, शून्य एवं अंधकारमय सड़कों पर अग्नि शांत करनेवाले एंजिन तथा घायलों की सेवा-शुश्रूषा करनेवाली गाड़ियों की खड़खड़ाहट के कारण रातों नींद न आती थी। बुड्ढों और बालकों के मन और शरीर पर इनका क्लेश एवं क्षयकारी प्रभाव पड़ता था।

युद्ध की उस चिरानुगामिनी महामारी का आगमन समर-समाप्ति तक न हुआ (१९१८)। इन चार वर्षों तक आयुर्वेद-शास्त्र द्वारा संक्रामक रोगों के सर्वव्यापी होने की रोक-थाम होती रही। परंतु तदुपरांत समस्त संसार में ऐसा भयानक 'इनफ्लुएंज़ा' फैला कि लाखों मनुष्य कराल काल के गाल में समा गये। इसी प्रकार दुर्भिक्ष भी कुछ काल तक रोका गया। पर सन् १९१८ का प्रारंभ होते न होते यूरोप का बहुत सा भाग उसके चंगुल में फँस गया था, परंतु वह नियमित एवं नियंत्रित दशा में रहा। किसानों के युद्धक्षेत्र में चले जाने के कारण संसार में एक तो अनाज की उपज वैसे ही कम हो गई थी; फिर उस पर "सब-मैरीन" नामक पनडुब्बी जहाज़ों द्वारा उत्पन्न बाधाओं तथा विविध राज्य-सीमाओं के बंद हो जाने और संसार के आवागमन-संबंधी साधनों के अव्यवस्थित हो जाने के कारण जो कुछ अनाज पैदा होता था उसके वितरण करने में और भी अधिक विघ्न उपस्थित होते थे। दिन प्रतिदिन घटनेवाली इस उपज को विविध राज्य अपने अधिकार में ले, अपनी प्रजा में न्यूनाधिक सफलता से बाँट देते थे। चतुर्थ वर्ष प्रारंभ होते ही समस्त संसार वस्त्र, वासस्थान और भोजन तथा अन्य जीवन-सामग्रियों की

न्यूनता के कारण कष्ट भोगने लगा। व्यापार और आर्थिक जीवन दोनों ही इस समय बुरी तरह अव्यवस्थित हो गये थे। क्लेश तो प्रत्येक प्राणी को था, परंतु बहुत से मनुष्य इस समय असाधारण कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहे थे।

वास्तविक युद्ध का अंत नवंबर सन् १९१८ में हुआ। परंतु सन् १९१८ की वसंत ऋतु में, प्रयत्न करने पर, जर्मन लोग प्रायः पेरिस नगर तक पहुँच गये थे। लेकिन इसके पश्चात् ही मध्य (यूरोपीय) शक्तियों का पतन हो गया। उनकी शक्ति और साधन दोनों ही उस समय सर्वथा मृत हो चुके थे।

---

(६६)

रूस का नवीन शासन-विधान

बैज़एटाइन सम्राटों की संतान कहलानेवाले रूस के अर्धपूर्वीय शासकों का पतन मध्य-(यूरोपीय) शक्तियों के पतन से प्रायः एक वर्ष से कुछ अधिक समय पहले ही हो गया था। ज़ारशाही में, युद्ध से कुछ वर्ष पूर्व ही, घोर निःसत्त्वता के लक्षण उत्पन्न होने लगे थे; वहाँ का राज-दरबार रासपुटिन नामक एक अत्यंत विलक्षण धूर्त्त धर्मध्वजी के हाथ में कठपुतली के समान नाच रहा था। और मुल्की तथा जंगी दोनों प्रकार की शासन-व्यवस्थाएँ अत्यंत अव्यवस्थित एवं दूषित दशा में थीं। युद्ध आरंभ होते ही रूस में देश-प्रेम और उत्साह के स्रोत उमड़ पड़े। फ़ौज में नाम लिखाना अनिवार्य हो जाने का हुक्म निकलते ही सैन्यदल तो बहुत से तैयार हो गये, परंतु उनके लिए पर्याप्त सामरिक सामग्री न थी और न योग्य अफ़सरों की योजना थी। यह बृहत् साधन-हीन सेना असम्यक् रूप से संचालित कर जर्मन एवं आस्ट्रियन सीमाओं की ओर, उसी दशा में, लोष्ठवत् सहसा फेंक दी गई।

इसमें तनिक सन्देह नहीं कि सितंबर १९१४ में रूसी सैन्य के इस प्रकार पूर्वी प्रुशिया में आ जाने के कारण सर्वप्रथम पेरिस विजय प्रस्थान से जर्मन लोगों का ध्यान और शक्ति बँट गई। इन सहस्रों अव्यवस्थित रूसी किसानों की व्यथा और मृत्यु ने ही उस अत्यंत सवेग प्रारंभिक आक्रमण से फ्रांस को सर्वनाश से बचा लिया और समस्त पश्चिमीय यूरोप को मृत्यु-आलिंगन करनेवाली इस महान् जाति का अत्यंत ऋणी बना दिया। परंतु पशुतुल्य पैर फैलाये यह अव्यवस्थित रूस-साम्राज्य युद्ध का बोझ न सँभाल सका। साधारण रूसी सैनिक युद्ध करने के लिए तो भेज दिये गये परंतु उनकी सहायता करने के लिए तोपें न थीं; राइफ़लों के लिए छर्रा और गोली-बारूद तक मयस्सर न हुईं। जेनरल तथा अफ़सरों ने सैनिकोन्माद-वश, उनको योंही कराल काल के गाल में डाल दिया। कुछ काल तक तो बेचारे रूसी सैनिक पशुवत् चुपचाप कष्ट सहन करते रहे, परंतु ज्ञानहीन पुरुष

दृढ़ता थी और रूस के जन-साधारण ने इन कठिनाइयों को ऐसी हीन दशा होते हुए भी अविचल भाव से सहन कर लिया। सन् १९२१ के अंत में इटैली और इँगलैंड ने कम्यूनिस्ट शासन-सत्ता को एक प्रकार से स्वीकार कर लिया था।

यद्यपि बोलशेविक गवर्नमेंट को विदेशी बाधकों के निवारण और स्वदेश में विद्रोहियों के दमन करने में कम कठिनाई नहीं हुई तो भी, कम्यूनिस्ट विचारों के आधार पर, रूस में नवीन सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न उससे कहीं अधिक दुस्तर सिद्ध हुआ। रूस का किसान धरती का भूखा छोटा सा ज़मींदार है। उसके मस्तिष्क और कार्यप्रणाली में कम्यूनिस्ट भावों का अस्तित्व, ह्वेल मछली की उड़न-शक्ति के सदृश, असंभव है। क्रांति ने बड़े-बड़े ज़मींदारों की धरती तो उनको दिला दी परंतु विनिमयशील मुद्रा (Negotiable money) के बिना खेतों में अनाज कैसे उत्पन्न होता; क्योंकि क्रांति के अन्य प्रभावों के साथ एक यह बात भी हुई कि मुद्रा का मूल्य बहुत कम हो गया था। युद्ध-भार के कारण रेल-पथों का विनाश हो जाने पर एक तो अनाज की उपज में वैसे ही अव्यवस्था हो रही थी, परंतु अब उसकी सीमा इतनी संकुचित हो गई कि वह केवल किसानों के भोजन मात्र के लिए पर्याप्त था। फल यह हुआ कि नगर भूखों मरने लगे। कम्यूनिस्ट सिद्धांतों के आधार पर किये हुए, यंत्रों द्वारा अधिक उत्पादन के—व्यवस्था एवं विचार से शून्य—प्रयत्न भी सर्वथा असफल रहे। सन् १९२० के बीतते न बीतते रूस में आधुनिक सभ्यता के सर्वथा अधःपतन का भी अपूर्व दृश्य दृष्टिगोचर हुआ। उस समय वहाँ रेल-पथों पर उनके व्यवहार न किये जाने के कारण ज़ंग लग रहा था; नगर उजाड़ थे और मृत्यु-संख्या सर्वत्र अत्यन्त अधिक थी, परंतु तो भी यह देश द्वार पर खड़े हुए शत्रुओं से भिड़ रहा था। सन् १९२१ में युद्ध द्वारा विनष्ट हुए दक्षिण-पूर्वीय प्रान्तों के किसान सूखे—अनावृष्टि—के कारण अकाल-दुर्भिक्ष के चंगुल में फँस गये और फलतः वहाँ लाखों मनुष्य भूखों मर गये।

ऐसी कठिन परिस्थिति में पुनर्निर्माण की गति धीमी करनी निश्चित की गई तथा एक नवीन आर्थिक नीति को अंगीकार किया गया, और वैयक्तिक अधिकार (Ownership) सम्बंधी स्वतंत्रता एवं उद्योग का बहुत अंशों में पुनः प्रतिपादन किया गया। इस प्रकार, उत्पादक उद्योगों में उन्नति होने लगी। रूस, उस समय निर्माणक साम्यवाद (Constructive Socialism) के प्रवाह से पृथक् हुआ सा प्रतीत होता था और वहाँ की परिस्थिति भी वैसी ही हो रही थी जैसी कि अमेरिका के संयुक्त-राज्यों की, एक शताब्दी पहले, थी। अमेरिका के क्षुद्र क्षेत्रपतियों के सदृश रूस में भी 'कुलक' कहे जानेवाले सम्पन्न कृषकों का एक नवीन वर्ग उत्पन्न हो गया। छोटे स्वतंत्र व्यवसायियों की संख्या बढ़

ये बोलशेविक साम्यवादी वाग्मी वैधवादियों तथा कैरेन्स्की के अनुयायी क्रांति-।रियों से किस प्रकार सर्वथा भिन्न थे, यह भी शीघ्रतया प्रत्यक्ष हो गया। ये उन्मत्त मष्टिवादी (Communists) मार्क्स के कट्टर अनुयायी थे। इनकी यह धारणा थी । रूस में इस प्रकार का शक्ति-लाभ संसारव्यापी सामाजिक क्रांति का श्रीगणेश है। । सर्वथा अनुभवहीन पुरुषों ने, पूर्ण विश्वास के साथ, रूस की सामाजिक एवं आर्थिक ।वस्था में सर्वांग परिवर्तन प्रारंभ कर दिया। पश्चिमीय एवं अमेरिकन गवर्नमेंटों को त असाधारण प्रयोग का मिथ्या ज्ञान था और वे पथ प्रदर्शन एवं सहायता प्रदान करने सर्वथा अयोग्य थीं। प्रेस ने इन राज्यापहारियों पर दूषण लगा तद्देशीय शासक-वर्गों को न प्रकार उकसाना प्रारंभ किया कि वे, अपनी अथवा रूस की कितनी ही हानि होने पर , जैसे बने तैसे उनका सत्यानाश कर दें। संसार के समाचारपत्रों ने स्वच्छन्दता-पूर्वक नगढ़न्त घृणित एवं दूषित बातें इनके विरुद्ध लिखनी प्रारंभ कर दीं और बोलशेविक नाओं को ऐसा अविश्वसनीय दानव, रुधिर का प्यासा, लुटेरा और कामुक प्रदर्शित किया उनके सामने रासपुटिन के समय की ज़ार-कुलीय वास्तविक वार्ताएँ तक पवित्र प्रतीत ने लगीं। बोलशेविक शासन से डरे हुए शत्रुओं की दशा ऐसी हो गई थी कि इस थिल देश के विरुद्ध आक्रमण-सैन्य भेजी गई, बलवाइयों और लुटेरों को उकसाया तथा शास्त्र से सुसज्जित किया गया और धन की सहायता भी दी गई। कोई गर्हित या मानुषीय कृत्य ऐसा न था, जिसका बोलशेविक शासन से डरे हुए शत्रुओं ने उपयोग किया हो।

पाँच वर्ष तक घोर युद्ध करने के कारण शिथिल हुए देश पर शासन करनेवाली सी बोलशेविक गवर्नमेंट सन् १९१९ में ब्रिटिश सैन्य से आरचेंगल में, जापानी आक्रमण-रियों से पूर्वीय साइबीरिया में, फ्रेंच और ग्रीक सैन्यसंयुक्त रूमानिया के निवासियों से क्षिण में और पुरानी रूसी सरकार के नावाध्यक्ष कोलचक से साइबीरिया में तथा फ्रेंच ग्रेज़ी बेड़े द्वारा सहायता प्राप्त करनेवाले जनरल डैनकिन से क्रीमिया में युद्ध कर रही । इसी वर्ष जुलाई मास में इस्थोनिया की सेना लेकर जनरल यूडेनिच भी प्रायः पीटर्स-र्ग तक पहुँच गये। अंत में फ्रांसीसियों द्वारा उकसाये जाने पर पोलैंड-वासियों ने भी न् १९२० में रूस पर एक नया आक्रमण कर दिया और जनरल डैनकिन के समान प्रति-त की इच्छा रखनेवाले जनरल रैंगल नामक एक नवीन आक्रमणकारी ने अपने ही देश उजाड़ा। मार्च सन् १९२१ में क्रौनस्टैड्ट (Cronstadt) नामक स्थान के नाविकों भी विद्रोह कर दिया। परंतु इन समस्त विविध आक्रमणों को सहन करने के उपरांत सभापति लेनिन की अध्यक्षता में रूसी शासन-सत्ता जीती रही। यह उसकी अपूर्व

मार्गों से रीगा पर दृढ़तापूर्वक आक्रमण किया तो बाल्टिक समुद्र में सहायता के लिए कुमक भेजने की संभावना से ही ब्रिटिश नौ-सैन्य विभाग तक का हृदय दहल गया। और नवीन रूसी प्रजातंत्र के। असहायावस्था में ही, विवश हो युद्ध करना पड़ा। यह बात विचारणीय है कि नौ-विभाग में प्रभुत्व होते हुए और ब्रिटिश-नावाध्यक्ष लार्ड फ़िशर (१८४१-१९२०) के उपालंभ देने पर भी ब्रिटिश तथा अन्य मित्र राज्यों ने पनडुब्बी जहाज़ों के कतिपय आक्रमणों के अतिरिक्त बाल्टिक समुद्र को, समस्त युद्ध-काल में, जर्मनी के हाथ में सर्वथा छोड़ दिया था।

रूसी जन-समाज ने, जैसे बने तैसे, लड़ाई का अंत करने का ही दृढ़ निश्चय कर लिया था। इस समय पेट्रोग्रेड में मज़दूरों और साधारण सैनिकों की सोवियट नामक एक प्रतिनिधि-संस्था स्थापित हो गई थी; जो स्टॉकहॉल्म में साम्यवादियों की अंतर राष्ट्रीय कॉन्फ्रेंस करने के लिए आन्दोलन कर रही थी। इस समय बर्लिन में भी रोटी के लिए बलवे हो रहे थे। जर्मनी और ऑस्ट्रिया दोनों ही देश अब युद्ध से थक गये थे। पश्चात्-कालीन घटनाओं से पता चलता है कि इस कॉन्फ्रेंस के होते ही जर्मनी में भी शीघ्रतया, सन् १९१७ में, क्रांति तथा प्रजापक्षानुकूल संधि हो सकती थी। परन्तु कैरेन्स्की के अत्यन्त अनुनय-विनय करने एवं क्षुद्र-संख्यक ब्रिटिश मज़दूर-दल की सहानुभूति होते हुए भी—समस्त संसार में साम्यवाद और प्रजासत्तात्मक राज्य फैल जाने के भय से—पश्चिमीय मित्र-राज्यों ने अपना हठ न छोड़ा और कॉन्फ्रेंस न होने दी। मित्र-राज्यों से वास्तविक अथवा नैतिक सहायता न मिलने पर भी उदार दल के मन्दभाग्य रूसी प्रजा-सत्तात्मकवादी शत्रुओं का सामना करते रहे और जुलाई मास में उन्होंने एक अंतिम घोर आक्रमण भी कर डाला। प्रारंभिक विजय प्राप्त होने के अनंतर यह असफल हो गया, और एक बार फिर रूसियों का घोर रूप से संहार हुआ।

रूसियों की सहनशीलता की चरम सीमा आ चुकी थी। अब वहाँ स्थान-स्थान पर, और विशेषतया उत्तरीय रणक्षेत्र में, विद्रोह प्रारंभ हो गये। अंत में ७ नवम्बर सन् १९१७ को 'सोवियट्स' ने कैरेन्स्की का शासन-विधान सर्वथा पलट दिया और समस्त राज्य-शक्ति तथा अधिकार स्वयं अपहरण कर लिये। सोवियट (संस्था) में, लेनिन नामक व्यक्ति के नेतृत्व में, बोलशेविक पंथानुयायी साम्यवादियों का प्रभुत्व था और इन्होंने पश्चिमीय राज्यों की तनिक भी परवा न कर शांति-स्थापन का दृढ़ निश्चय कर लिया। तदनंतर २ मार्च सन् १९१८ को, ब्रेस्ट-लिटोवस्क (Brest-Litovsk) नामक स्थान में, रूस और जर्मनी की पृथक् संधि सी हो गई।

सहन-शक्ति की भी तो एक सीमा है। अंत में, ठगी जाकर, इस भाँति नष्ट हुई सेनाओं हृदयों में ज़ारशाही के प्रति धीरे-धीरे घृणा के अंकुर प्रस्फुटित होने लगे। सन् १९१५ अंत तक पश्चिमीय मित्र-राज्य भी रूस की ओर से अधिकाधिक चिंतित होने लगे थे; तु यह देश संपूर्ण सन् १९१६ तक शत्रु-आक्रमणों को प्रायः रोकता ही रहा और उसी ाय यह अपवाद फैला था कि वह जर्मनी से पृथक् संधि किया चाहता है।

२९ दिसंबर सन् १९१६ को पैट्रोग्रेड में होनेवाले भोज में मठाधिवासी रासपुटिन की ा की गई और ज़ारशाही को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न भी उसी समय किया गया, तु इसका उपयुक्त समय कभी का बीत चुका था। मार्च होते न होते परिस्थितियाँ यंत वेग से बदल गईं। भोजन-प्राप्ति के लिए किये गये बलवों ने पेट्रोग्रेड में क्रांतिकारी ्लव का रूप धारण कर लिया। ड्यूमा नामक प्रतिनिधि सभा को दबाने एवं उदार ा के नेताओं को क़ैद करने के प्रयत्न किये गये। अंत में (१५ मार्च को) राजकुमार ाफ़ (Lvoff) की अध्यक्षता में एक अस्थायी गवर्नमेंट भी स्थापित कर दी गई र ज़ार ने राजसिंहासन त्याग दिया। कुछ काल तक ऐसा प्रतीत होता था कि संभव- ा नवीन ज़ार के शासन-काल में यह राज्यक्रांति साधारण एवं नियंत्रित रूप में रहेगी परंतु त शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि जनसाधारण का विश्वास सर्वथा उठ जाने के कारण ा सब समाधान अब रूस में असंभव थे। यूरोपीय प्राचीन वस्तु-स्थिति (परिपाटी), रशाही, युद्ध और महाशक्तियाँ इस समय रूस को काल के सदृश दुःखदायी प्रतीत होती । इन दारुण व्यथाओं से वह अब केवल अत्यन्त शीघ्रतया छुटकारा चाहता था। त्र-राज्यों में रूस की तत्कालीन वास्तविक दशा को समझने की क्षमता न थी। वे र्थात् मित्र-राज्य) और उनके राजनीतिज्ञ देश के जनसाधारण से अनभिज्ञ थे; उनका ध्यान जकुल की ओर केन्द्रित था, न कि देश की ओर। यही कारण था कि इस नवीन परिस्थिति वे निरंतर भारी भूलें करते रहे। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्रवाद भी उनकी रुचि के अनु- ल न था, अतएव उन्होंने नवीन रूसी राज्य-शासन में—प्रकाश्य रूप से—यथासंभव ड़े अटकाना ही अच्छा समझा। इस समय कैरेन्स्की नामक एक विचक्षण और ग्मी पुरुष रूसी प्रजातन्त्र का सर्वोच्च नेता था। इसने देखा कि देश के भीतर तो एक हान् क्रांति—सामाजिक क्रांति—का आक्रमण हो रहा है और बाहर मित्र-राज्य उदासीनता ा भाव धारण कर रहे हैं। मित्र-राज्य कैरेन्स्की को देश के भीतर तो लालायित सानों को धरती देने से रोकते थे, और सीमांत-राज्यों के साथ शांति-स्थापना में बाधक थे। ेंच तथा ब्रिटिश प्रेस (Press) अख़बार इस बेचारे थके हुए मित्र-राज्य को पुनः ाक्रमण करने के लिए पीड़ित करते थे। परन्तु जब जर्मनी ने जल तथा स्थल, दोनों

गई। परन्तु समष्टिवादीय वर्ग (Communists) अपने ध्येय से इस प्रकार विचलित हो रूस को १०० वर्ष पहले के अमेरिका का पथानुगामी बनाना न चाहता था। समष्टि-वादीय उन्नति के पथ पर देश को फिर लौटाकर लाने का, सन् १९२८ में, वहाँ अत्यंत प्रबल उद्योग प्रारंभ हुआ। राज्य-चालित व्यवसायों (State Industrialism) और विशेषकर जनता के प्रधान खाद्य पदार्थों का उत्पादन करने के लिए एक पञ्चवर्षीय योजना बनाई गई, परन्तु इस बात पर विशेष ध्यान रखा गया कि कृषकों के वैयक्तिक उत्पादन के स्थान में सांघिक रूप से (Collectively) बड़े पैमाने पर यह खेती का काम संपादन किया जाय। इस योजना को कार्यरूप में परिणत करते समय असंख्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। निरक्षरता, जनसाधारण की पिछड़ी दशा, व्यवसाय-विशेषज्ञों तथा मुख्य कार्यकर्त्ताओं का अभाव और पाश्चात्य जनता के सहयोग का न केवल अभाव वरन् विद्वेष—मुख्य अड़चनें थीं। परन्तु इतने पर भी औद्योगिक क्षेत्र में उनको काफ़ी सफलता प्राप्त हुई; अपव्यय और अनुपात-हीनता के होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तव में उनके कार्य की सिद्धि नहीं हुई। हाँ, कृषि-संबंधी उत्पादक क्रियाओं पर इन शीघ्र एवं साहसिक परिवर्त्तनों का वैसा सफल प्रभाव न हुआ, और सन् १९३३-३४ के जाड़ों में रूस में फिर खाद्य पदार्थों की बड़ी कमी पड़ गई।

शेष संसार ने, जो इस समय भी वैयक्तिक लाभ-संबंधी पूँजीवाद के परीक्षणों के फेर में पड़ा हुआ था, रूस के इन प्रयोगों पर अविश्वास एवं सम्मान-मिश्रित कौतूहल से दृष्टिपात किया। प्राचीन पद्ध[illegible]क काम नहीं दे रही थी; उसने क्रय-शक्ति को जन-संख्या के अर्ध भाग तक ही [illegible]त कर दिया था और इसी कारण उसके आनुक्रमिक वेग का क्षय होता जा रहा [illegible] फलतः उसमें आत्म-संतोष का अभाव था। 'योजना' का भाव अब समस्त [illegible] में फैल गया; जैसे-जैसे आर्थिक कठिनाइयाँ—जिनका हम अगले अध्याय में [illegible]करेंगे—बढ़ती गईं, तैसे-तैसे योजनाओं की भी वृद्धि होने लगी। और सन् १९३३ [illegible] बीतते न बीतते कोई भी ऐसा स्वाभिमानी राजनीतिज्ञ न था जिसकी अपनी योजना न हो। कम से कम इतनी भक्ति तो संसार ने रूस के प्रति प्रदर्शित की।

(६७)

राजनैतिक और सामाजिक संसार का पुनर्निर्माण

इस सीमित इतिहास के लिखने में जो हमारा उद्देश्य था उसके अनुसार हम संधि-विषयक कटु एवं दुरूह वाद-विवादों और मुख्यतया महायुद्ध के अंत में होनेवाली 'वर्साई' की संधि का वर्णन करने में अशक्य हैं। हम अब यह समझने लगे हैं कि इस महाभयंकर युद्ध द्वारा भी न तो किसी (कठिनाई) का अंत हुआ, न किसी लाभदायक वस्तु का प्रादुर्भाव और न कोई समस्या ही सुलझ सकी। वरन् लाखों मनुष्यों का संहार हो गया और संसार प्राय: शक्तिहीन एवं नष्ट-भ्रष्ट हो गया। रूस तो चकनाचूर ही हो गया। सहानुभूति-रहित भयावह संसार में बिना किसी व्यवस्था एवं पद्धति के पड़ी हुई मूर्ख मानव-जाति के लिए युद्ध ने, कम से कम, तीव्र एवं उद्वेगजनक चेतावनी का काम दिया। बरबस मानव-समाज में दु:खान्त नाटक रचानेवाले असंस्कृत आत्माभिमान एवं जातीय तथा राष्ट्रीय लिप्साएँ, युद्ध के पश्चात्, थोड़ी सी भी शिथिल न हुई—जैसी की तैसी बनी हैं—और युद्ध की थकावट एवं क्षति पूर्ण होते ही इनके कारण अन्य ऐसी ही आपदाओं का आना भी बहुत संभव है। युद्ध और विप्लव वास्तव में व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं। मानव-समाज के लिए इनका अधिक से अधिक उपकार यही है कि ये शिथिल एवं बाधक वस्तु-स्थितियों का अत्यन्त बर्बर एवं कष्टप्रद रीति से विनाश कर देते हैं। इस महायुद्ध द्वारा यूरोप से कैसरशाही का भय सदा के लिए चला गया, रूसी ज़ारशाही खंड-खंड हो विनष्ट हो गई तथा और भी अन्य बहुत से अनियंत्रित राज्यों का अंत हो गया। परन्तु इससे क्या होता है ? यूरोप में अब भी बहुत सी राज-पताकाएँ फहरा रही हैं; क्रोधोद्दीपक राज-सीमाएँ वैसी ही बनी हुई हैं और बड़ी-बड़ी सेनाएँ भी पूर्ववत् शीघ्रता से युद्ध-सामग्री एकत्र करने में तत्पर हैं।

'वर्साई' की संधि-कान्फ्रेंस का जमाव महायुद्ध-जनित विरोध एवं पराजय को तार्किक पराकाष्ठा तक पहुँचाने के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य के लिए सर्वथा अयुक्त था।

जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की और बलगेरिया के निवासियों को इसमें विचार-विमर्श करने का अधिकार नहीं दिया गया; कॉन्फ्रेंस के आदेशों को स्वीकार करना ही उनका कर्त्तव्य था। मानव-जाति के कल्याण की दृष्टि से संधि-कॉन्फ्रेंस का स्थान तो विशेषतया अशुभ था। यह वही वर्साई नगर था जहाँ सन् १८७१ में, प्रत्येक असभ्य प्रदर्शन द्वारा, नवीन जर्मन-साम्राज्य की विजय-घोषणा की गई थी। उसी शीशमहल में अब पूर्व दृश्य के परावर्त्तित अभिनय के पुनः प्रदर्शन करने का प्रस्ताव अत्यंत ही ग्लानिजनक था।

महायुद्ध के प्रारंभ में जो थोड़ी बहुत उदारता दिखाई देती थी वह भी कभी की निःशेष हो चुकी थी। विजयी देशों की जनता को तो केवल अपनी ही कष्ट-कथा और हानि का दुःस्मरण था; उनके ध्यान में यह कभी न आया कि विजित देशों की दशा भी उन्हीं के समान थी। जातीयता की प्रतिस्पर्धा का अस्तित्व और उनका सामञ्जस्य करनेवाली सांघिक व्यवस्था के सर्वथा अभाव के कारण यह युद्ध तो यूरोप में नैसर्गिकतया अवश्यम्भावी था। बहुत छोटे भू-भागों पर शासन करनेवाली, अत्यन्त प्रबल सैन्य-सम्पन्न स्वतन्त्र जातियों के अस्तित्व का नैसर्गिक परिणाम है—युद्ध। और यह महायुद्ध यदि इस रूप से न भी छिड़ता तो किसी अन्य ऐसे ही रूप से अवश्य ही हो जाता और, भविष्य में, किसी राजनैतिक ऐक्य द्वारा यदि इसको पहले से न रोका गया तो बीस अथवा तीस वर्ष उपरांत यह और भी अधिक भीषण एवं संहारक रूप में प्रकट होगा। युद्ध के लिए सुसज्जित देशों का लड़ाई में भाग लेना ऐसा ही स्वाभाविक है जैसा मुर्गियों के लिए अंडे देना। परन्तु व्यथित एवं श्रांत देशों ने इसको सर्वथा हृदय से भुला दिया, और विजित जातियों के साथ ऐसा बर्ताव किया गया, मानों विजेताओं की समस्त क्षतियों के नैतिक एवं भौतिक रूप से वे ही ज़िम्मेदार हैं। युद्ध का परिणाम भिन्न होने पर ये विजित जातियाँ भी इन विजेताओं के साथ ऐसा ही बर्ताव करतीं। फ्रांसीसियों और अँगरेज़ों के विचार में जर्मन दोषी थे; और जर्मनी की दृष्टि में रूसी, फ्रेंच तथा ब्रिटिश दोषी थे। परन्तु यह बात तो केवल अल्पसंख्यक बुद्धिमानों के विचार में थी कि इन समस्त दोषों की ज़िम्मेदार थी यूरोपीय खंड-राज्य-व्यवस्था। प्रतीकार-परायणता का आदर्श स्थापित करना ही वर्साई-संधि का उद्देश्य था। इसके द्वारा विजितों को घोर रूप से दंडित किया गया; घायल एवं व्यथित विजेताओं ने विजित जातियों पर—जिनकी दशा उस समय दिवलियों के समान हो रही थी—भयंकर ऋण का भार लाद दिया।

युद्ध रोकने के लिए जो अंतर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करने के प्रयत्न जाति-संघ (League of Nations) द्वारा किये गये वे प्रकाश्य रूप से सर्वथा अपर्याप्त एवं कृत्रिम थे।

जहाँ तक यूरोप का संबंध था वहाँ तक तो अंतर्राष्ट्रीय व्यवहारों में स्थायी शांति स्थापित करने के प्रश्नों का उठना भी संशय से खाली न था। अंतर्राष्ट्रीय संघ स्थापित करने का प्रस्ताव व्यावहारिक राजनीति की सीमा में अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के सभापति विल्सन के कारण आया था और उसी देश में इसका मुख्य समर्थन भी था। परंतु इस संयुक्त राष्ट्र में, जिसका कुछ काल पूर्व ही निर्माण हुआ था, अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार-विषयक अन्य धारणाएँ तनिक भी परिपक्व न हुई थीं। वहाँ तो केवल एक मुनरो-सिद्धांत ही की सृष्टि हुई थी जिसके द्वारा नवीन संसार यूरोपीय हस्तक्षेप से बच गया। ऐसी कच्ची दशा में बृहत् सामयिक समस्याओं के सुलझाने एवं उनमें मानसिक योग देने का भार भी सहसा उस पर आ पड़ा और वहाँ इसके उपयुक्त कुछ भी सामग्री न थी। अमेरिका-निवासियों की प्रवृत्तियाँ स्वभावतः संसार में स्थायी शांति स्थापित करने की ओर थीं परंतु इसके साथ ही साथ प्राचीन संसार की राजनीति और वहाँ के झगड़े-टंटों से पृथक् रहने की प्रबल भावनाएँ भी—परंपरागत अविश्वास के कारण—उनके हृदयों में भरी हुई थीं। सांसारिक समस्याओं के सुलझाने का उपाय अमेरिका अभी सोच ही रहा था कि जर्मन पनडुब्बियों के आक्रमणों के कारण उसको जर्मन-विरोधी मित्र-राष्ट्रों के युद्ध में, विवश हो, सम्मिलित होना पड़ा। सभापति विल्सन की अंतर्राष्ट्रीय-संघ-स्थापना की व्यवस्था भी वास्तव में एक प्रयत्न था, जो अमेरिका के दृष्टिकोण से तैयार किया गया था और जिस पर विचार करने के लिए भी बहुत थोड़ा समय मिला था। यह व्यवस्था अपर्याप्त, अपूर्ण एवं आपत्तिजनक थी, परंतु यूरोप-निवासी इसको अमेरिका का परिपक्व मत समझ बैठे। सन् १९१८-१९ में, युद्ध द्वारा घोर रूप से क्लांत हुई, प्रायः समस्त मानव-जाति तो भविष्य में युद्ध की रोक करने के लिए असीम त्याग करने के लिए उतारू थी; परंतु प्राचीन संसार की एक भी शासन-सत्ता इस ध्येय की प्राप्ति के लिए, अपनी राज-स्वतंत्रता को अणुमात्र भी न्यून करना न चाहती थी। अखिल सांसारिक अंतर्राष्ट्रीय-संघ-व्यवस्था-संबंधी, सभापति के सार्वजनिक भाषण कुछ काल तक तो शासन-सत्ताओं की अवहेलना कर समस्त जातियों के हृदयों में पहुँचते रहे। और अमेरिका के परिपक्व विचार अनुमान कर लोगों ने उनसे पूर्ण सहानुभूति भी प्रकट की। परंतु दुर्भाग्यवश सभापति को काम पड़ा शासकों से, न कि शासितों से। दूर दृष्टि रखनेवाला यह महापुरुष व्यवहार-क्षेत्र की कसौटी पर कसने पर बड़ा ही संकीर्ण-हृदयी एवं अभिमानी सिद्ध हुआ और इसकी आन्दोलित की हुई यह उत्तुंग आवेश-तरंग यों ही व्यर्थ विलीन हो गई।

डा० डिलन अपनी पीस कॉन्फ्रेंस नामक पुस्तक में लिखते हैं कि सभापति विल्सन के समुद्र-तट पर पदार्पण करते समय यूरोप की दशा कुम्भकार के हाथ में रखी हुई मिट्टी

के सदृश थी। निर्दिष्ट स्थान की ओर ले जानेवाले हज़रत मूसा के समान पथ-प्रदर्शकों का अनुसरण करने के लिए भी मानव-जाति कभी ऐसी उत्सुक न थी जैसी कि इस समय युद्ध-विवर्जित एवं परिवेष्टन-शून्य जगत् की ओर ले जानेवाले सभापति विल्सन के पीछे चलने के लिए उत्साह से तैयार थी। जन-समाज की धारणा भी यही थी कि वे इस कार्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त एवं महान् नेता थे। फ्रांस की जनता, प्रेम और आदर के भावों से ओतप्रोत हो, उनके सम्मुख नत-मस्तक हो गई। पेरिस नगरी के मज़दूर नेताओं ने मुझसे कहा कि सभापति महोदय के सम्मुख हर्षातिरेक से "हमारी अश्रुधाराएँ बह चली थीं और उनकी श्रेष्ठ योजनाओं की पूर्ति के लिए 'हमारे' अनुयायी आग में कूदने और पानी में धँसने के लिए भी तैयार थे। इटली के मज़दूरों के लिए उनका नाम स्वर्गीय नाद के सदृश था जिसकी ध्वनि पृथ्वी को पुनर्जीवित करने में समर्थ थी। जर्मन देशवासी भी इनको और इनके सिद्धान्तों को अपने जीवन का एकमात्र आधार मानते थे। निर्भीक हर म्यूहलोन का कथन है कि सभापति विल्सन यदि जर्मनों को सम्मुख कर अपने मुखारविंद से उनको कठिन दंडाज्ञा भी सुना देते तो उसका भी, बिना उज्र किये हुए, अधीनता से स्वीकार कर पालन किया जाता। जर्मन-आस्ट्रिया में उनकी कीर्ति उद्धारक के समान थी, और उनका नामोच्चार ही दीन-दुखियों के लिए संताप-विदारक और शोक-निवारक था।......"

सभापति के प्रति लोगों को ऐसी अतिक्रमणकारी आशाएँ लगी हुई थीं। फिर किस प्रकार उन्होंने लोगों को सर्वथा निराश किया और उनका स्थापित किया हुआ राष्ट्रीय संघ कैसा निरर्थक और निर्बल सिद्ध हुआ, इस लंबी एवं दुःखद कथा का वर्णन हम यहाँ नहीं कर सकते। स्वयं सभापति महोदय में मानव-समाज की स्वाभाविक दुःखांत कथा अत्यंत वर्धित रूप में चित्रित थी। उनके विचार-स्वप्न तो विशद थे, परंतु उनके अनुरूप कार्यक्षमता उनमें न थी। अपने प्रेसीडेंट की कृति—जातीय संघ—की, जिसे समस्त यूरोप ने ग्रहण कर लिया, स्वयं अमेरिका ने अवहेलना की। अमेरिका-वासियों को धीरे-धीरे यह अनुभव हुआ कि जिसके लिए वे क़तई तैयार न थे वही उनके सिर बरबस मढ़ा जा रहा था। इसी प्रकार यूरोपवालों ने भी यह अनुभव किया कि उस आपत्ति के लिए अमेरिका के पास कुछ सामग्री न थी। अकाल में जन्म लेने और जन्म लेते ही इस प्रकार पंगु हो जाने से यह जातीय संघ घोर प्रयत्नों द्वारा बनाये हुए अपने अव्यवहार्य सिद्धांतों और प्रकाश्य रूप से परिमित बल के कारण अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सफलतापूर्वक संगठन की राह में अब वास्तविक बाधारूप हो रहा है। यदि यह संघ स्थापित न हुआ होता तो समस्याएँ अधिक स्पष्ट होतीं। इस प्रस्ताव का शुभागमन करनेवाला अग्नि ज्वाला के समान वह समस्त

संसार-व्यापी उत्साह और समस्त संसार की शासन-सत्ताओं का नहीं वरन् मनुष्य-समाज का युद्धों को रोकने के लिए उतारू होना एक ऐसी बात है जो इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। मानव-व्यवहारों को विभाजित कर उनमें अव्यवस्था उत्पन्न करने-वाले इन अदूरदर्शी शासनों के साथ ही साथ समस्त संसार को ऐक्य-सूत्र में ग्रथित करने-वाली एक वास्तविक महान् शक्ति भी विद्यमान है, दिन-प्रतिदिन बालचन्द्र के समान वृद्धि को प्राप्त हो रही यह शक्ति अभी तक सफल प्रयोग की राह ढूँढ़ रही है। वर्साई की संधि केवल राजनैतिक संधि थी और 'लीग ऑव नेशन्स' एक राजनैतिक संस्था जिसको मानव-व्यवहारों की गाँठ-गृठ करनेवाला प्रयत्न मात्र कहना ठीक होगा। परंतु इस योजना में वर्त्तमान शासनों एवं राष्ट्र-कल्पनाओं को अविकल्प रूप से स्वीकार कर लिया गया था और यही एक भारी भूल थी जो धीरे-धीरे मानव-जाति पर प्रकट हो रही है। शासन और राष्ट्र तो अस्थायी वस्तु हैं जो मानव-आवश्यकताओं की वृद्धि एवं उनके बदलने पर परिवर्त्तित हो सकते हैं; और यही होना भी चाहिए, क्योंकि इन राष्ट्र एवं शासन-सत्ताओं की अपेक्षा ये आर्थिक शक्तियाँ कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये शक्तियाँ मानव-जगत् की स्वत्व-कल्पना (Ideas of Property) एवं चेष्टाओं पर अवलंबित हैं स्वयं जिनका प्रादुर्भाव शिक्षा द्वारा होता है। मानव-व्यापारों का रूप जनसाधारण के मस्तिष्कगत विचारक्रमों के अनुसार ही होता है; अतएव इन विचारक्रमों के अशुद्ध निरूपण एवं अयथार्थ बोध को जड़ से उखाड़ देना ही सामाजिक एवं आर्थिक कष्टों के दूर करने का जीता-जागता इलाज है। सन् १९१८ से १९३३ तक संसार ने मानव-व्यापारों के पुनः व्यवस्थित करने के लिए मंद एवं भद्दे प्रयत्नों के "कॉन्फ्रेंस-युग" में पदार्पण किया। इन वाद-विवादों में, इतिहास के विद्यार्थियों को केवल राजनैतिक एवं जातीय भाव, अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट मानव-समाज के आर्थिक एवं नैतिक सारभूत ऐक्य की ओर निश्चल रूप से उन्नति करते हुए प्रतीत होते हैं। प्रजागण, राजनैतिक तथा प्रेस (Press) एक तो वैसे ही धीरे-धीरे अनिच्छापूर्वक (वस्तु-स्थिति) समझते हैं फिर यहाँ तो इस बीच (सांसारिक) नैतिक जीवन में ऐसी क्रमहीनता, बेकारी एवं दारिद्र्य आया है कि जैसा पहले सौ वर्षों में नहीं देखा गया था। जाति की जीवन-शक्ति में शैथिल्य आ गया है, सर्वसाधारण की जीवन-रक्षा में प्रत्यावर्त्तन हो गया है। अपराधों की संख्या बढ़ गई है और राजनैतिक जीवन असाधारण रूप से अस्थिर हो गया है। इन दुर्गतियों का विस्तार-पूर्वक वर्णन हम यहाँ नहीं करेंगे।

ये सभ्यता के भावी संहार की सूचक हों या न हों, परन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि उसके संहार के चिह्न अभी तक नहीं दीखते। और अभी तक यह

अनुमान करना भी संभव नहीं है कि हमारी जाति में उस क्रमशः उन्नतिशील नैतिक ओज एवं नेतृत्व के उत्पादन की क्षमता है या नहीं जिसने मानवेतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी जैसा आह्लाद-जनक अध्याय लिखा था।

वर्त्तमान समय में मनुष्यों पर जो अननुभूतपूर्व भय, घबराहट और दुःखों की घटा छाई हुई दीखती है उसका कारण यह है कि विज्ञान ने मानव-समाज को ऐसी अपूर्व शक्तियाँ प्रदान की हैं जिनका पहले समय में उसको आभास तक न था। परन्तु निश्शंक विचारों, सायन्त स्पष्ट कथन-विधि तथा सर्वाङ्गपूर्ण सुसमीक्षित कल्पनाओं की उसी वैज्ञानिक विधि से, जिसने उसको ऐसी अद्यापि दुर्धर्ष शक्तियाँ प्रदान की हैं, इन शक्तियों के दमन करने की आशा होती है। मनुष्य ने तो अभी युवावस्था में ही पदार्पण किया है। उसकी यातनाएँ क्षीणता एवं जर्जरता-जनित नहीं हैं, अपितु अनियंत्रित एवं वर्धनशील शक्ति की द्योतक हैं। यदि हम समस्त इतिहास को एक शृङ्खलाबद्ध पद्धति अनुमान कर लें, जैसा हम इस पुस्तक में कर रहे हैं, तो हमको उत्तरोत्तर उन्नतिशील विशद दृष्टि एवं नियंत्रण के जीवन-युद्ध को मनन करने पर वर्तमानकालीन भय और आशंका का ठीक परिमाण दृष्टिगोचर होगा। मानव-समाज के ऐश्वर्य-रूपी दिवस की अभी अरुणाई की झलक भी भले प्रकार नहीं दिखाई देती। परन्तु फूलों की सुन्दरता और सूर्यास्त, तरुण पशुओं की सविलास एवं अन्यून चेष्टाएँ और सहस्रों प्राकृतिक दृश्यों की साह्लाद शोभा में इसका आभास मिलता है कि मानव-जीवन हमारे लिए क्या कुछ कर सकता है और कदाचित् आकार तथा चित्रमय कौशल में, अल्प-संख्यक महान् संगीत में और कुछ एक भव्य प्रासादों एवं आनंद-दायक उपवनों से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि भौतिक संभावनाओं के होते हुए मानव संकल्प से कैसे-कैसे कार्य करने की क्षमता है। हम स्वप्न देखते हैं, हमारी शक्ति वर्तमान काल में अनियंत्रित होते हुए भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है। क्या इसमें संदेह किया जा सकता है कि मानव समाज की अतिशयोक्ति-पूर्ण मानसिक कल्पनाएँ भी सहसा बहुत शीघ्र ही कार्य-रूप में परिणत होंगी? संसार में ऐक्य और शांति का चिरस्थायी राम-राज्य होगा और हमारे रुधिर एवं आत्मा से उत्पन्न संतानें भी चिरंजीव रहेंगी—उत्तरोत्तर विस्तृत चेष्टाओं एवं पराक्रमों के क्षेत्रों में क्षमता प्राप्त करते हुए एक ऐसे संसार में, जो हमारे किसी परिचित प्रासाद अथवा उपवन से कहीं अधिक भव्य एवं रमणीक होगा। मानव-जाति से जो कुछ भी आज तक हो सका है वह उसकी वर्तमान अवस्था की क्षुद्र विजय ही है और जो कुछ हमने इस पुस्तक में वर्णन किया है वह मानव-जाति के भावी कर्त्तव्यों की केवल प्रस्तावना मात्र है।